औपनिषद-रहस्यम्

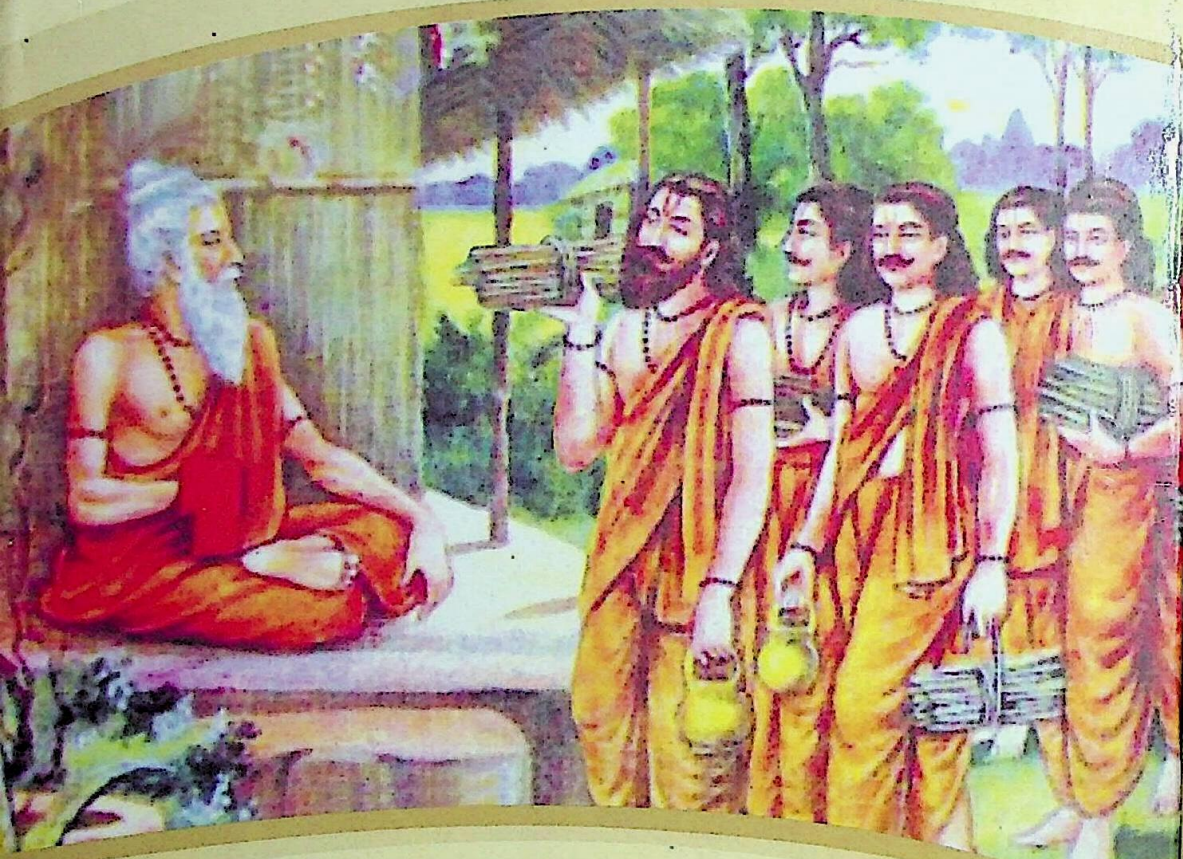

सम्पादक

● प्रो. सत्यप्रकाश दुबे ● डॉ. दिलीप कुमार नाथाणी

मानव की दो मौलिक प्रवृत्तियाँ होती हैं- १. जिजीविषा अर्थात् सन्तुलित जीवन जीने की इच्छा और २. मुमुक्षा, जिन्हें अभ्युदय तथा निःश्रेयस रूप में जाना जाता है।

इस अभ्युदय के साथ निःश्रेयंस के अधिगम का एकमात्र साधन है—प्रस्थानत्रयी। 'प्रस्थान' शब्द का अर्थ है— प्रतिष्ठते लक्ष्यं प्राप्तुं अनेन पथा इति प्रस्थानं मार्गः। वेद के ज्ञान, उपासना एवं कर्म के अन्तर्गत कर्मकाण्ड को लेकर ब्राह्मणग्रन्थों की रचना की गई और ज्ञानकाण्ड को आधार बनाकर उपनिषदों की। यहाँ ज्ञान को व्यापक परिप्रेक्ष्य में ग्रहण किया गया है, जो नैतिकता, धार्मिकता, अन्तःकरण की निर्मलता, आहार शुद्धि, तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, योग एवं प्राणायाम आदि रूप है। इन्हीं साधनों से सम्पन्न होकर समित्पाणि मनुष्य ब्रह्मवेत्ता गुरु की शरण ग्रहण करके माया-मोह के बन्धन से शनैः शनैः मुक्त हो जाता है।

प्रस्थानत्रयी के रूप में प्रतिष्ठाप्राप्त ग्रन्थ हैं— उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और भगवद्गीता। इनमें वेद के सारभूत तत्त्वों का प्रतिपादक होने से उपनिषदों का ही एक नाम वेदान्त है—वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्।

उपनिषद् विद्या सार्वभौम है अर्थात् पात्र को ध्यान में रखकर प्रत्येक देश-काल में उपदेष्टव्य है। उपनिषदों की शैली संवाद की शैली है। सभी ऋषि एक तरह से बात न करके अलग-अलग तरह से अपना विचार प्रकट करते हैं, किन्तु इस वैचारिक भिन्नता से भी संवाद ही होता है जिसमें 'वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः' के अनुसार हमें एक नई दृष्टि मिलती है।

उपनिषद् साहित्य के विविध पक्षों पर इस राष्ट्रिय सङ्गोष्ठी में जो चिन्तन हुआ है उसका सङ्कलित रूप **औपनिषद-रहस्यम्** नामक यह ग्रन्थ विद्वज्जन का कण्ठहार बनकर विश्व शान्ति के सुदृढ़ पथ को और भी प्रशस्त करने में महत्त्वपूर्ण बनेगा।

'पद्मश्री' आचार्य रमाकान्त शुक्लमहोदयानां
करकमलयोः सादरम् -

[illegible]
25.9.2013

औपनिषद-रहस्यम्

प्रधान सम्पादक

डॉ. (कुँ.) महेन्द्रसिंह नगर
महानिदेशक, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र,
मेहरानगढ़ म्यूजियम ट्रस्ट दुर्ग, जोधपुर

सम्पादक

प्रो. (डॉ.) सत्यप्रकाश दुबे
आचार्य एवम् अध्यक्ष
संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

डॉ. दिलीप कुमार नाथाणी
शोध सहायक,
महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र,
मेहरानगढ़ म्यूजियम ट्रस्ट दुर्ग, जोधपुर

प्रकाशकः

महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध-केन्द्र, जोधपुर

- प्रकाशक :

महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र

मेहरानगढ़ म्यूजियम ट्रस्ट, दुर्ग, जोधपुर

- वितरक

राजस्थानी ग्रन्थागार

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक

प्रथम मंजिल, गणेश मंदिर के पास

सोजती गेट के बाहर, जोधपुर (राज.)

फोन : 0291-2657531, 2623933 (O)

E-mail : info@rgbooks.net

Website : www.rgbook.net

- © सर्वाधिकार सुरक्षित

- ISBN : 978-81-924537-2-9

- प्रथम संस्करण : 2013

- मूल्य : चार सौ रुपये मात्र (₹ 400.00)

राजस्थानी ग्रन्थागार के लिए कम्पोजिंग क्रिएशन पॉइण्ट एवं भारत प्रिण्टर्स द्वारा मुद्रित

Aupnishad Rahasyam

Editor : **Prof. (Dr.) Satyaprakash Dubey & Dr. Dilip Kumar Nathani**

Distributor : **Rajasthani Granthagar,** Sojati Gate, Jodhpur

First Edition : 2013 • Price : ₹ 400.00

Umaid Bhawan Palace
Jodhpur - 342 006
Rajasthan

शुभ सन्देश

सम्पूर्ण विश्व में शायद ही कोई मानव हो जिसमें अध्यात्म सम्बन्धी रुचि न हो, अपनी इस रुचि के अनुरूप वह दर्शन का अध्ययन करता है। दार्शनिक विचारधारा की भूमि पर सबसे श्रेष्ठ तत्त्व यदि कोई माना गया है तो वह है उपनिषद् का ज्ञान। इसी ज्ञान को सामान्य जन में प्रस्तावित करने हेतु उपनिषद् विषयक राष्ट्रिय सङ्गोष्ठी का वर्ष २०१२ में सफल आयोंजन किया गया। उपनिषद् के इस आयोजन के दौरान पढ़े गये शोध पत्रों व वार्ताओं से एक नवीन तथ्य मेरे समक्ष उभर कर आया कि ब्रह्मविद्या पहले क्षत्रियों के पास थी तथा बड़े सङ्कोच के साथ उन्होंने इसे ब्राह्मणों को प्रदान किया। योगेश्वर श्रीकृष्ण भी गीता में इसे राजगुह्य कहते हैं। यह अध्यात्म सम्बन्धी दिव्य ज्ञान यज्ञ जोधपुर की भूमि पर चल रहा है, यह परम सौभाग्य व प्रसन्नता का विषय है तथा महाराजा मानसिंह पुस्तकप्रकाश शोधकेन्द्र के महानिदेशक डॉ. (कुं.) महेन्द्रसिंह नगर के निर्देशन में सङ्गोष्ठी में पढ़े गये सम्पूर्ण पत्रों का प्रकाशन किया जा रहा है, यह अत्यन्त श्रेष्ठ कार्य है। इसके लिये वे बधाई के पात्र हैं।

इस पुस्तक के सम्पादन हेतु सम्पूर्ण शोध आलेखों के सङ्कलन, सम्पादन व प्रामाणिक उद्धरणों के व्यवस्थापन के श्रमसाध्य कार्य हेतु प्रो. सत्यप्रकाश दुबे, आचार्य व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर तथा डॉ. दिलीपकुमार नाथाणी, प्रभारी, संस्कृत शोध प्रकोष्ठ, महाराजा मानसिंह पुस्तकप्रकाश शोधकेन्द्र, जोधपुर धन्यवाद के पात्र हैं। निश्चित ही यह पुस्तक जिज्ञासुओं की आध्यात्मिक जिज्ञासा को शान्त करने में परमोपयोगी सिद्ध होगी।

गजसिंह

(महाराजा गजसिंह)
मारवाड़, जोधपुर

शुभाशीर्वचन

संस्कृत के विद्वानों को सुन कर मेरे मन में यह बात कई बार उठती है कि हम सभी के लिए संस्कृत भाषा अनिवार्य होनी चाहिये। इसका कारण यह है कि इस भाषा और साहित्य में जितना ज्ञान-विज्ञान भरा है वह अत्यन्त दुर्लभ है। उपनिवेदों पर आयोजित राष्ट्रिय संगोष्ठी में महिलाओं ने जिस प्रकार अध्यात्म विषयक जो चर्चा की है वह मन को लुभाने वाली थी इससे तो भागवत आदि पुराणों की कथाओं में वर्णित प्राचीन समय में स्त्रियों के श्रेष्ठ ज्ञान का स्वरूप पुनः प्रत्यक्ष हुआ है। वर्ष २०११ में आयोजित संगोष्ठी में सुखद अनुभव हुआ। इस सत्र में प्रो. सत्यप्रकाश दुबे व समापन सत्र में डॉ. दिलीपकुमार नाथाणी द्वारा संस्कृत में सत्र सञ्चालन आत्मविभोर करने वाला था। इस द्वि-दिवसात्मक संगोष्ठी में अध्यात्म से सम्बन्धित बहुत ऊँचे स्तर की चर्चाएँ हुईं। प्रो.दयानन्द भार्गव, प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र जैसे वयोवृद्ध विद्वानों के चर्चा सत्रों में पठित शोधपत्रों का संग्रह प्रकाशन डॉ.(कुँ.) महेन्द्रसिंह नगर के सम्पादकत्व में हो रहा है।

इन सभी पठित लेखों का व्यवस्थित ढंग से सम्पादन आदि का कार्य करने का श्रेय प्रो. सत्यप्रकाश दुबे, आचार्य एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर व डॉ. दिलीप कुमार नाथाणी, प्रभारी , संस्कृत शोध प्रकोष्ठ, महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र , जोधपुर को है। अतः आप को भी बधाई व धन्यवाद प्रदान करती हूँ।

ऋषियों-महर्षियों के ज्ञानानुभव को समसामयिक दृष्टि से उपस्थापित करने वाली यह पुस्तक इस आपाधापी भरे जीवन में समस्त जनमानस को आन्तरिक तुष्टि प्रदान करेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

हेमलता राज्ये

(महारानी हेमलता राज्ये)
मारवाड़, जोधपुर

निदेशकीय

'जीवो ब्रह्मैव नापरः'

उपनिषत्तत्त्वोपदेश के निष्कर्ष में जीव व ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन पूर्वाचार्यो ने इस महावाक्य से किया है। जिसका अर्थ है जीव ब्रह्म ही है, ब्रह्म से पृथक् नहीं है यही उपनिषद् का उपदेश है। उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड है यह चिरप्रदीप्त वह ज्ञानदीपक है जो सृष्टि के आदि से प्रकाश देता चला आ रहा है उपनिषद्, जगद्गुरु भारत की विश्व को अनुपम देन है। जिसके सम्मुख सम्पूर्ण विश्व नतमस्तक है। ये ग्रन्थ आध्यात्मिक विद्या के परास्रोत हैं। ये उपनिषद् सद्गुरुओं से प्राप्त करने का विषय है, इनके नाम के निर्वचन से ही यह बात सिद्ध होती है। किसी भी साधनसम्पत्तिहीन वासनावासि अन्तःकरण में ब्रह्मविद्या का प्रकाश नहीं होता । अतः इस ज्ञान का अधिकारी साधारण नहीं हो सकता है। इसीलिये शास्त्रों में सर्वत्र अधिकारीरूपी क्षेत्र की सम्यक् परीक्षा का विधान है। श्रुति का आदेश है–

नापुत्राय दातव्यं नाशिष्याय दातव्यम्।
सम्यक् परीक्ष्य दातव्यं मासं षाण्मासवत्सरम्।।

अर्थात् सम्यक् विधि से परीक्षा करके ही इस विद्या का उपदेश करना चाहिये अयोग्य शिष्य तथा पुत्र को भी इसका उपदेश नहीं करना चाहिये। ज्ञानरूप नित्यबोधमय निजरूप आत्मा में प्रतिष्ठित होकर शाश्वत शान्तिमय हो जाना ही जीव का परम पुरुषार्थ है। इस परम पुरुषार्थ की प्राप्ति औपनिषद–ज्ञाननिष्ठा द्वारा ही होती है। बिना तत्त्वनिष्ठ हुए कैवल्य की प्राप्ति नहीं होती. यही उपनिषद् सिद्धान्त है। स्वामी विवेकानन्द ने अपने आदर्शों में उपनिषदों के पात्र नचिकेता को परम आदर्श माना तथा 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। ' को महावाक्य मानते हुए संदेश दिया की हे युवाओ! उठो जागो और जब तक अपने ध्येय को, अपने उद्देश्य को प्राप्त न कर लो तब तक मत बैठो। उपनिषदों का ज्ञान केवल भारत के लिये नहीं वरन् सम्पूर्ण मानव जाति के लिये है, यह सार्वकालिक

व सार्वभौमिक है।

अत: उपनिषदों का ज्ञान आध्यात्मिक जिज्ञासुओं तक पहुँचाने के लिये वर्ष २०१२ दिसम्बर मास में उपनिषद् विषयक राष्ट्रिय संगोष्ठी का आयोजन किया गया। जिसमें सम्पूर्ण भारत वर्ष से विद्वानों का आगमन हुआ। हिमाचल से प्रो. अभिराज राजेन्द्रमिश्र, कुरुक्षेत्र से प्रो. सुरेन्द्रमोहन मिश्र , जयपुर से प्रो. दयानन्द भार्गव, पं. अनन्त शर्मा, जम्मू से डॉ. हरिनारायण तिवारी, तथा जय नारायण व्यास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के सभी आचार्यगण व अन्य संस्थानों के सह-आचार्य आदि। उज्जैन से पधारे ए.डी.सिंह जिन्होने महाराजा श्रीगजसिंह जी द्वितीय के ६०वें राज्याभिषेक वर्ष पर उनका अभिनन्दन किया। यह सम्पूर्ण संगोष्ठी प्राचीन ऋषियों की कृपा प्रसाद सी प्रतीत हुई। जो कि जोधपुर के दुर्ग के सांस्कृतिक इतिहास का राष्ट्रिय पृष्ठ है।

हमारे संस्थान में कुल ८० उपनिषदों को ४४१ प्रतियाँ संगृहीत हैं, जिनमें प्रमुखता से छांदोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, प्रश्नोपनिषसद्, माण्डूक्योपनिषद्, मुण्डकोपनिषद्, कठोपनिषद्, तैत्तिरीयोपनिषद् हैं। इन उपनिषदों पर आदिशङ्कराचार्य, सायणाचार्य, बालगोपालेन्द्रयति तथा नारायणभट्ट की टीकाएँ व भाष्य उपलब्ध हैं। इन उपनिषदों में तेजबिन्दूपनिषद् नामक ग्रंथ की लगभग १५ प्रतियाँ उपलब्ध हैं, जो पूर्ण सुरक्षित व सही अवस्था में हैं। इन ८० उपनिषदों में सबसे अधिक ४४ टीकायें नारायण भट्ट की प्राप्त होती हैं। विद्वान् नारायण भट्ट ने शङ्कराचार्य द्वारा जिन उपनिषदों पर टीकाएँ कर दी गई थीं उन पर तथा उनके अलावा अध्यात्म के विषय को लेकर रचे गये अन्य उपनिषदों यथा-हंसोपनिषद्, ओंकारोपनिषद्, तेजबिन्दूपनिषद्, अध्यात्मोपनिषद्, शिखोपनिषद् पर अपनी टीकाएँ की हैं। संग्रहालय में इसके अलावा सम्प्रदायानुकूल उपनिषदों का संग्रह भी प्राप्त होता है, जैसे-नीलरुद्रोपनिषद्, नारायणोपनिषद्, नरसिंहोपनिषद्, कृष्णोपनिषद्, रामतापनीयोपनीषद्, गोपालतापनीयोपनिषद् आदि। यह प्रसिद्ध है कि आदिशंकराचार्य ने केवल ११ उपनिषदों पर अपनी टीकाएँ लिखी हैं, किन्तु संग्रहालय में नरसिंहतापनीयोपनिषद् की एक प्रति पर शंकराचार्य का भाष्य उपलब्ध होता है। इस भाष्य का लिपि-काल १९वीं शताब्दी है तथा यह ग्रंथ १४३ पत्रों का संकलन है। अत: यह शोध का विषय है कि इस उपनिषद् पर जो शङ्कराचार्य का भाष्य उपलब्ध है वह किसकी रचना है?

तथा इसकी रचना कब की गई? क्या यह शङ्कराचार्य के द्वारा लिखा गया है, अथवा उनके शिष्यों द्वारा लिखा गया है। इस प्रकार संग्रहालय में उपनिषद्-साहित्य का विशाल भण्डार सुरक्षित है। जिस पर संस्कृत के विद्वानों व शोधार्थियों द्वारा शोध किया जाना अपेक्षित है।

उपनिषदों पर दो दिनों में पढे.गए सभी पत्रावलियों का संग्रह प्रकाशित करके आध्यात्मिक जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष का अनुभव हो रहा है। इसके श्रमसाध्य कार्य के लिये मैं जयनारायणव्यास वि.वि. के संस्कृत विभाग के आचार्य एवं अध्यक्ष प्रो. सत्यप्रकाश दुबे तथा संस्कृत शोध प्रकोष्ठ, पुस्तक प्रकाश के प्रभारी डॉ.दिलीप कुमार नाथाणी को बधाई देता हूँ कि उनकी आध्यात्मिक साधना व भगवती सरस्वती, माँ चामुण्डा के आशीर्वाद से यह ज्ञानयज्ञ सिद्ध हुआ।

महेन्द्रसिंह

डॉ.(कुँ.) महेन्द्र सिंह नगर
महानिदेशक
महाराज मानसिंहपुस्तकप्रकाश शोध केन्द्र,
मेहरानगढ़ म्यूजियम ट्रस्ट, मेहरागढ़ दुर्ग, जोधपुर

वाङ्मुखम्

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतय शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।

(मुण्डकोपनिषद् २.२.६)

जिन्होंने वेदान्तजनित विज्ञान के ज्ञेय अर्थ को अच्छी तरह से हृदयङ्गम कर लिया हैं वे संन्यासयोग से यत्न करने वाले शुद्ध-चित्त पुरुष देह-त्याग करते हुए ब्रह्मलोक में अमरत्व को प्राप्त करके हर तरह से मुक्त हो जाते हैं।

अभ्युदय के साथ निःश्रेयस की प्राप्ति का एकमात्र साधन है— प्रस्थानत्रयी। 'प्रस्थान' शब्द का अर्थ है- प्रतिष्ठते लक्ष्यं प्राप्तुं अनेन पथा इति प्रस्थानं मार्गः। प्रस्थानत्रयी के रूप में प्रतिष्ठाप्राप्त ग्रन्थ हैं—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता।

इनमें वेद के सारभूत तत्त्वों का प्रतिपादक होने से उपनिषदों की वेदान्त नाम से प्रसिद्धि है—**वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्**। वेद के ज्ञान, उपासना एवं कर्म के अन्तर्गत कर्मकाण्ड को लेकर ब्राह्मणग्रन्थों की रचना की गई और ज्ञानकाण्ड को आधार बनाकर उपनिषदों की। चूँकि कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्ड का उद्देश्य परमतत्त्व की प्राप्ति हेतु पात्रता प्रदान करना है इसलिए कर्म और उपासना साधन रूप हैं तथा ज्ञानसाध्य रूप। इस दृष्टि से ज्ञानकाण्ड का ही नाम उपनिषद् है और यही ब्रह्मविद्या का आदि स्रोत। इस प्रकार उपनिषदों का मुख्य उद्देश्य आत्मा तथा ब्रह्म का यथार्थ बोध कराना है। वस्तुतः उपनिषद् तत्त्वज्ञानोपदेश के उच्चतम सोपान हैं।

इस सृष्टि में जीव के सकल दुःखों का एकमात्र कारण अविद्या है। इस अविद्या की निवृत्ति के लिये उपनिषदों में जीव-ब्रह्म की एकता के प्रतिपादन के साथ-साथ जगत् के मिथ्यात्व का भी उपदेश हुआ है, जिसे शङ्कराचार्य ने **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** इन शब्दों में प्रकट किया है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष- इन चार प्रकार के पुरुषार्थ में परम निःश्रेयस रूप मोक्ष ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्यं है- यह सभी मनीषियों का सुनिश्चित सिद्धान्त है। मोक्ष अमृतस्वरूप है उसकी प्राप्ति के लिए मानव ही अधिकारी है क्योंकि मनुष्य के सिवा और किसी प्राणी को उस योनि में रहते हुए कैवल्य-मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। इसीलिये शास्त्रों में मानव-जन्म को अत्यन्त दुर्लभ तथा श्रेष्ठ बताया गया

है— **जन्तूनां नरजन्म दुर्लभतरम्। न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्।**

अत: अपना कल्याण चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह क्षणमात्र सुख देने वाले अनित्य सांसारिक विषय-भोग में न फँसकर आध्यात्मिक साधना में संलग्न हो सदा आत्मतत्त्व के बोध के लिये प्रयत्नशील बना रहे।

'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:' इस श्रुतिवाक्य के द्वारा आत्मज्ञान के लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन - ये तीन साधन बताये गये हैं। शास्त्रवचनों के अनुसार दम्भ अहङ्कार आदि विकारों से रहित होकर मनुष्य ब्रह्मनिष्ठ गुरु की शरण लेकर वेदोक्त आत्मतत्त्व का श्रवण करे। उपनिषद् वेद का नवनीत है। मूलत: वेद के चार भाग हैं— संहिता, ब्राह्मण,आरण्यक, और उपनिषद्। संहिता आदि भागों में कर्म, उपासना आदि विविध मार्गों का उल्लेख है, जो कि गृहस्थादि सभी आश्रमों की लौकिक, पारलौकिक सिद्धि का सोपानपर्व है, किन्तु उपनिषद् में चूँकि विशेषत: ज्ञान की ही चर्चा प्राप्त होती हैं अतएव उपनिषद् विद्या अन्य विद्याओं की अपेक्षा प्रधान एवं गौरवमयी है, क्योंकि मुक्तिप्राप्ति का एकमात्र साधन ज्ञान है- **ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:।** इसी विद्या को लक्ष्य करके कहा जाता है कि **'सा विद्या या विमुक्तये'** अर्थात् वही वास्तविक विद्या है जो मोक्ष दिलाने में सहायक हो। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में स्पष्ट रूप से कहा है-**अध्यात्मविद्या विद्यानाम्।**

दार्शनिक विद्वान् 'उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करते हैं- 'उप+नि' इन दो उपसर्गों के साथ 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर 'उपनिषद्' शब्द की सिद्धि होती है। सद् धातु के तीन अर्थ हैं - विशरण अर्थात् विनाश, गति यानि ज्ञान की प्राप्ति तथा अवसादन या शिथिलीकरण इन अर्थों के अनुसार— **उपनिषादयति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्यां च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।**

अर्थात् जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती है, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है। इस प्रकार ब्रह्मविद्या को ही 'उपनिषद्' नाम से कहा गया है। अत: कहा जा सकता है कि प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परब्रह्म को प्राप्त कराने वाली, नि:सन्धिबन्धनात्मिका चिज्जडग्रन्थि-स्वरूपा अविद्या को शिथिल करनेवाली अविचारितरमणीय नामरूप क्रियात्मक मायामय विश्वप्रपञ्च का समूलोन्मूलन करके जीव की ब्रह्मरूपता को बोधित करनेवाली ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् है। यद्यपि उपनिषदें वेदशीर्ष या वेदसार हैं तथापि वे वेद से पृथक् न होने से परमेश्वर के नि:श्वासभूत तथा अनादि ही हैं। **स यथाद्रैधाग्नेरव्याहितात् पृथग् धूमा**

विनिश्वरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणविद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि (बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.१०) पौरुषेय वस्तुओं में ही ज्ञान एवं क्रिया शक्ति के विकास की कल्पना सम्भव हैं उपनिषदों का सार होने से ही गीता में भी गीतोपनिषद् का व्यवहार होता है। गीता को उपनिषद्रूप गौओं का अमृतमय दुग्ध कहा गया है–

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।

वेद पुरुष के शिरोभाग को उपनिषद् कहते हैं। पूर्व में इसका व्याकरणाधारित अर्थ निर्धारित किया गया। आचार्य शङ्कर ने उपनिषद् भाष्यभूमिका में 'उपनिषद्' शब्द का रहस्य स्पष्ट करते हुए कहा है—

१. **सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रांतेपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। केन पुनरर्थयोगेन उपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते ये मुमुक्षवो दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद् विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्या उपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति 'निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते।'** (कठ.उप.१.३.१५)
२. **य इमां ब्रह्मविद्यामुपयन्त्यात्मभावेन श्रद्धाभक्तिपुरःसराः सन्तस्तेषां गर्भजन्मजरारोगाद्यनर्थपूगं निशातयति परं वा ब्रह्म गमयत्यविद्यादिसंसारकारणं चात्यन्तमवसादयति विनाशयतीत्युपनिषद्, उपनिपूर्वस्य सदेरेवमर्थस्मरणात्** (मु.उप.)।
३. **उपनिषदिति विद्योच्यते, तच्छीलिनां गर्भजन्मजरादि निशातनात्तत्तदवसानाद् वा ब्रह्मणो वोपनिगमयितृत्वादुपनिषण्यं वास्यां परश्रेय इति। तदर्थत्वाद् ग्रन्थोऽप्युपनिषद्** (तै.उप.)।
४. **'उषा वा अश्वस्य' इत्येवमाद्यावासनेयि ब्राह्मणोपनिषद् तस्या इयमल्प ग्रन्था वृत्तिरारभ्यते संसारव्याविवृत्सुभ्यः संसारहेतुनिवृत्तिसाधनब्रह्मात्मैक्य विद्याप्रतिपत्तये। सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां सहेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात्। उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात्। तादर्थ्यात् ग्रन्थोऽप्युपनिषद् उच्यते।** (बृहदा.उप.)

'उप', व्यवधानराहित्य को 'नि', सम्पूर्णता को 'षद्' ज्ञान व गति को प्रकट करते हैं। अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान जो ज्ञेय से अभिन्न एवं देश, काल, वस्तु के परिच्छेद से रहित परिपूर्ण ब्रह्म है, 'उपनिषद्' पद का अभिप्रेत अर्थ है, इसलिये जब तक ज्ञान के स्वरूप का ठीक-ठीक विचार न कर लिया जायेगा, तब तक उपनिषद् क्या हैं, यह बात स्पष्ट नहीं हो सकेगी। प्रथमत: ज्ञान स्वत: प्रमाण है, परत: प्रमाण नहीं। सम्पूर्ण व्यवहार अपने ज्ञान के आधार पर ही चलता है। प्रमाता, प्रमाण एवं प्रमेय की त्रिपुटी ज्ञान के द्वारा ही प्रकाशित होती है। इसलिये ज्ञान की सिद्धि के लिये उनकी कोई अपेक्षा नहीं है और इसलिये ज्ञान की सत्ता अखण्ड है। एक तरह से ज्ञान साधन-साध्य नहीं है, सिद्ध है। तृतीयत: ज्ञान काल-परिच्छिन्न नहीं है। कला, काष्ठादि कालांश लोक में समझने हेतु गणना मात्र है। वस्तुत: काल सार्वकालिक है, निरवयव है, अत: उसका विभाजन लोकानुरञ्जन मात्र है। इसी प्रकार ज्ञान देश-परिच्छेद भी नहीं है, विषयपरिच्छेद भी ज्ञान का परिच्छेदक नहीं है। ज्ञान में ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्व का भेद औपाधिक मात्र ही है। ज्ञान हेतुफलात्मक नहीं है। ज्ञान में यथार्थ-अयथार्थ और परोक्ष-अपरोक्ष का भेद भी नहीं है। ज्ञान सर्वथा अबाध्य है, अर्थात् ज्ञान का कोई भी प्रतियोगी या विरोधी नहीं है। स्वयं अज्ञान भी ज्ञान के द्वारा ही प्रकाशित होता है। ज्ञान अनिर्वचनीय है। सत्य, अहिंसा, ध्यान, उपासना, परत्व, कारणत्व आदि ज्ञान के ही उपलक्षण हैं। अपरिच्छेद-रूप लक्षण के एकरूप होने के कारण 'ज्ञान', 'आत्मा', 'ब्रह्म', और 'विश्व' आदि शब्द पर्यायवाची हैं और एक ही अर्थ के बोधक हैं। ज्ञान के इस स्वरूप निरूपण से वेद अथवा उपनिषद् की अपौरुषेयता का अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। ज्ञान ज्ञान ही है, वह किसी पुरुष की अनुभूति, भावना, स्मृति अथवा कल्पना नहीं है। पं. गोविन्द वल्लभ पंत के अनुसार— उपनिषद् सनातन दार्शनिक ज्ञान के मूल स्रोत हैं। वे केवल प्रखरतम बुद्धि के ही परिणाम नहीं हैं अपितु प्राचीन ऋषियों की अनुभूति के फल हैं। इसी प्रकार चक्रवर्ती श्रीराजगोपालाचारी के मत में—उपनिषद् को वेदान्त कहते हैं। ज्ञान, भक्ति और अपने सम्पूर्ण कर्मों में भगवच्छरणागति का भाव, यही उपनिषदों का मथितार्थ है। ज्ञान का अर्थ प्रचुर अध्ययन से होने वाला गम्भीर आध्यात्मिक ज्ञान नहीं, अपितु अनुभव तथा गुरुजनों के उपदेश एवं आचरण पर, ध्यान देने से प्राप्त होनेवाली सम्यग् दृष्टि है। सत् क्या है और असत् क्या है, महान् क्या है और क्षुद्र क्या है, हमें क्या स्मरण रखना चाहिये और क्या भूल जाना चाहिये- इस बात का जानना आवश्यक है। इसी का नाम ज्ञान है और यह ज्ञान हमारी समस्त क्रियाओं का सूत्रधार होना चाहिये। इससे कर्म में अनासक्ति का भाव आता है। हम कर्त्तव्य से मुँह न मोड़े, अपितु समस्त प्राप्त कर्म

अनासक्त होकर तथा इस बात पर दृष्टि रखते हुए कि किस बात में जगत् का हित है और किसमें अहित है– करते रहें। हमारी क्रिया स्वार्थ के लिये एवम् अपने लाभ के लिये न हो। भक्ति सङ्कल्प की दृढ़ता, विनयशीलता तथा श्रद्धा का वह समन्वित रूप है, जिसके द्वारा हमारा कर्म और हमारी उपासना दूसरों के लिये तथा अपने लिये भी कल्याणकारक एवं सफल होते हैं। भक्ति–शून्य कर्म अहङ्कार का प्रतीक है और भक्तिरहित उपासना दम्भ का नामान्तर है। ज्ञान की शरण हुए बिना शोक एवं विफलता से छुटकारा नहीं मिल सकता और न चित्त की शान्ति ही सम्भव है। आनन्द की प्राप्ति करानेवाला वेदान्त का यही परम उपदेश है।

वेद को प्रमाण माननेवाले भारतीय दर्शनों ने उपनिषदों को ही अपना आधार स्वीकार किया है। इसका कारण यह है कि उपनिषदों में वे सिद्धान्त स्पष्ट रूप से दिये हुए हैं, जिनके आधार पर कोई भी विचारशील मनुष्य अपने लिये कर्त्तव्य का निश्चय कर सकता है। इस पथ पर चलनेवाला अपने लिये तो निःश्रेयस का द्वार खोल ही लेगा, उसके तपःपूत व्यक्तित्व के प्रकाश से मानव समाज भी अभ्युदय के पथ पर आरूढ़ हो सकेगा।

प्राचीन भारत में जिन ऋषियों ने अतीन्द्रिय और अतिमानस ज्ञान के द्वारा सम्पूर्ण जीव–जगत् के पारमार्थिक स्वरूप को प्रत्यक्ष देखा था जिनके सम्बुद्ध चेतन सामर्थ्य के समक्ष परम सत्य ने अपने स्वरूप को प्रकट कर दिया था, उनकी दिव्य वाणी ही सङ्कलित और संग्रथित होकर उपनिषद्–ग्रन्थ के रूप में मानव–समाज में प्रचारित है। भारतीय संस्कृति की यह विशेषता है कि इस विशाल देश की भित्ति इसी ज्ञान पर प्रतिष्ठित है, क्योंकि ज्ञान से अधिक पवित्र कुछ भी नहीं है— **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।** भारत का साहित्य और शिल्प, विज्ञान और दर्शन, कुल–धर्म और समाज–धर्म, राष्ट्र–नीति, अर्थ–नीति, स्वास्थ्य–नीति और व्यवहार–नीति इन सभी का निर्माण और प्रसार उपनिषद्–ज्ञान को मानव जीवन के परम आदर्श रूप में मानकर ही हुआ है। उपनिषद् ही भारतीय संस्कृति के प्राणस्वरूप हैं। इसी से भारतीय संस्कृति को प्रथम संस्कृति कहा जाता है— **सा संस्कृतिः प्रथमा विश्ववारा।**

सर्ववेदान्तप्रतिपाद्य परब्रह्म ही उपनिषदों का चरम तत्त्व है। किन्तु इस तत्त्व को हृदयङ्गम करना अत्यन्त कठिन है। **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तद् कवयो वदन्ति।** बिना अधिकारी के तत्त्व का साक्षात्कार भी नहीं होता। इसलिये उपनिषदों में सर्वत्र ही अधिकारी की चर्चा आयी है–

आचार्यवान् पुरुषो वेद', 'नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्', 'तद्विज्ञानार्थं स गुरु–मेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' इस दृष्टि से उपनिषद् शब्द का अर्थ

उपासना भी है। क्योंकि इस विश्व के उदय, विभव और लय की क्रियान्विति , परमात्मा के निरतिशय ऐश्वर्य से विमुग्ध प्राचीन ऋषि-मुनियों की भक्तिभाव-भरित भावनाओं के शब्दचित्रों के समुदाय का नाम ही उपनिषद् है। ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले ब्रह्मर्षियों ने उस परमतत्त्व का प्रतिपादन करना चाहा, वाणी से अतीत का वाणी द्वारा वर्णन करना चाहा तो अपने उस अलौकिक देवता की वागाराधना में वे लौकिक पदावली ही प्रयोग कर सके । परमेश्वर की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक दिव्यता को प्रकट करने के लिये उन्हें अपने कोष में प्राण, ज्योति, और आकाश जैसे शब्दों से बढ़कर शब्द न मिल सके। किन्तु सामान्यजन उनका वह भी अर्थ न समझकर लौकिक अर्थ तक ही सीमित रहे। अत: इस प्रकार की समस्या के निराकरण हेतु कृष्णद्वैपायन व्यास ने **'ब्रह्मसूत्र'** की रचना की। इन सूत्रों को उपनिषद् का सार कहना युक्तिसङ्गत है। विभिन्न आचार्यों ने अपने-अपने मत के अनुसार ब्रह्मसूत्र पर जो भाष्य रचे हैं वे सभी अपने-अपने दृष्टिकोणों से उपादेय हैं। इस ब्रह्मसूत्र में औपनिषदिक ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ वर्णन किया गया है और साथ ही उसकी प्राप्ति के रुचि और स्थिति के साधकों के लिये विभिन्न उपासनाओं का प्रतिपादन किया गया है।

उपनिषदों के सिद्धान्त इतने गूढ़ और सार्वभौम हैं कि उनका विद्वानों पर, चाहे वे किसी देश के निवासी और किसी भी धर्म के अनुयायी क्यों न हों, गहरा प्रभाव पड़ा है। किसी दूसरे मत-मतान्तर के ग्रन्थ को अन्य मतावलम्बियों से ऐसा हार्दिक और अकृत्रिम आदर नहीं प्राप्त हुआ है। वेदान्तदर्शन की महिमा पर मुग्ध होनेवाले विदेशी विद्वानों में अरबदेशीय अलबेरूनी का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। उसने यहाँ रहकर संस्कृत सीखी तथा गीता की बहुत प्रशंसा लिखी। जर्मन विद्वान् शोपेनहाबर ने कहा-'सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान जीवन को ऊँचा उठाने वाला कोई दूसरा अध्ययन का विषय नहीं है। उनके स्वाध्याय से जीवन को परम शान्ति मिली है।[1] शोपेनहाबर के इन्हीं शब्दों को उद्धृत करते हुए मैक्समूलर ने कहा है-''शोपेनहाबर के शब्दों के लिए यदि किसी समर्थन की आवश्यकता हो तो अपने जीवनभर के अध्ययन के आधार पर मैं उनका प्रसन्नता पूर्वक समर्थन करूँगा।[2] उपनिषदों में पाये जानेवाले अद्भुत सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए शोपेनहाबर ने फिर कहा है-''ये सिद्धान्त ऐसे हैं जो एक प्रकार से अपौरुषेय ही हैं। ये जिनके मस्तिष्क की उपज हैं, उन्हें निरे मनुष्य कहना कठिन है।[3] वेद

[1] "In the whole world' there is no study so elevating as that of the Upanisds. It has been the solace of my life. It will be the solace of my death."

[2] "If these words of Schopenhauer required anu confirmation I would willingly give it as a result of my life-long study."

[3] "Almost superhuman conceptions whose originatiors can hardly be said to be mere men."

मनुष्यरचित नहीं हैं– अपितु अपौरुषेय हैं – इस मान्यता का अनुमोदन करते हुए पाल–डायसन नामक जर्मन विद्वान् उपनिषदों का संस्कृत में अध्ययन करके 'उपनिषद्दर्शन' नामक अपनी प्रसिद्ध पुस्तक में लिखते हैं कि ''उपनिषदों के भीतर, जो दार्शनिक चिन्तन है,[४] वह भारत में तो अद्वितीय है ही, सम्भवत: सम्पूर्ण विश्व में अतुलनीय है।'' डायसन ने यह भी कहा कि काण्ट व शोपेनहाबर के विचारों की उपनिषदों ने बहुत पहले ही कल्पना कर ली थी तथा सनातन दार्शनिक सत्य की अभिव्यञ्जना मुक्तिदायिनी आत्मविद्या के सिद्धान्तों से बढ़कर निश्चयात्मक और प्रभावपूर्ण रूप में कदाचित् ही कही हुई हो।[५] मैक्डानेल ने लिखा है– ''मानवीय चिन्तना के इतिहास में पहले–पहल बृहदारण्यक उपनिषद् में ही ब्रह्म अथवा पूर्णतत्त्व को ग्रहण करके उसकी यथार्थ व्यञ्जना हुई है।[६] फ्राँसीसी विद्वान् विक्टरकजिन्स् लिखते हैं, ''जब हम पूर्व की ओर उनमें भी शिरोमणि– स्वरूपा भारतीय साहित्यिक एवं दार्शनिक महान् कृतियों का अवलोकन करते हैं, तब इनमें ऐसे अनेक गम्भीर सत्यों का पता चलता है, जिनकी उन निष्कर्षों से तुलना करने पर, जहाँ पहुँचकर यूरोपीय प्रतिभा कभी–कभी रुक गयी है, हमें पूर्व के तत्त्वज्ञान के आगे घुटना टेक देना पड़ता है।[७] जर्मनी के एक दूसरे लेखक और विद्वान् फ्रेडरिक श्लेगेल लिखते हैं – ''पूर्वीय आदर्शवाद के प्रचुर प्रकाशपुञ्ज की तुलना में यूरोपवासियों का उच्चतम तत्त्वज्ञान वैसा ही लगता है, जैसे मध्याह्न–सूर्य के व्योमव्यापी प्रताप की पूर्ण प्रखरता में टिमटिमाती हुई अनलशिखा की कोई आदि किरण,जिसकी अस्थिर और निस्तेज ज्योति ऐसी हो रही हो मानो अब बुझी कि तब।''[८]

उपनिषदों की संख्या : भारतीय संस्कृति की सम्पूर्ण विश्व की महान् देन के रूप में उपलब्ध उपनिषदों की संख्या के विषय में प्राच्य एवं प्रतीच्य विद्वान् एकमत नहीं है। पाश्चात्त्य विद्वान् डॉ. बेयर जहाँ अपनी खोज के आधार पर उपनिषदों की संख्या २३५ बतलाते हैं वहाँ मैक्समूलर के मत में इनकी संख्या १४९ हैं, क्योंकि उन उपनिषदों में कतिपय ऐसे हैं, जिनका अनेक नामों से परिगणन किया गया है। प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक डॉ. राधाकृष्णन् भारतीय परम्परा के अनुसार सारभूत १०८ उपनिषद् ही स्वीकार करते

[4] "Philosophocal conceptions unequalled in India of perhaps anywhere else in the world."

[5] "Eternal Philosophical truth has seldom found more decisive and sritking expression than in the doctrine of the emancipating knowledge of the Atma".

[6] "Brahman or Abslute is grasped and definitely expressed for the first time in the history of human thought in the *Brahdaramaka upanishad*."

[7] "Where we red the poetical and philosophical monuments of the East, above all those of India ,we discover there many truths so profound and which makd such a contrast with the results as which the European genius has sometimes stopped that we are constranined to bend the knee before the Philosophy of te East."

[8] "Even the loftiest philosophy of the Europeans appears in comparison with the abundant light of oriental idealism like a feeble Promethean spark in the full flood of the heavenly glory of the noonday sun& faltering and feeble and ever ready to be extinguished".

हैं, जिसके प्रमाणस्वरूप वे मुक्तिकोपनिषद् का वचन भी उद्धृत करते हैं—

सर्वोपनिषदां मध्ये सारमष्टोत्तरं शतम् (मुक्तिकोपनिषद् १-४४)

मुक्तिकोपनिषद् का यह प्रमाण महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रथम अध्याय में यह स्पष्ट उल्लेख है कि उपनिषद् वेदों की शाखायें हैं। ऋग्वेद की २१, यजुर्वेद की १०९, सामवेद की १००० और अथर्ववेद की ५० शाखाएँ— इस प्रकार कुल ११८० शाखाएँ हैं। वहीं यह भी कहा गया है कि प्रत्येक शाखा की एक-एक उपनिषद् हैं जिससे यह संख्या ११८० होनी चाहिये। यह वचन काल्पनिक इसलिए नहीं कहा जा सकता है कि मुक्तिकोपनिषद् में उपनिषदों की नामावली देने से पूर्व यह कहा गया है कि सभी उपनिषदों में सारभूत उपनिषद् १०८ हैं। इनमें नारायण उपनिषद् की दो अलग-अलग व्याख्याएँ एवं रामतापिनी, नृसिंहतापिनी और गोपालतापिनी उपनिषदों के पूर्व और उत्तर दो अलग-अलग भाग कर दिए जाने से यही संख्या ११२ हो जाती है, जो इस प्रकार हैं—

१. ईशावास्योपनिषद्	२. केनोपनिषद्	३. कठोपनिषद्
४. प्रश्नोपनिषद्	५. मुंडकोपनिषद्	६. माण्डूक्य उपनिषद्
७. तैत्तिरीयोपनिषद्	८. ऐतरेयोपनिषद्	९. छान्दोग्योपनिषद्
१०. बृहदारण्यकोपनिषद् १	१. श्वेताश्वतरोपनिषद्	१२. ब्रह्मविन्दूपनिषद्
१३. कैवल्योपनिषद्	१४. जाबालोपनिषद्	१५. हंसोपनिषद्
१६. आरुणिकोपनिषद्	१७. गर्भोपनिषद्	१८. नारायणोपनिषद्
१९. नारायणोपनिषद्	२०. परमहंसोपनिषद्	२१. ब्रह्मोपनिषद्
२२. अमृतनादोपनिषद्	२३. अथर्वशिरः उपनिषद्	२४. अथर्वशिखोपनिषद्
२५. मैत्रायण्युपनिषद्	२६. कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद्	२७. बृहज्जाबालोपनिषद्
२८. नृसिंहपूर्वतोपिन्युपनिषद्	२९. नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद्	३०. कालाग्नि रुद्रोपनिषद्
३१. मैत्रेय्युपनिषद्	३२. सुबालोपनिषद्	३३. क्षुरिकोपनिषद्
३४. मंत्रिकोपनिषद्	३५. सर्वसारोपनिषद्	३६. निरालम्बोपनिषद्
३७. शुकरहस्योपनिषद्	३८. वज्रसूचिकोपनिषद्	३९. तेजोबिन्दूपनिषद्
४०. नादबिन्दूपनिषद्	४१. ध्यानबिन्दूपनिषद्	४२. ब्रह्मविद्योपनिषद्
४३. योगतत्त्वोपनिषद्	४४. आत्मबोधोपनिषद्	४५. नारदपरिव्राजकोपनिषद्
४६. त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद्	४७. सीतोपनिषद्	४८. योगचूडामण्युपनिषद्
४९. निर्वाणोपनिषद्	५०. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्	५१. दक्षिणामूर्त्युपनिषद्
५२. शरभोपनिषद्	५३. स्कन्दोपनिषद्	५४. त्रिपाद्विभूति महानारायणोपनिषद्
५५. अद्वयतारकोपनिषद्	५६. रामरहस्योपनिषद्	५७. रामपूर्वतापिन्युपनिषद्
५८. रामोत्तरतापिन्युपनिषद्	५९. वासुदेवोपनिषद्	६०. मुद्गलोपनिषद्
६१. शांडिल्योपनिषद्	६२. पैंगलोपनिषद्	६३. भिक्षुकोपनिषद्
६४. महोपनिषद्	६५. शारीरकोपनिषद्	६६. योगशिखोपनिषद्
६७. तुरीयातीतोपनिषद्	६८. संन्यासोपनिषद्	६९ परमहंसपरिव्राजकोपनिषद्
७०. अक्षमालिकोपनिषद्	७१. अव्यक्तोपनिषद्	७२. एकाक्षरोपनिषद्

७३. अन्नपूर्णोपनिषद्
७४. सूर्योपनिषद्
७५. अक्ष्युपनिषद्
७६. अध्यात्मोपनिषद्
७७. कुण्डिकोपनिषद्
७८. सावित्र्युपनिषद्
७९. आत्मोपनिषद्
८०. पाशुपतब्रह्मोपनिषद्
८१. परब्रह्मोपनिषद्
८२. अवधूतोपनिषद्
८३. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
८४. देव्युपनिषद्
८५. त्रिपुरोपनिषद्
८६. कठरुद्रोपनिषद्
८७. भावनोपनिषद्
८८. रुद्रहृदयोपनिषद्
८९. योगकुण्डल्युपनिषद्
९०. भस्मजाबालोपनिषद्
९१. रुद्राक्षजाबालोपनिषद्
९२. गणपत्युपनिषद्
९३. त्रिपुरातापिन्युपनिषद्
९४. तारसारोपनिषद्
९५. महावाक्योपनिषद्
९६. पञ्चब्रह्मोपनिषद्
९७. प्राणाग्निहोत्रोपनिषद्
९८. गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्
९९. गोपालोत्तरतापिन्युपनिषद्
१००. कृष्णोपनिषद्
१०१. याज्ञवल्क्योपनिषद्
१०२. वाराहोपनिषद्
१०३. शाट्यायनीयोपनिषद्
१०४. हयग्रीवोपनिषद्
१०५. दत्तात्रेयोपनिषद्
१०६. गरुडोपनिषद्
१०७. कलिसंतरोपनिषद्
१०८. जाबाल्युपनिषद्
१०९. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्
११०. सरस्वती रहस्योपनिषद्
१११. बह्वृचोपनिषद्
११२. मुक्तिकोपनिषद्

प्रत्येक उपनिषद् के आदि और अन्त में शान्तिपाठ के वेदमन्त्र नियत हैं। अधोलिखित तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि कौनसा उपनिषद् किस वेद से सम्बद्ध है तथा किस उपनिषद् का कौनसा शान्तिपाठ है—

उपनिषद्	वेद	शान्तिपाठ
१. ऐतरेय, २. कौषीतकि ब्राह्मण ३. नादबिन्दु, ४. आत्मबोध ५. निर्वाण, ६. मुद्गल ७. अक्षमालिका, ८. त्रिपुरा ९. सौभाग्यलक्ष्मी, १०. बह्वृच	ऋग्वेद	ॐ वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाऽधीतेनाहोरात्रान्सेदधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तार- मवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्।। ॐ शान्तिः। शान्तिः।। शान्तिः।।।
	शुक्ल यजुर्वेद	
१. ईशावास्य, २. बृहदारण्यक ३. जाबाल, ४. हंस, ५. परमहंस, ५. सुबाल,७. मन्त्रिका, ८. निरालम्ब ९. त्रिशिखी ब्राह्मण, १०. मण्डल ब्राह्मण, ११. अद्वयतारक, १२. पैगल, १३ भिक्षु, १४. तुरीयातीत, १५. अध्यात्म, १६. तारसार, १७. याज्ञवल्क्य, १८. शाट्यायनी १९. मुक्तिका		ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।। ॐ शान्तिः। शान्तिः।। शान्तिः।।।
	कृष्ण यजुर्वेद	
१. कठ, २. तैत्तिरीय, ३. ब्रह्म, ४. कैवल्य, ५. श्वेताश्वतर, ६. अमृतबिन्दु, ९. अमृतनाद,		ॐ सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।

१०. कालाग्नि रुद्र, ११. क्षुरिका, १२. सर्वसार,
१३. ब्रह्मविद्या, १४. शुकरहस्य, १५. तेजोबिन्दु,
१६. ध्यान बिन्दु, १७. योगतत्त्व, १८. दक्षिणामूर्ति,
१९. स्कन्द, २०. शारीरक २१. योगशिखा, २२. एकाक्षर,
२३. अक्षिमालिका, २४. अवधूत, २५. कठरुद्र, २६. रुद्रहृदय,
२७. योग कुण्डलिनी, २८. पञ्चब्रह्म, २९. प्राणाग्निहोत्र, ३०. वराह,
३१. कलिसंतरण, ३२. सरस्वती रहस्य

तेजस्विनावधीतमस्तु
मा विद्विषावहै।।
ॐ शान्तिः! शान्ति!! शान्तिः!!!

सामवेद

१. केन, २. छान्दोग्य,
३. आरुणिक, ४. मैत्रायणी,
७. योगचूड़ामणि, ८. वासुदेव,
९. अव्यक्त, १२. कुण्डिका,
११. सावित्री, १४. रुद्राक्ष जाबाल,
१५. जाबाल दर्शन, १६. जाबाली

ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो
बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म
निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्व-
निराकरण मेऽस्तु तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते
मयि सन्तु ते मयि सन्तु।
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

अथर्ववेद

१.प्रश्न, २ मुण्डक, ३. माण्डूक्य,
४. अथर्वशिरः, ५. अथर्वशिखा,
६. बृहज्जाबाल, ७. नृसिंहतापिनी,
८. नारदपरिब्राजक, ९. सीता,
१०. शरभ, ११. त्रिपाद्विभूति महानारायण
१२. रामरहस्य, १३. रामतापिनी, १४. शाण्डिल्य,
१५. परमहंस, १६. अन्नपूर्णा १७. सूर्य, १८. आत्मा,
१९. पाशुपतब्रह्म, २०. परब्रह्म, २१. त्रिपुरातापिनी,
२२. देवी, २३. भावना, २४. ब्रह्मबिन्दु, २५. भस्मजाबाल,
२६. गणपति, २७. महावाक्य, २८. गोपालतापिनी,
२९. कृष्ण, ३० हयग्रीव, ३१. दत्तात्रेय, गरुड़

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवांसंस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु
ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

उपनिषद् विद्या सार्वभौम है अर्थात् पात्र को ध्यान में रखकर प्रत्येक देश एवं काल में विश्व के प्रत्येक क्षेत्र, जाति, धर्म, सम्प्रदाय से परे हटकर उपदेष्टव्य है। उपनिषद् शास्त्र की इसी सार्वभौमिक एवं अभ्युदय निःश्रेयसात्मक स्वरूप विषयक सन्दर्भों को हृदयङ्गम करके जोधपुर के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक दुर्ग मेहरानगढ़ में विराजित पराम्बा भगवती की अहैतुकी अनुकम्पा से मारवाड़-जोधपुर के राजपरिवार द्वारा संरक्षित एवं संवर्धित भारतीय विद्या, विशेषकर देववाणी संस्कृत भाषा में ऋषियों-महर्षियों द्वारा संजोये गये ज्ञान को सर्वलोक को सुगम बनाने की दृष्टि से मारवाड़ नरेश महाराजा गजसिंह साहब के राजतिलकोत्सव के उपलक्ष्य में महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश

शोधकेन्द्र के तत्त्वावधान में ८-९ दिसम्बर, २०१२ को चोखेलाव महल में महाराजा साहब के शुभ अभिनन्दन के साथ उनकी अध्यक्षता में द्विदिवसीय अखिल भारतीय-विद्वत्सङ्गोष्ठी का आयोजन किया गया। इस अवसर पर शोध केन्द्र के महानिदेशक कुं. डॉ. महेन्द्रसिंह नगर ने देश के प्रतिनिधिभूत विद्वानों के स्वागतपूर्वक शोधकेन्द्र में संरक्षित उपनिषदादि शास्त्रों एवं पाण्डुलिपि रूप में विद्यमान महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का विस्तृत परिचय देते हुए शोध केन्द्र की समस्त शैक्षणिक गतिविधियों की जानकारी दी तथा समस्त विद्वानों का आह्वान किया कि वे मनन-चिन्तन द्वारा उनमें अन्तर्हित सत्य का प्रकाशन करें। विषयप्रवर्तक महामहोपाध्याय प्रो. दयानन्द भार्गव ने ऋषियों की शैली में जनक-याज्ञवक्ल्य संवाद के माध्यम से ब्रह्म ज्ञान एवं लौकिक सम्पदा अर्थात् अभ्युदय के साथ निःश्रेयस की प्राप्ति को आवश्यक बतलाया। मुख्यातिथि रूप में सी.बी.आई जयपुर के उपमहानिदेशक (वर्तमान महानिदेशक) श्री सुरेश राजपुरोहित ने 'समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं' उपनिषद् वचन द्वारा गुरु का सान्निध्य प्राप्त कर ज्ञानाधिगम पर बल दिया। विशिष्ट अतिथि जम्मू स्थित राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान के उपाचार्य डॉ. हरिनारायण तिवारी ने मनुस्मृति को विश्व के सभी संविधानों का मूल बताते हुए उसके आठवें अध्याय में वर्णित अट्ठारह दण्ड विधानों का विस्तृत विवेचन किया। उद्घाटन समारोह के अध्यक्ष पद से बोलती हुईं राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर की अध्यक्ष डॉ. सुषमा सिंघवी ने ईशोपनिषद् के मन्त्रों की प्रासङ्गिकता को ध्यान में रखकर 'अपरिग्रह' पर विशेष दृष्टिपात किया। अपने सान्निध्य से सङ्गोष्ठी को गरिमामय बनाते हुए महाराजा साहब श्री गजसिंह जी ने मुक्तकण्ठ से यह कहा कि सङ्गोष्ठियों के साथ-साथ रक्षाबन्धन, विजयादशमी, होली सदृश अपने धार्मिक पर्वों के बारे में भी समय-समय पर जानकारी देते रहना विद्वज्जन का कर्तव्य है जिससे भविष्य में भी हमारी संस्कृति अक्षुण्ण बनी रहे।

पिछले वर्ष स्मृति एवं धर्मशास्त्र सम्बन्धी विषयों को आधार बनाकर आयोजित सङ्गोष्ठी में जिस प्रकार जोधपुर की महारानी श्रीमती हेमलता राज्ये साहिबा का शुभपदार्पण हुआ था उसी प्रकार इस सङ्गोष्ठी के उद्घाटन सत्र के साथ सम्पूर्ति सत्र में उनका शुभागमन हुआ तथा उनके ये विचार कि 'इस प्रकार की विद्वत्सङ्गोष्ठियाँ विचारमननपूर्वक हमें न केवल प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की परम्परा का परिचय करवाती हैं अपितु हमारी संस्कृति को पुनः प्रतिष्ठित करने में सहायक बनती है... विद्या के द्वारा ही अमृतत्व की प्राप्ति सम्भव है। अतः सम्पूर्ण देश से पधारे इन मनीषियों के अमृत वचन रूपी बून्दों के संग्रह से यह जोधपुर का अमृत कलश पूर्ण हुआ है, जिससे सम्पूर्ण जगत् आप्यायित होगा— ऐसा मेरा विश्वास है... ये सभी वचन निश्चित रूप से आज के इस आपाधापी

भरे जीवन में संस्कृति और संस्कृत भाषा के संरक्षण में उचित मार्गदर्शन करेङ्गे।

द्वि-दिवसीय इस उपनिषद् शास्त्रीय सङ्गोष्ठी में विषय व्यवस्थापन की दृष्टि से मुख्यरूप से छः विभाग किए गए जो इस प्रकार हैं—

१. उपनिषद् साहित्य में वर्णित अध्यात्म एवं विज्ञान।
२. उपनिषद् व दार्शनिक सम्प्रदाय
३. प्रस्थानत्रयी का वैशिष्ट्य
४. श्रीमद्भगवद्गीता का औपनिषदिक स्वरूप
५. उपनिषदों का सृष्टि विद्या विषयक चिन्तक
६. उपनिषदों की सार्वभौमिकता

इन विषयों को भी छः छः उपशीर्षकों के रूप में व्यवस्थित करके विवेचन की दृष्टि से विस्तार कर दिया गया। फलतः ३६ शोधपत्रों की विस्तृत चर्चा के साथ प्रस्तुति हुई।

इस सङ्गोष्ठी से यह बात स्पष्ट हुई कि उपनिषद् का एक अर्थ रहस्यविद्या है तथा दूसरा अर्थ समीप में बैठना भी है। चूँकि देश के विभिन्न भागों से आये विद्वान् साथ-साथ बैठे, इसलिए यह सङ्गोष्ठी भी एक उपनिषद् ही हो गई। दूसरी बात उपनिषदों की शैली संवाद की शैली है, सभी ऋषि एक तरह से बात नहीं करते हैं अपितु भिन्न-भिन्न ऋषि अपना-अपना अलग मत प्रकट करते हैं। किन्तु इस मतभेद की भिन्नता के कारण विवाद पैदा न होकर संवाद होता है। इस सङ्गोष्ठी को भी भिन्न-भिन्न परिप्रेक्ष्य में देखा गया किन्तु उसके कारण कोई विवाद पैदा नहीं हुआ अपितु वाद हुआ और 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' के अनुसार कुछ तत्त्व भी हमें प्राप्त हुए। उदाहरणतः एक बात यह सामने आई कि हम सब एक हैं, यह जो अनेकता दिखाई पड़ती है, यह आभास मात्र है, वास्तविक नहीं है। प्राणिमात्र का उद्देश्य तो दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति है किन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति मूलभूत एकता को समझने से ही हो सकती है वही मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य है। उस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किया गया पुरुषार्थ ही जीवन की सार्थकता है। उपनिषदों का यह सन्देश सार्वभौम और सार्वकालिक है। इस सङ्गोष्ठी की विशेषता यह भी रही है कि इसमें पुरानी पीढ़ी और नई पीढ़ी के बीच सन्तुलन बना रहा। हमें यह आश्वासन मिला कि पुरानी पीढ़ी के मार्गदर्शन में उसका स्थान लेने के लिए नई पीढ़ी तैयार हो रही है। किसी भी सङ्गोष्ठी की यह एक बड़ी विशेषता होती है कि उसमें एक नई सङ्गोष्ठी का जन्म हो जाए। इस सङ्गोष्ठी में उपनिषदों पर विचार हुआ, यह वेद का एक भाग है। वेद का दूसरा महत्त्वपूर्ण भाग ब्राह्मण ग्रन्थ है। यहाँ यह निर्णय लिया गया कि अगली सङ्गोष्ठी ब्राह्मण ग्रन्थों पर होगी। एक गोष्ठी हम स्मृति-साहित्य पर कर चुके हैं।

इस प्रकार ये गोष्ठियाँ परस्पर सम्बद्ध हैं और यह आशा की जा सकती है कि राजपरिवार के आशीर्वाद से और विद्वानों के सहयोग से यदि यह धारा इसी प्रकार प्रवाहित होती रही तो इतिहास में मेहरानगढ़ का नाम ऐसी गङ्गोत्री के रूप में अङ्कित होगा, जहाँ भारतीय-संस्कृति की धारा नया रूप धारण करते हुए प्रवाहित हुई है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि इस सङ्गोष्ठी में जो विद्वान् उपस्थित हुए, वे अपने-अपने विषय के शिखर पुरुष हैं। ऐसे विद्वानों का समवेत होना भगवत्कृपा के बिना सम्भव नहीं है। मैं मानता हूँ कि यह भगवत्कृपा मारवाड़ के राजपरिवार की तपस्या और उपासना का ही फल है।

जिस सूर्यनगरी जोधपुर को यह सङ्गोष्ठी आयोजित करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ उसके नैसर्गिक सौन्दर्य का स्मरण किए बिना सङ्गोष्ठी की पूर्णता नहीं समझी जाएगी। अतः— दुग्धधवलभवनालिभिर्गगनं लिहाना, विपुलफलकुसुलसमृद्धिभिः सुरम्यो-पवननिकरैः परितो हरिता ललिता वलिता च, विविधविद्योद्गमस्थलीव, सकलधर्म-सद्भावनासङ्गमसरिदिवेयम् आर्यावर्ततिलकायमाना, भूमण्डलमुकुटायमाना, सूर्यप्रभा-मण्डलमण्डिता देवलोकान्निपतिताऽमरावतीव विराजतेतरां जोधपुरनामधेया सूर्यनगरी।

अत्र नानारत्ननिचयानां सप्तवर्णमरीचिभिरापणवीथयश्चेन्द्रधनुः कान्तिकलापमासाद्य विद्योतन्तेतराम्। प्रातमङ्गलवाद्यध्वनिभिः जागृताः जनाः परमपवित्रं दुःखददुरितखनित्रं मन्त्रध्वनिं श्रावं श्रावं दरीदृश्यन्ते परमपवित्रचरित्राः सदाचारविचारपरायणाः।

चेतश्चमत्कारिभिः स्थापत्यकलाकलापैर्मण्डिलं ललितं वलितं च पराम्बानुकम्पया शोभायमानमेनं मेहरानगढ़दुर्गमवलोकनाय प्रतिवर्षं समागच्छन्ति सहस्राधिकाः वैदेशिकाः। दर्शं दर्शं चास्य कलाकौशलवैभवं भवन्त्याश्चर्यवारिधिनिमग्नाः।

उम्मेदभवनं विविधकलाविभूतिविलासशरणं सकलवसुधाया अलङ्करणमिव विलसतितराम्। पर्यटकाः नयनाभिरामं शोभाविरामम् उम्मेदभवनं विलोक्य अतिहर्ष-प्रकर्षतामनुभवन्ति, वदन्ति च सहसा महच्चित्रं महच्चित्रमेतदिति।

अपरिमितविद्यावारिधिमन्दरायमाणैः विद्याचणैः वाक्चणैश्च स्वनामधन्यैः विद्वन्मूर्धन्यैः संवलितः ललितः जयनारायणव्यासविश्वविद्यालयो विलसतितराम् इति जानन्त्येव सरस्वतीचरणारविन्दमकरन्दपानपटीयांसो विद्वांसः प्रेयांसश्छात्राश्च। मन्दिर-मस्जिद गिरिजालयैश्च मण्डिता सेयं सूर्यनगरी सर्वधर्मसमभावं प्रकाशयन्तीव विराजते। चलचित्रनिर्माणपटीयांसः प्रतिवर्षमहमहमिकया चात्रागत्य चित्रपटनिर्माणं विधाय मोदन्तेतराम्। घूमरभवई कालवेरिया नृत्याणि सुमधुराणि च लोकगीतानि मनांसि रञ्जयन्ति सहसा सचेतसाम्। विश्वविश्रुतैः दुर्गादासादिभिर्वीरवरैः विविधविद्यापारंगतैर्मण्डिता धन्येयं सूर्यनगरी। एवंविधवैशिष्ट्यभावभरितायामस्यां नगर्याम् अत्रभवतां पौनः पुन्येन अभि-

नन्दनम्। स्वागतं भवतां समस्तसतां समुन्नतचेतसाम्।

वस्तुतः उपनिषदों के महत्त्व का आकलन करके हमारी परम्परा में आचार्य शङ्कर से लेकर पं. मधुसूदन ओझा, पण्डित मोतीलाल शास्त्री, डॉ. राधाकृष्णन्, पं. चन्द्रबली त्रिपाठी सदृश मनीषियों ने अपने उपनिषदीयभाष्यों टीकाओं एवं विवेचनों से हमारा जो मार्गदर्शन किया है उन सबके प्रति कृतज्ञ रहते हुए सङ्गोष्ठी में पठित एवं चर्चित शोध आलेखों को संगृहीत कर ग्रन्थ रूप में निबद्ध करते हुए अत्यधिक आनन्द की अनुभूति हो रही है। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्राप्त दिशा-निर्देशों एवं सहयोग से सभी के प्रति आभार व्यक्त करते हुए भगवती पराम्बा से यह प्रार्थना है कि वह सारस्वत यज्ञ के फलश्रुति रूप **औपनिषदरहस्यम्** नामक इस ग्रन्थ को विद्वज्जन का कण्ठहार बनाये, जिससे समस्त लोक हमारे ऋषियों के सन्देश को हृदयङ्गम करके विश्वशान्ति के राजमार्ग पर अग्रसर हो सके।

प्रो. सत्यप्रकाश दुबे
आचार्य एवम् अध्यक्ष
संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास वि.वि., जोधपुर

डॉ. दिलीप कुमार नाथाणी
प्रभारी, संस्कृत शोध प्रकोष्ठ,
महाराजा मानसिंह पुस्तकप्रकाश
शोधकेन्द्र, मेहरानगढ़ दुर्ग, जोधपुर

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	लेखक	पृ.सं.
१.	उपनिषदों का प्रतिपाद्य अभ्युदय या निःश्रेयस	प्रो. धर्मचन्द जैन	०१
२.	उपनिषदों का शाश्वत सन्देश	पं. परशुराम दवे	०८
३.	उपनिषद् सम्बन्धी कतिपय समस्याओं का निराकरण	प्रो. गणेशी लाल सुथार	२९
४.	औपनिषद तत्त्वचिन्ता एवं ऐहिक जीवन	डॉ. प्रवीण पण्डया	३६
५.	प्रमुख उपनिषदों में आत्म मीमांसा	डॉ. शारदा गौतम	४२
६.	उपनिषदों में प्राण तत्त्व- पं. मधुसूदन-ओझा के आलोक में	डॉ. दिलीप कुमार नाथाणी	५९
७.	उपनिषदों में आश्रम धर्म	डॉ. नितेश व्यास	७०
८.	'जीवो न ब्रह्म' इति वेदान्त सिद्धान्तः	डॉ. हरिनारायण तिवारी	८०
९.	उपनिषद् संवाद के अन्तर्गत यम और नचिकेता संवाद	डॉ. ठाकुर दत्त जोशी	८६
१०.	उपनिषदों में ब्रह्म का युग्म रूप	डॉ. दीपा माथुर	९१
११.	उपनिषद् वाङ्मय में वाक्तत्त्व का स्वरूप	डॉ. महेश चन्द्र	९७
१२.	उपनिषदों में मूल्य परक शिक्षा तथा वर्तमान समय में उसकी उपादेयता	डॉ.चन्दा कुमारी	१०५
१३.	उपनिषदों का अभ्युदय निःश्रेयसात्मक स्वरूप	डॉ. सुमिता व्यास	११२
१४.	उपनिषद्- एक दार्शनिक चिन्तन	डॉ.श्याम लाल	११८
१५	मुण्डकोपनिषद् में अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की अवधारणा	डॉ. सुनीता जायसवाल	१२४
१६.	पञ्चकोश समीक्षण	डॉ. पूर्णानन्द पूर्णपन्थी	१३२
१७.	कठोपनिषद् में वर्णित श्रेयस् और प्रेयस् विषयक मूल्यबोध	डॉ. यादराम मीणा	१३७
१८.	कठोपनिषद् में श्रेयः तत्त्व विमर्श	डॉ. श्वेता जैन	१४२
१९.	छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित आहारशुद्धि	प्रो. चन्द्रशेखर	१४९
२०.	आहारशुद्धि-छान्दोग्योपनिषद् के आलोक में	डॉ. हेमलता जैन	१५२

२१.	उपनिषदों में मनोविज्ञान	देवर्षि कलानाथ शास्त्री	१५५
२२.	उपनिषदों में योगविज्ञान संवाहत्व	डॉ. रानी दाधीच	१६०
२३.	याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद विमर्श	डॉ. मोनिका वर्मा	१७२
२४.	ऋग्वेद एवं उपनिषदों में आत्म तत्त्व का समर्पण	डॉ. सहदेव शास्त्री	१७५
२५.	कर्मवाद एवं पुनर्जन्म, औपनिषदिक चिन्तनः एक विहङ्गम दृष्टि	डॉ. अरुणा	१८६
२६.	प्रणवोपनिषद् और त्रिविध सृष्टि	श्री रामनारायण शास्त्री	१९३
२७.	उपनिषदों में नीतिशास्त्र	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	२०२
२८.	उपनिषदों में काव्यतत्त्व	डॉ. दीप्ति राठौड़	२०८
२९.	ब्रह्मसूत्रेषु चिदचिद् विशिष्टं ब्रह्म	डॉ. एन. आर. श्रीधरन	२२०
३०.	श्री अरविन्द का गीता दर्शन	डॉ. अल्का थानवी	२२५
३१.	श्रीमद्भगवद्गीतान्तर्गत अभ्युदय तथा निःश्रेयस् तत्त्व चिन्तन	डॉ. निर्मला उपाध्याय	२३१
३२.	आचार्य शङ्कर का प्रारब्ध विषयक मत	प्रो. प्रभावती चौधरी	२४५
३३.	पं. मधुसूदन ओझा के गीता विज्ञान भाष्य का वैशिष्ट्य	प्रो. सत्यप्रकाश दुबे	२५१
३४.	उपनिषत्सु वाक्तत्त्वसमीक्षणम्	डॉ. प्रमोदकुमार शर्मा	२३७
३५.	श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण तत्त्व	डॉ. दीपमाला	२८०
३६.	नैषधीय चरित में वेदान्ततत्त्व	डॉ. स्मिता सारस्वत	२८७
३७.	उपनिषदों में आत्म तत्त्वः कठोपनिषद् के विशेष सन्दर्भ में	डॉ. शैलेन्द्र स्वामी	२९५

उपनिषदों का प्रतिपाद्य : अभ्युदय या निःश्रेयस?

प्रो. धर्मचन्द जैन
आचार्य, संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर (राज.)

भारतीय चिन्तन धारा में लौकिक अभ्युदय एवं परम निःश्रेयस दोनों की अवाप्ति का महत्त्व रहा है। वेद एवं ब्राह्मण ग्रन्थ जहाँ लौकिक एवं पारलौकिक अभ्युदय की प्रधानता का प्रतिनिधित्व करते हैं वहाँ आरण्यक एवम् उपनिषद् परम निःश्रेयस की प्राप्ति को प्राधान्य देते हैं। उपनिषद् वाङ्मय भी विशाल है। आज २०० से अधिक उपनिषदें उपलब्ध हैं, जिनमें ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् प्रमुख एवं प्राचीन उपनिषदें मानी गई हैं। वेद शब्द यद्यपि ज्ञानार्थक है, किन्तु ज्ञान की वास्तविक धारा हमें उपनिषदों में दृग्गोचर होती है, इसीलिए वेद-परम्परा में उपनिषदों को वेदान्त कहा गया है। ज्ञान का रहस्य उपनिषदों में उपलब्ध है। एक प्रकार से वेदाभ्यास जड़ की मान्यता का अन्त दिखाई देता है एवं एक नई चेतना तथा ऊर्जा का अनुभव होता है। उपनिषदों में वैदिक देवताओं एवं उनकी स्तुतियों का प्रायः अभाव है। ब्राह्मण ग्रन्थ जिस प्रकार वेदमन्त्रों की व्याख्या करते हैं, इस प्रकार उपनिषद् वेदमन्त्रों के व्याख्या ग्रन्थ नहीं हैं। उपनिषद् वाङ्मय का प्रमुख प्रतिपाद्य अमृतत्व की प्राप्ति है इनका उद्देश्य मानव को असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाना है। इनमें लौकिक अभ्युदय को कहीं भी प्रोत्साहित नहीं किया गया है क्योंकि लौकिक अभ्युदय के प्रति आकृष्ट व्यक्ति वहीं अटक जाता है, वह परम तत्त्व ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति के प्रति प्रयत्नशील नहीं हो पाता है। जबकि उपनिषद् अमृतत्व प्राप्त कराने वाली महत्ता का प्रतिपादन करते हैं। यह तथ्य ईशावास्योपनिषद्, कठोपनिषद्, छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् आदि उपनिषदों से सिद्ध होता है। उपनिषद् वाङ्मय का प्रतिपाद्य अमृतत्व अथवा ब्रह्मविद्या के रूप में निःश्रेयस है, लौकिक अभ्युदय तो कृषि में उत्पन्न धान्य के साथ प्राप्त चारे के समान प्रसङ्गतः प्राप्त होता है। निःश्रेयस (अमृतत्व, ब्रह्मस्वरूप) की प्राप्ति हेतु जीव के द्वारा निःश्रेयस का वरणीय होना आवश्यक है। जो काम-भोगों की अपेक्षा अमृतत्व को वरणीय मानता है, उसे अमृतत्व की प्राप्ति हो सकती है। जो उसे वरेण्य ही नहीं मानता है ...अमृतत्व

की प्राप्ति सम्भव नहीं । इसलिए मुण्डकोपनिषद् में कहा है–

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।[1]

वरस्तु मे वरणीयः स एव।[2]

यह एक प्रकार दृष्टि का सम्यक् होना है, जो जीव का एक पारमार्थिक अभ्युदय है इस दृष्टि से सम्पन्न होकर ही वह विद्या से सम्पन्न कहलाता है। अमृतत्व की प्राप्ति में विद्या एक साधन है। विद्या के साथ की गई सत्य, तप आदि की साधना भी परमार्थतः अभ्युदय है, क्योंकि वह भी अमृतत्व की ओर ले जाने में सहायक है। बलहीन के द्वारा आत्मतत्त्व को प्राप्त ही नहीं किया जा सकता नायमात्मा बलहीन लभ्य । शङ्कर ने बलहीन का अर्थ किया है— **बलप्रहीणेन आत्मनिष्ठाजनितवीर्यहीनेन।** अर्थात् आत्मा के प्रति निष्ठा रखकर जो पुरुषार्थ करता है उसे आत्मतत्त्व प्राप्त होता है। मात्रविद्या अथवा ज्ञान ही पर्याप्त नहीं, संन्यासयोगपूर्वक यत्न भी आवश्यक है, इसीलिये कहा है– **वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः, संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्त–काले, परामृताः परिमुच्यति सर्वे।**[3] वैशेषिक सूत्र की चन्द्रानन्दवृत्ति में अभ्युदय का अर्थ इस प्रकार किया गया है— **अभ्युदय ब्रह्मादिलोकेष्विष्टशरीरप्राप्तिनर्थोपरमश्च।** अर्थात् ब्रह्मादि लोक में इष्टशरीर की प्राप्ति होना तथा अनर्थ से उपरत होना अभ्युदय है। लौकिक कामनाओं की पूर्ति में संलग्न रहने वाला व्यक्ति अनर्थ से उपरत नहीं हो पाता है। अतः अनर्थकारी पापकारी कार्य करने का त्याग भी एक प्रकार से अभ्युदय है। ऐसा अभ्युदय निःश्रेयस में सहायकभूत है, यह एक प्रकार से चेतना का ही अभ्युदय है। यदि लौकिक अभ्युदय होने पर व्यक्ति अमृतत्व की प्राप्ति के लिए उसका दान आदि के द्वारा सदुपयोग करता है तो वह अभ्युदय भी निःश्रेयस में सहायक हो सकता है, किन्तु पद, पैसा, प्रतिष्ठा आदि लौकिक अभ्युदय में जो आसक्त हो जाता है, उसके लिए निःश्रेयस का पथ अवरुद्ध हो जाता है। निःश्रेयस की अवाप्ति आसक्ति से नहीं। इसीलिए ईशावास्योपनिषद् में **तेन त्यक्तेन भुजीथाः** का संदेश दिया गया है, कि जो कुछ प्राप्त है, उसका त्याग भाव से सेवन करो उसमें आसक्त मत बनो। कोई यह कहे कि धन–धान्यादि साधन सामग्री के होने पर ही धर्म में प्रवृत्त हुआ जा सकता है, उसके अभाव में यह उपयुक्त नहीं, क्योंकि आसक्ति का त्याग मुख्य है। जो व्यक्ति इन वस्तुओं के प्राप्त न होने पर भी अनासक्त हो जाता है तो वह भी निःश्रेयस की ओर चरण बढ़ा लेता है, विभिन्न वस्तुओं की प्राप्ति होने पर उनका अनासक्त भाव से अथवा त्यागभाव से सदुपयोग करता है वह भी निःश्रेयस को प्राप्त करने में सक्षम होता है। 'उपनिषद्' नाम ही इनकी महत्ता को उजागर करता है। उप+नि+ षदलृ धातु से 'क्विप्' प्रत्यय करने पर उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है इसमें प्रयुक्त सद् धातु तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है। विशरण यानि विनाश एवं गति या ज्ञान

१ मुण्डकोपनिषद् ३.२.३

२ कठोपनिषद् १.१.२७

३ मुण्डकोपनिषद् ३.२.६

एवं प्राप्ति तथा अवसादन या शिथिलता । इन अर्थों के अनुसार उपनिषद् का अर्थ इस प्रकार अभिव्यक्त किया जाता है– **उपनिषादयति सर्वानर्थकरसंसारं विनाशयति, संसारकारणभूतामविद्याञ्च शिथिलयति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।**[४]

अर्थात् जो समस्त अर्थकारी संसरण का नाश करती है, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती है तथा ब्रह्म को प्राप्ति कराती है। वह उपनिषद् है। उपनिषद् शब्द के अन्य भी अर्थ हैं–(१) आत्मस्वरूप के समीप बैठना, गमन करना आत्मस्वरूप को जानना उपनिषद् है। (२) आत्म-स्वरूप के सन्निकट ले जाने वाला रहस्यमय ज्ञान उपनिषद् है (३) ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कराने के कारण इसे ब्रह्मविद्या अथवा अध्यात्मविद्या भी कहा गया है। उपनिषद् को वेदान्त भी कहा गया है, क्योंकि वेद (तत्त्ववेद) अर्थात् ज्ञान का रहस्य या सिद्धान्त इसमें निरूपित है। वेद अनन्त है– **अनन्ता वै वेदाः।** उपनिषद् इसी तत्त्ववेद के रहस्य का उद्घाटन करते हैं। उपनिषदों का प्रतिपाद्य निःश्रेयस है तथा इस दृष्टि से वे वेद से कुछ विशिष्टता रखते हैं, जो अग्राङ्कित बिन्दुओं से स्पष्ट होती है।

१. निष्काम कर्मता को महत्त्व :– वेद जहाँ सकामकर्म तथा निष्काम कर्म दोनों का ही प्रतिपादन करते हैं वहाँ उपनिषद् मात्र निष्काम कर्म को प्रतिष्ठित करते हैं। वेद में प्रायः सर्वत्र विभिन्न अभिलाषाओं की पूर्ति हेतु विभिन्न देवों की स्तुतियाँ की गई हैं। इन्द्र, वरुण, उषस्, पृथ्वी आदि सूक्तों में देवता की स्तुति के साथ लौकिक जीवन की समृद्धि एवं आपदाओं के विनाश हेतु प्रार्थना की गई है। ऐसे मन्त्र सकाम कर्म की प्रकृति को प्रोत्साहित करते हैं, क्योंकि प्रेय का भी लोक की दृष्टि से महत्त्व सिद्ध है। परिवार, कृषि, पशु-सम्पदा एवं विविध प्रकार की धन-सम्पदा हेतु प्रार्थना वेद-मन्त्रों में स्पष्ट रूपेण की गई है। ब्राह्मण ग्रन्थों में उन वेदमन्त्रों की व्याख्या करने के साथ यज्ञ का जो विधान किया गया है वह विभिन्न प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करते हुए आध्यात्मिक उन्नति को भी प्रशस्त करता है। भिन्न-भिन्न कामनाओं की पूर्ति के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञ हैं, यथा स्वर्ग की प्राप्ति के लिए अग्निहोत्र यज्ञ, पुत्र की प्राप्ति के पुत्रेष्टि यज्ञ आदि। अतः सकाम एवं निष्काम दोनों ही प्रकार के कर्मों को मन्त्र एवं ब्राह्मणग्रन्थ दोनों पुष्ट करते हैं। इसलिए ये दोनों वेद नाम से अभिहित किए गए हैं— **मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्।** वेद के इस स्वरूप लक्षण से उपनिषद् नितान्त भिन्न हैं।

उपनिषदों में निष्काम कर्मयोग को प्रश्रय दिया गया हैं वहाँ सकाम कर्म को हीन कोटि में रखा गया है। छान्दोग्योपनिषद् में ज्ञान, कर्म तथा उपासना तीनों का विशद निरूपण है ज्ञान की प्राप्ति में कर्म एवं उपासना को साधन बनाया गया है। जीव, मन, विक्षेप एवम् आवरण इन तीन शक्तियों से आवरित है। इनमें मन अर्थात् अन्तःकरण के मलिन संस्कारजनित दोषों की निवृत्ति निष्काम कर्म से होती है। विक्षेप अर्थात् चित्त की चञ्चलता

४ (उपनिषद् अङ्क कल्याण)

का नाश उपासना से बताया गया है और आवरण अर्थात् स्वरूप-विस्मृति अथवा अज्ञान का नाश ज्ञान से बताया गया है[५]। छान्दोग्यापनिषद् यद्यपि सामवेद के तलवकार ब्राह्मण के अन्तर्गत आता है, तथापि सकाम कर्म को प्रोत्साहित न कर, निष्काम को प्रतिष्ठित करने के कारण यह उपनिषद् की कोटि में समाविष्ट हुआ है। सकाम कर्म से मनुष्य स्वर्ग लोक तक जाता है, किन्तु पुण्य क्षीण होने पर पुनः मनुष्य लोक में आ जाता है- **क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति**। जबकि निष्काम कर्म का साधक मनुष्य मुक्ति को प्राप्त करता है।

२. अमृतत्व की प्राप्ति को ही लक्ष्य:- उपनिषदों में अमृतत्व की प्राप्ति का लक्ष्य निर्धारित किया गया है, जबकि वेद में अनित्य सुख-सम्पदा की प्राप्ति को भी ध्येय बताया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१-३-२८) **मृत्योर्माऽमृतं गमय** वाक्य यही सन्देश देता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में अमृतत्व की प्राप्ति को सर्वाधिक महत्त्व देती है। कठोपनिषद् में नचिकेता अमृतत्त्व की प्राप्ति का अभिलाषी है प्रायः सभी उपनिषद् मृत्यु से अमरत्व की ओर जाने की प्रेरणा करते हैं। ईशोपनिषद् में भी कहा है- 'विद्ययामृतमश्नुते' विद्या के द्वारा अमृत को प्राप्त किया जा सकता है। केनोपनिषद् में भी अमृतत्व की प्राप्ति के लिए विद्या को साधन निरूपित करते हुए कहा गया है— **'विद्यया विन्दतेऽमृतम्।'**[६] अमृतत्व कब प्राप्त होता है, इसके लिए कठोपनिषद् में कहा गया है-

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशसनम्।।[७]

३.प्रेय की अपेक्षा श्रेय का महत्त्व :- उपनिषदों में प्रेय एवं श्रेय का भेद स्पष्ट किया गया है। प्रेय हमें आकर्षक एवं प्रिय लगता है, जबकि श्रेय हमारे लिए सर्वथा कल्याणकारी होता है। प्रेय को जीवन का मानदण्ड बनाने वाला व्यक्ति पद, पैसा, प्रतिष्ठा एवं भोगजन्य सुखों की प्राप्ति को ही सब कुछ मान लेता है एवं उन्हीं में अटक जाता है। वह फिर परम निःश्रेयस अथवा मोक्ष के लिए प्रयत्नशील नहीं हो पाता है। इसलिए कठोपनिषद् में नचिकेता सैकड़ों वर्षों की आयु वाले पुत्र-पौत्रों, बहुत से पशुओं, हाथी घोड़ों, स्वर्ण भूमि एवं दीर्घजीवन के प्रस्ताव से भी सन्तुष्ट नहीं होता है तथा आत्मविद्या या ब्रह्मविद्या को ही अपना उच्च लक्ष्य बनाता है। आज इस बाह्य सम्पदा की प्राप्ति को अभ्युदय समझा जा रहा है, किन्तु उपनिषद्-वाङ्मय इसे अभ्युदय की कोटि में नहीं रखता। इसे प्रेय कहकर तिरस्कृत कर देता है। वहाँ स्पष्ट कहा गया है-

५ छान्दोग्योपनिषद् प्रथम पाँच अध्यायों में मुख्य रूप से उपासनाओं का वर्णन है और अन्तिम तीन अध्यायों में ज्ञान एवं कर्म का निरूपण है।

६ केनापनिषद् २.४

७ कठोपनिषद् २.३.१४.१५

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।[८]

अर्थात् मनुष्य के समक्ष श्रेय भी आता है एवं प्रेय भी आता है। धीर पुरुष इनमें भलीभाँति भेद समझता है तथा प्रेय की अपेक्षा श्रेय का वरण कर लेता है, किन्तु मन्दबुद्धि व्यक्ति योगक्षेम के कारण प्रेय का वरण करता है। इसका तात्पर्य है कि योगक्षेम को भी प्रेय के अन्तर्गत स्थान दिया गया है। अप्राप्त की प्राप्ति योग तथा प्राप्त की संरक्षा क्षेम कहलाता है। जो पद, पैसा, प्रतिष्ठा अथवा भोग योग्य सामग्री प्राप्त नहीं थी , उसका प्राप्त हो जाना योग है एवं उसके प्राप्त होने पर बने रहना क्षेम है। योगक्षेम की चाह प्रत्येक संसारी मनुष्य को होती है, किन्तु निःश्रेयस स्वरूप मुक्ति का वरण करने वाले के लिए योगक्षेम की चाह भी एक अटकाव है। इसलिए भगवद्गीता में भी कहा है–

त्रैगुण्यविषया वेदा, निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।[९]

इस श्लोक में श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को निर्योगक्षेम एवं आत्मवान् होने की प्रेरणा की गई है। जो योगक्षेम की इच्छा का त्याग कर देता है वह निर्योगक्षेम कहलाता है तथा ऐसा व्यक्ति ही आत्मवान् हो सकता है। यहाँ पर उपनिषद् और वेद की विषयवस्तु के भेद का भी स्पष्ट प्रतिपादन हुआ है। वेद जहाँ सत्त्व, रज, एवं तमोगुण को विषय करते हैं वहाँ उपनिषद् इन गुणों की इच्छा से रहित होने को प्रेरित करता है– निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन! जो त्रिगुणों से युक्त रहेगा एवं उनमें आसक्त रहेगा वह अपने को जड़ प्रकृति से पृथक् अनुभव नहीं कर सकेगा। इसलिए आत्मवान् बनना ही श्रेयस्कर है। आत्मवान् ही श्रेय का वरण करता है। जो श्रेय का वरण करता है उसका कल्याण होता है।

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः तयोः श्रेय आददानस्य साधु, भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते।।[१०]

श्रेय एवं प्रेय का भेद जानना आवश्यक है। दोनों पुरुष को आकृष्ट करते हैं, किन्तु जो श्रेय को ग्रहण करता है उसका भला होता है तथा जो प्रेय का वरण करता है उसकी हानि होती है।

उपनिषद् एवं श्रमण दर्शनों में ऐक्यः– उपनिषद् एवं श्रमण परम्परा के दर्शन इस बिन्दु पर एक मत दिखाई देते हैं कि प्रेय की अपेक्षा श्रेय वरणीय है। जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है— **सव्वं जगं जइ तुहं, सव्वं वावि धणं भवे।**
सव्वं पि ते अपज्जतं नेव ताणाय तं तव।।[११]

---

८ कठोपनिषद् १.२.२
९ गीता २.४५
१० कठोपनिषद् १.२.१
११ उत्तरा. १४.३९

यदि सारा जग भी तुम्हारा हो जाए अथवा सारा धन तुम्हारा हो जाए, तो भी वह सारा तुम्हारे लिए अपर्याप्त है, वह तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता। आज व्यक्ति समस्त संसार के धन-धान्य का स्वामी बनना चाहता है।, उत्तराध्ययन की दृष्टि में वह भी मनुष्य की लालसा के समक्ष अपर्याप्त ही है। जैनागम इस प्रकार के वाक्यों से भरे पड़े हैं। बौद्धदर्शन में भी तृष्णा के क्षय से ही निर्वाण की प्राप्ति स्वीकार की गई है। वहाँ इन समस्त भोगों को अनित्य, अनात्म एवं दुःखरूप प्रतिपादित किया गया है। दुःख से मुक्त होने के लिए जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक् चरित्र का महत्त्व प्रतिपादित है। बौद्धदर्शन में भी सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प आदि के रूप में आष्टाङ्गिक मार्ग प्रतिपादित है, जिसे संक्षेप में प्रज्ञा, शील एवं समाधि के रूप में निरूपित किया गया है। सांख्यदर्शन भी जड़ प्रकृतिजन्य प्रेय होने के कारण को त्याज्य तथा विवेक ख्याति को मोक्ष का उपाय बताता है। योगदर्शन में भी भोगों की ओर उन्मुख क्लिष्ट चित्तवृत्तियों के निरोध का प्रतिपादन है। कठोपनिषद् में नचिकेता के मुख से पुत्र-पौत्र, धन्य-धान्य, हाथी घोड़े आदि को श्वोभाव कहकर उपेक्षित किया गया है-

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव, तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।।[१२]

आत्मज्ञान की महत्ता इन सब भोग्य सामग्रियों से अधिक महत्त्वपूर्ण है संसार में कितना भी जी लिया जाए, वह अल्प ही प्रतीत होता है। इसलिए नचिकेतस् कहता है— **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**[१३] लगभग इसी प्रकार की कथा जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र में भी उपलब्ध होता है- **न वित्तेण ताणं लभी पमत्ते**[१४] प्रमत्त व्यक्ति को धन से त्राण नहीं मिलता। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी याज्ञवल्क्य एवं मैत्रेयी का संवाद इस दृष्टि से रोचक है वहाँ याज्ञवल्क्य कात्यायनी एवं मैत्रेयी को अपनी सम्पत्ति का बँटवारा करना चाहते हैं। तब मैत्रेयी कहती है— **यन्नु म इयं कथं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात्कथं तेनामृता स्यामिति नेति होवाच याज्ञवल्क्यो यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव को जीवित्ँ स्यादमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति।** भगवन्त यदि यह सारी पृथ्वी धन से पूर्ण हो जाए तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी? इस पर याज्ञवल्क्य कहते हैं— नहीं, भोग-सामग्रियों अथवा उपकरणों से सम्पन्न व्यक्तियों का जैसा जीवन होता है। वैसा ही तुम्हारा भी हो जायेगा। धन से अमृतत्त्व की आशा नहीं की जा सकती। इसीलिए नचिकेता ने भी काम-भोग की प्रचुरता से युक्त स्वर्ग के सुखों को देखकर भी उन्हें त्याग दिया। अविद्या से प्रेय एवं विद्या से श्रेय की महत्ता ज्ञात होती है, इसीलिए दोनों का मार्ग विरुद्ध है-

---

१२ कठोपनिषद् १.१.२६
१३ कठोपनिषद्१.१२७
१४ उत्तराध्ययनसूत्र ४.५.

दूरमेते विपरीते विषूची, अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये, न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।।[१५]

अविद्या एवं विद्या एक दूसरे से विपरीत हैं तथा दोनों भिन्न फल देने वाली हैं। अविद्यावान् की रुचि ऐहलौकिक सुख-भोगों में सन्निविष्ट रहती है, जबकि विद्यावान् की रुचि परम नि:श्रेयस की अवाप्ति की ओर उन्मुख रहती है। जिसे काम भोग लोभित नहीं करते वह विद्या का अभीप्सु होता है, जो अविद्या से आच्छन्न जीव है उसे प्रेय भी श्रेय की भाँति प्रतीत होता है। इसलिए मुण्डकोपनिषद् कहता है कि मूढ़ पुरुष प्रेय को ही श्रेय समझ कर उसका अभिनन्दन करता है। तथा जरा एवं मृत्यु को बार-बार प्राप्त होता रहता है-

प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपां, अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा, जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।[१६]

उपसंहार:- उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष सम्प्राप्त होता है कि उपनिषद् वाङ्मय भले ही वेदविद्या के अङ्ग रूप में स्वीकार किए जाते हों, किन्तु इनका प्रयोजन वेदों से कुछ अर्थों में भिन्न है। उपनिषदों में लौकिक अभ्युदय की अनित्यता अथवा नश्वरता स्वीकार की गई है तथा अमृतत्व अविनाशी परम तत्त्व के नि:श्रेयस माना गया है। जिससे बढ़कर कोई श्रेयस्कर न हो अथवा जो नितरां श्रेयस् हो वह नि:श्रेयस होता है। उपनिषदों का प्रतिपाद्य यही नि:श्रेयस् तथा उसमें जो विद्या, कर्म एवं उपासना सहायक है, उससे होने वाला अभ्युदय अभीष्ट है।

---

१४ कठोपनिषद्१.२.४
१५ मुण्डकोपनिषद्१.२.७

उपनिषदों का शाश्वत सन्देश

पं. परशुराम दवे 'कुसुम'
इंजीनियर (बीएसएनएल)

उस अतृप्त एवं अशान्ति की आशङ्का से भयभीत मानव समाज की झुंझलाहट एवं चकाचौंधी कृत्रिमता से छुटकारा पाने को छटपटाती मानवता की चीत्कार हमें विवश कर देती है इस विषय पर सोचने के लिए जहाँ 'दैहिक दैविक भौतिक तापा राम-राज्य काहू नहीं व्यापा' वाली हमारी देशगत संस्कृति सर्वत्र अशान्ति का वातावरण क्यों है? सम्पूर्ण संसार अशान्त क्यों है? कारण स्पष्ट है- आधुनिक विज्ञान यज्ञ के धुएँ से धूसरित अकल्याणमय आलोक से आज संसार ग्रस्त है, भारतवर्ष पर भी इसका प्रभाव परिलक्षित है।

इस अमंगल गलाकाट विज्ञानी प्रतिस्पर्धा के विपरीत शाश्वत शान्ति का महान् व्यापार प्राचीनकाल से भारतवर्ष में था और अब भी है। वह आज के पाश्चात्य विज्ञान की तरह जड़, प्रपञ्च एवं भौतिक जगत् का विज्ञान नहीं, अपितु वह है- चिद् विज्ञान, आध्यात्मिक विज्ञान, नित्य तत्व विज्ञान, सच्चिदानन्द विज्ञान, आत्मा-ब्रह्मा एवं भगवत् विज्ञान। वह है सृष्टि स्थिति, प्रलय भूर्भुवः स्वरादि लोक, देव-दानव-गंधर्वादि, जीव-जाति, जन्म-जरा-मृत्यु, कर्म, सुख-दुःख, पाप-पुण्य, पुरुषार्थ और भगवतस्वरूप लीला-परिक आदि का परमाश्चर्य विज्ञान एवं वह है- इन वेदान्त उपनिषदों में।

आधुनिक भौतिकवादी युग में सर्वत्र अशान्ति व्याप्त है। जगत में पूर्णरूपेण वास्तविक शान्ति हेतु उपनिषदों की शरण में जाना होगा। कठोपनिषद् का स्पष्ट आदेश है- **'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्'**।। यदि जीव स्थायी सुख शान्ति प्राप्त करना चाहता है तो उसे आत्मानुभूति के लिए प्रयत्नशील होना पड़ेगा। अध्यात्म की ओर बढ़े बिना स्थायी सुख शान्ति की प्राप्ति असम्भव है। उपनिषदुक्त आत्म स्वरूप के सम्यक् ज्ञान से ही मनुष्य शोक-मोह से निवृत्त होकर शाश्वती शांति को प्राप्त होता है, बाह्य विज्ञान से सच्ची शान्ति सम्भव नहीं। **'तरति शोकमात्मवित्' 'तत्र को मोहः को शोकः एकतत्वमनु पश्यतः।' 'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति'** इत्यादि उपनिषद् वाक्यानुसार शांति को प्राप्त करने वाले ऋषियों के पवित्र आचारपूर्ण जीवन इसके प्रमाण हैं। व्यक्ति के व्यक्तित्व में बाह्य व्यक्तित्व की अपेक्षा आन्तरिक व्यक्तित्व का अधिक महत्व है। हो यह रहा है कि हम नब्बे प्रतिशत (आन्तरिक

व्यक्तित्व) की उपेक्षा कर मात्र दस प्रतिशत (बाह्य व्यक्तित्व) के लिए ही प्रयासरत रहते हैं। इस असन्तुलित प्रयास में व्यक्ति के व्यक्तित्व का सन्तुलन गड़बड़ा जाता है। व्यक्ति से परिवार, समाज, देश तथा अन्ततः सम्पूर्ण विश्व प्रभावित होता है। अतः व्यक्ति के आन्तरिक व्यक्तित्व को प्रकाशित करना प्रमुख कर्त्तव्य है। उपनिषद् आन्तरिक व्यक्तित्व को निखारने की शिक्षा देते हैं।

उपनिषद् क्या है? उपनिषद् अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या को कहते हैं। वेद का अन्तिम भाग होने से इसे वेदान्त भी कहा जाता है। अपौरुषेय वेद का अन्तिम अध्याय स्वरूप उपनिषद् ज्ञान का आदि स्रोत और विद्या का अक्षय भण्डार है।

उपनिषद् का अर्थ :- परम्परानुसार इस शब्द का अर्थ है- 'उप' अर्थात निकट, 'नि' अर्थात् निकट 'षद्' माने बैठना। अर्थात् गुरु के समीप बैठकर ज्ञानार्जन करना- **'श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्। निदिध्यासनमित्येतत्पूर्ण बोधस्य करणम्।।** (शुक्र रहस्य ३/१३) अर्थात् 'साधनचतुष्टय सम्पन्न जिज्ञासु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के सामीप्य में उपनिषद् तत्व का उपदेश श्रवणकर, तार्किक युक्तियों द्वारा मनन कर, गुरूपदिष्ट ध्यानादि के अभ्यास द्वारा निदिध्यासन पुर्वक **'अहं ब्रह्मास्मि'** विचार पर निष्ठारूढ होकर ब्रह्म सत्ता में प्रवेश कर तद्रूप हो जाता है। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** और 'जीवो ब्रह्मैव नापरः आदि उपनिषद् के आधारभूत सिद्वान्त हैं।

रहस्य के अर्थ में भी 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे **'इत्युपनिषत्'** (तै.) अर्थात परमरहस्यभूत आत्म तत्त्व का बोध कराने वाली विद्या है। रहस्यमय इसलिए कि यह मानव के भीतर ही है, तथापि माया के वशीभूत वह इसे नहीं जानता। अमरकोषकार ने उपनिषद् का अर्थ 'धर्म रहस्युपनिषद् स्यात्' 'गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ' में किया है।

आदिगुरु शङ्कराचार्य के अनुसार उपनिषद् शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्ग के साथ 'सद्' धातु में 'क्विप्' प्रत्यय करने पर बनता है। 'सद्' धातु के तीन अर्थ हैं-विशरण (विनाश), गति (ज्ञान प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना) इस अर्थ में- **'उपनिषादयति सर्वानर्थकरं संसारं विनाशयति, संसारकारणभूताविद्यां शिथिल-यति, ब्रह्म च गमयति इति उपनिषद्।** अर्थात् 'जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले संसार का नाश करती, संसार की कारणभूत अविद्या को शिथिल करती तथा ब्रह्म की प्राप्ति कराती है, वह उपनिषद् है। इसे ब्रह्मज्ञान भी कह सकते हैं।

इस विशाल देश की बहुमुखी साधना, सभ्यता-संस्कृति, साहित्य और शिल्प, विज्ञान और दर्शन, कुल-धर्म, वर्ण-जातिधर्म, समाज धर्म एवं व्यवहार नीति पर ऋषि चेतनालब्ध उपनिषदीय तत्वानुभूति के ऊपर प्रतिष्ठित है। उपनिषद् ही भारतीय संस्कृति के प्राण स्वरूप हैं। इसी से भारतीय संस्कृति को 'आर्य संस्कृति' कहा जाता है। समस्त वेदों का अर्थात् समस्त ज्ञान का जो चरम सत्य है, वही उपनिषदों में समुज्ज्वल रूप में

प्रकट है। उपनिंषद् वेद का चतुर्थ और अन्तिम भाग है, इसलिए इसे वेदान्त (वेद या ज्ञान का अन्त अथवा शिरोभाग) कहा जाता है। प्रत्येक वेद के चार भाग होते हैं- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। जहाँ संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है, वहीं उपनिषद् ज्ञान काण्ड से सम्बन्धित है। सृष्टि का मूल और अन्तिम कारण क्या है? कौन सा तत्त्व है जिससे समस्त सृष्टि कर्म परिचालित होता है और अन्त में लीन हो जाता है। कस्त्वं कोहं कुत आयात' 'तुम और मैं कौन हैं, कहाँ से आये हैं, जीवन वापस कहाँ जाता है? क्या वह पुनः आयेगा या नहीं आदि रहस्यात्मक प्रश्नों का समाधान उपनिषदों के ज्ञान का विषय है।

उपनिषद् काल में उक्त प्रश्नों के सन्दर्भ में जिज्ञासु ब्रह्मवादी ऋषियों का आध्यात्मिक सत्संग हुआ करता था श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथम मंत्र में इसकी चर्चा है- **'किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः। अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्।।१।।** अर्थात ब्रह्म जिज्ञासु विद्वान् परस्पर कहते हैं,हे देवज्ञ महर्षियों इस जगत् का मुख्य कारण ब्रह्म कौन है। हम लोग किससे उत्पन्न हुए हैं; उत्पन्न होने के बाद (वर्तमान) में और इसके पश्चात् प्रलयकाल में किसमें स्थित रहते हैं? हमारा परम आश्रय कौन है? किसकी व्यवस्थानुसार सुख दुःख भोग रहे हैं? सम्पूर्ण जगत् का व्यवस्थापक कौन है? आदि विषयों पर मन्थन एवं ध्यान करने पर उन्होंने पाया कि काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, भूतानि और जीवात्मा आदि जितने कारण बतायें हैं, उन समस्त कारणों के अधिष्ठाता स्वामी सर्वशक्तिमान् 'ब्रह्म' ही जगत् के वास्तविक कारण हैं। हम सभी उस एक तत्त्व 'ब्रह्म' के ही अपनी आत्मा के स्वरूप की विस्मृति के कारण ही स्वयं को ब्रह्म से पृथक मान लेते हैं। जब कि 'अहं ब्रह्मास्मि' 'मैं ही ब्रह्म हूँ'।

उपनिषद् का मूल प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' का शाब्दिक अर्थ है- **'बृहत्तम'** (बहुत बड़ा) जिससे बृहत्तर कोई कल्पना नहीं हो सकती। ऋषियों ने **'अहं ब्रह्मास्मि'** के साथ सभी जीवों में ब्रह्म का दर्शन करके कहा **'तत्वमसि'** (तुम वही ब्रह्म हो।) **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** कहकर मानव मात्र के चित्त में ब्रह्म चेतना को जाग्रत करने का प्रयास किया, जिसके जाग्रत होने पर मनुष्यों में पारस्परिक भेद-विसंवाद नहीं करता। सभी शरीरों में एक ही आत्मा की अनुभूति होने पर मन-बुद्धि-हृदय, अभेदज्ञान एवं प्रेम से प्लावित हो जाते हैं। जाति, सम्प्रदाय ऊँच-नीच, वर्ण-रंग भेद मन से मिट जाते हैं। समस्त विश्व ब्रह्मधाम, सच्चिदानन्द धाम, सौन्दर्य, माधुर्य सिन्धु बनकर आस्वाद्य हो जाता है स्पष्ट है - **'सर्वं ब्रह्ममयं जगत्'** की अनुभूति विश्वशान्ति का अमोघ अस्त्र है।

उपनिषदों की संख्या - इसके सम्बन्ध में मतवैभिन्य है। मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ आठ उपनिषदों के नाम प्राप्त हैं और निर्णय सागर प्रेस मुम्बई से गुटका रूप से प्रकाशित है। (१) **'अडियार लाईब्रेरी'** मद्रास से १७९ उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित हुआ है।

(२) **'गुजराती प्रिंटिंग प्रेस'** मुम्बई से मुद्रित उपनिषद् वाक्य महाकोष में २२३ उपनिषदों की नामावली दी गई हैं।

(३) **गीता प्रेस, गोरखपुर** से प्रकाशित 'कल्याण' के 'उपनिषद् अंक' में दो सौ बीस उपनिषदों के नाम दिये गये हैं।

(४) **आदि शङ्कराचार्य** ने दस उपनिषदों (ईश, केन, कठ, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक) पर भाष्य लिखे हैं, इसमें समस्त उपनिषदों का सार समाहित है।

(५) **मुक्तिकोपनिषद्** में श्री राम जी हनुमान जी कहते हैं- समस्त उपनिषदों के बीच १०८ उपनिषद् सार रूप हैं। इसमें भी अकेली माण्डूकयोपनिषद् मुमुक्षुजनों को मुक्ति प्रदान करने में समर्थ है।

सृष्टि का मूल तत्त्व क्या है ? इस संदर्भ में उपनिषदीय युग में काफी मंथन हुआ अन्त में सभी ब्रह्मवादियों ने समवेत स्वर में कहा - **'शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः'** इस जगत् का यथार्थ स्वरूप देखो- **ब्रह्मेवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिण-तश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्व च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्।।** (मुण्डक -२.२.११) अर्थात् 'अमृत स्वरूप ब्रह्म ही इस विश्व में लीला करता हुआ हमारे सामने, पीछे दाहिने, बाँये, ऊपर-नीचे सर्वत्र प्रसारित हो रहा है। ब्रह्म ही विश्व का यथार्थ स्वरूप है और ब्रह्म ही श्रेष्ठ वरणीय है'।

इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म ही सृष्टि का उपादान, आधार एवं निमित्त कारण है। जिस प्रकार जल प्रपात से जल कण, प्रज्वलित अग्नि से चिनगारियाँ, बाँसुरी से ध्वनि या मकड़ी द्वारा जाल का उत्पादन होता है, उसी प्रकार ब्रह्म इस सृष्टि का सर्जन कराता है। ब्रह्म द्वारा सृष्टि सर्जना के संदर्भ विविध उपनिषदीय मतों में इस बात में ऐक्य है कि सृष्टि का प्रथम तत्त्व चेतन ब्रह्म था। सृष्टि अचेतन या जड़ पदार्थों के विकास का परिणाम नहीं है, बल्कि उस एक चेतन ब्रह्म के संकल्प का परिणाम है। उसी एक तत्त्व ब्रह्म ने मनुष्य रूपी पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की रचना की। इसलिए कहा जाता है - **'यत् पिण्डे तत् ब्रह्माण्डे'** अर्थात् जो इस शरीर में है वहीं ब्रह्माण्ड में है। पिण्ड एवं ब्रह्माण्ड की रचना करने के पश्चात् 'ब्रह्म' दोनों में समाविष्ट हो गया। लेकिन वह केवल इस सृष्टि में व्याप्त ही नहीं, बल्कि इससे परे भी है। अतः स्पष्ट है कि मानव पिण्ड का सम्पूर्ण प्रकृति में वह समाया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्रत्येक तत्त्व नियमित है, किन्तु उसका नियमनकर्त्ता 'ब्रह्म' है। अज्ञानवश मानव स्वयं को नियामक मानने लगता है, तब 'ब्रह्म' की वक्र दृष्टि सेंण्डी तूफान लाकर प्रलय मचा सकती है; जैसा कि विश्व के सर्वाधिक शक्तिशाली देश अमेरिका में हुआ था। वहाँ सेण्डी तूफान ने जान-माल की भारी तबाही मचा दी थी। उपनिषद् बार बार चेतावनी देता है कि हे मानव! मदान्ध न हों, समस्त सृष्टि के नियन्ता

ब्रह्म की शरण में जाओं, प्रार्थना करो, उसको प्राप्त करो, जिससे यह समस्त सृष्टि प्रसूत होती है।

कर्मसिद्धान्त – उपनिषदों के अनुसार कोई भी व्यक्ति किसी भी काल के लिए अकर्मी नहीं रह सकता। कर्मशक्ति क्षय होने या खत्म होने पर व्यक्ति की मृत्यु निश्चित है। यह सम्पूर्ण प्रकृति कर्म नियम द्वारा सञ्चालित है तथा उसका नियन्ता वह परम तत्त्व है, जिसे 'ब्रह्म' कहा गया है। **'व्यक्ति जैसा करेगा वैसा भरेगा'** मात्र कहावत ही नहीं अपितु उपनिषदों का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है।

उपनिषदों में कर्म के दो प्रकार हैं— सकाम और निष्काम कर्म। जिस कार्य को करने के पीछे व्यक्ति की कामना का भाव है, या आसक्ति का भाव है वह कर्म सकाम तथा जिस कर्म को व्यक्ति स्व कर्त्तव्य समझकर बिना कामना या चाह से करता है, वह निष्काम कर्म कहा जाता है। सकाम कर्म के दो भाग दुष्कर्म और सत्कर्म हैं। वेद–व्यास जी ने अठारह पुराणों का निचोड़ या सार यह बताया है– **'अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्'।।** अर्थात् दूसरों का भला करना ही पुण्य है, सत्कर्म है, तथा दूसरों को पीड़ा (कायिक, वाचिक या मानसिक रूप से) देना ही पाप है अर्थात् दुष्कर्म है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है – **'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा, अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति।।'** (प्र.मु./२/७) इस मन्त्र में यज्ञ को नौका का रूप दिया गया है। ये यज्ञ–रूप अठारह नौकाएँ जो कि दृढ़ नहीं हैं, बीच में ही छिन्न भिन्न हो सकती हैं। जो अज्ञानी इसे ही कल्याण का मार्ग समझते हैं, वे बार बार वृद्धावस्था और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। इसके आगे दसवें मन्त्र में कहा है–**'नाकस्य पृष्टे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति'** 'पुण्य कर्मों से स्वर्ग सुख भोगकर, पुण्य क्षय होने पर इस मनुष्य लोक में इससे ही हीन योनियों में जन्म लेते हैं। स्पष्ट है उपनिषदें याज्ञिक कर्मकाण्ड, पुण्यकर्म या सकाम कर्म दोनों का विरोध करती हैं; क्योंकि ये सब सकाम कर्म ब्रह्म प्राप्ति में बाधक हैं।

कर्म–फल की दृष्टि से उपनिषदों में तीन कर्मों का उल्लेख है– (१) सञ्चित कर्म (२) प्रारब्ध कर्म (३) क्रियमाण कर्म। समस्त कर्मों का संग्रह, पूर्वजन्म से वर्तमान जन्म के वर्तमान क्षण तक के सारे कर्म संचित कर्म हैं। सञ्चित कर्मों का फल भोगना प्रारम्भ हो जाता है, उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं; तथा जो कर्म वर्तमान काल में हो रहा हैं वे क्रियमाण कर्म हैं। ये कर्म ही भविष्य में संग्रहित होकर सञ्चित कर्म बनते हैं, तथा सञ्चित कर्म ही फिर भविष्य में प्रारब्ध कर्म बन जाते हैं।

उपनिषदों में जीवात्मा की मरणोपरान्त तीन गतियाँ बताई गई हैं (१) निष्कामकर्मियों की गति मोक्ष है। (२) पुण्य या सकाम कर्मियों की गति स्वर्ग है तथा (३) दुष्कर्म से मरने

वालों की गति आवागमन है। उपनिषद् आदेश देता है कि इन तीनों प्रकार के कर्मों में निष्काम कर्म ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार उपनिषद् कर्म त्याग का आदेश नहीं देते किन्तु कर्म करो, अपने कर्त्तव्य करो किन्तु कर्म के भाव को त्यागो। **श्वेताश्वतरोपनिषद्** में मन्त्र है— **'आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावांश्च सर्वान्विनियोजयेद्यः। तेषामभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्वताऽन्यः।।'** (श्वेता ६/४) 'अर्थात् जो कर्मयोगी सत्वादि गुणों से व्याप्त कर्मों को आरम्भ करके, उनको तथा समस्त भावों को परमात्मा को अर्पण कर देता है। उन कर्मों का अभाव होने पर उसके पूर्व सञ्चित कर्मों का भी नाश हो जाता है तथा कर्म के क्षय होने पर साधक परमात्व तत्त्व को प्राप्त हो जाता है।' इस प्रकार उपनिषदों में निष्काम कर्म की महत्ता स्पष्ट है। जिस प्रकार पत्र जल में रहता हुआ भी अलिप्त है, वैसे ही ज्ञानी व्यक्ति सांसारिक कर्म करते हुये भी पाप पुण्य किसी भी कार्य में लिप्त नहीं होता।

उपनिषदों में निहित कर्म सिद्धान्त यह कहता है कि जीव की मृत्यु के उपरान्त पिण्ड के तत्त्व ब्रह्माण्ड में लीन हो जाते हैं। जीव के साथ उसके कृतकर्म जाते हैं। इह लोक में भी व्यक्ति उसके कर्मों से ही याद किया जाता है। जीव के कर्म ही उसके आवागमन या मोक्ष को निश्चित करते हैं। जिन मुमुक्षजनों को आवागमन स्वीकार्य नहीं है वे निष्काम भाव को करते हुए आत्म तत्त्व को प्राप्त करते हैं। नैतिक कार्यों से सद्-समाज का निर्माण होता है। दुष्कर्म का फल बुरा है, यह जानकर व्यक्ति पाप कर्म से बचता है। उपनिषदों में कर्मकाण्ड का भी विरोध किया है। **मुण्डकोषनिषद्** में कहा है - **'एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा'**। (२/७) अर्थात् 'यज्ञों' से जो श्रेय की आशा करता है वह मूढ़ है।' साथ ही पशुबलि का भी विरोध किया है। बृहदारण्यकोपनिषद् (१/१/१) में सृष्टि को घोड़े के रूप में प्रस्तुत करके कहा है कि इस सृष्टि रूपी घोड़े की बलि देनी चाहिए जिससे मानव मोक्ष की ओर अग्रसर हो सके। इस प्रकार उपनिषद् यज्ञ कर्मकाण्ड, पशुबलि आदि सभी निन्दित दुष्कर्मो का विरोध कर रहा है, जिससे सद्विचारों से युक्त व्यक्तियों से श्रेष्ठ समाज का निर्माण हो सके।

पाप-पुण्य के सन्दर्भ बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है- 'अच्छा कर्म करने वाला अच्छा होता है, पाप कर्म करने वाला पापी पुण्य कर्म करने वाला पुण्यात्मा होता है।' इससे स्पष्ट है पाप पुण्य मनुष्य के कर्मो पर निर्भर है। कर्त्तव्यशील पुरूष पुण्यात्मा है वहीं अकर्त्तव्यशील पापात्मा है। अतः पाप-पुण्य कर्म नहीं है, उनकी जड़ मन की वासनाओं और संकल्पों में विद्यमान है। कहा भी है- 'जैसी मति वैसी ही गति'।

छान्दोग्योपनिषद् में पाप के पाँच प्रकारों का उल्लेख है - सोने को चुराने वाला, शराब पीने वाला, गुरू-स्त्री गामी, ब्रह्म हत्यारा आदि। पाँचवा वह जो इनके साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में पाप के परिणामों का उल्लेख

करते हुए कहा है 'पापात्मा को अपने पाप कर्मो के परिणाम स्वरूप आनन्द रहित, आसुरिक तथा अन्ध-तमिस्र लोकों में जाना पड़ता है, वहीं पुण्य कर्मों के परिणामस्वरूप पुण्यात्मा स्वर्गलोक तथा उससे भी ऊपर उठ जाता है।' अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुण्य कर्मो के फलस्वरूप ब्रह्मलोक में पहुँच जाते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् (५/१०/७) में विवरण है कि 'जो अच्छे आचरण वाले होते हैं वे उत्तम योनि- ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य को प्राप्त होते हैं और अशुभ आचरण वाले तत्काल अशुभ योनि को प्राप्त होते हैं। **मुण्डकोपनिषद्** पुण्यात्माओं को उनके पुण्य कार्यो के लिए ब्रह्मलोक के लिए आह्वान कर रहा है। यथा - **'प्रियां वाचमभि-वदन्याऽर्चयन्त्य एष वः पुण्य सुकृतो ब्रह्मलोक।।'** (मुण्ड २/६) 'आओ, आओ यह तुम्हारे शुभकर्मों (पुण्य) के फलस्वरूप ब्रह्मलोक हैं।' इसी प्रकार पाप कर्मों से नरक प्राप्ति होती है। कठोपनिषद् का मन्तव्य है - अनुपयोगी वस्तुओं का दान देना धोखा देना है, ओर धोखा देना पाप है। ऐसे पापकर्मी दानी नरकगामी हो नीच योनि में जन्म लेते हैं।

उपनिषदों में पापकर्मों से मुक्त होने का भी विधान है। उनके अनुसार अज्ञान से वशीभूत व्यक्ति पाप करता है, और जब उसे ज्ञान प्राप्त हो जाता है; तब वह निष्कामी वृत्ति से कर्मरत हो आत्मवित् हो जाता है। छान्दोग्योपनिषद् में यह सङ्केत है - **'तरति शोकम् आत्मवित्'** अर्थात् जो आत्मा को जान जाता है वह इस भवसागर से तर जाता है। मुण्डकोपनिषद् में कहा है— **यदा पश्यः पश्यते रूक्मवर्णकर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्म-योनिम्। तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरंजनः परमं साम्यमुपैति।।** (३/१/३) अर्थात् जब यह जीवात्मा सबसे शासक ब्रह्मा के भी आदिकरण, सम्पूर्ण जगत् के रचयिता दिव्य प्रकाश स्वरूप उस परम पुरुष को देख लेता है, उस समय वह समस्त पाप रूप कर्मों का समूल नाश कर निर्मल हुआ वह ज्ञानी महात्मा परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता हैं।

इस प्रकार उपनिषदस्थ पाप-पुण्य सन्दर्भ व्याख्या से व्यक्ति पाप कर्म से बचता है। पाप कर्म हो भी जाए तब सावधान हो पुण्य कर्म की तरफ प्रेरित होता है एवम् अन्ततः निष्काम भावीय कर्म पर आरूढ़ हो ब्रह्म को प्राप्त हो पाप-पुण्य दोनों कर्मों से निवृत्त हो जाता है। उपनिषदीय कर्म सिद्धान्त से व्युत्पन्न पाप-पुण्य की अवधारणा सदाचरण एवं सङ्गठित समाज का निर्माण करती है। आधुनिक भौतिकवादी युग में अनेकानेक पापाचार में अभिवृद्धि उपनिषदीय संस्कृति से विमुख होने का ही परिणाम है।

पुनर्जन्म— पुनर्जन्म उपनिषदीय संस्कृति का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। कर्मवाद का सिद्धान्त भी पुनर्जन्म की मान्यता का आधार है। वर्तमान जीवन में मनुष्य के अपने सञ्चित कर्मों का फल मिलता है। मनुष्य द्वारा वर्तमान कर्म या क्रियमाण कर्म भविष्य में सञ्चित होते हैं। उन कर्मों को भोगने के लिए दूसरा जन्म लेना पड़ता हैं अन्त समय में जैसी काम भावना लेकर व्यक्ति शरीर छोड़ता है, उसी भावना के अनुरूप अगला शरीर मिलता है। स्पष्ट है

पुनर्जन्म की मान्यता कर्मवाद पर आधारित है।

उपनिषदों के अनुसार मृत्यूपरान्त जीवात्मा अपने कर्मों के अनुसार मार्गों पर आरूढ़ होता है। ये तीन मार्ग हैं - १. देवयान २. पितृयान ३. जायस्व-म्रियस्व मार्ग। निष्काम कर्मी मृत्योपरान्त देवयान पर आरूढ होकर ब्रह्मलोक को जाते हैं और मुक्ति को प्राप्त करते हैं। वहीं सकाम कर्मी पितृयान मार्ग का अनुसरण कर पितृ लोक में पहुँचते हैं, ओर कर्मो के क्षीण होने पर पुनः मृत्युलोक में जन्म लेते हैं। जो इन मार्गों से नहीं जाते वे अधम मानव छोटे छोटे जन्तुओं, कीट-पतङ्गों में बार-बार जन्म लेते हैं और मरते हैं। इसे जायस्व-म्रियस्व मार्ग कहते हैं।

बृहदारण्यक उपनिषद् में एक शरीर का त्याग एवं नव वपुधारण की प्रक्रिया को उदाहरण के रूप में समझाया है- 'जैसे एक कीड़ा रेंगते-रेंगते घास के ऊपर आकर अपने सारे शरीर को सिकोड़ लेता है तब दूसरी घास के सिरे आगे बढ़ता है।' इसके आगे के मंत्र में शरीरान्तर गमन को स्पष्ट करते हुए कहा है - 'जिस प्रकार सुनार सुवर्ण भाग लेकर नवीन गहने की रचना करता है, उसी प्रकार यह आत्मा जीर्ण शरीर को छोड़कर नवती रूप में प्रकट होता है।' (बृह.४/४/४)

उपनिषदीय संस्कृति या दर्शन का मत है कि मनुष्य की कामनाएँ उसे पुनर्जन्म का निर्धारण कराती हैं। सकामी पुरुष के बारे में **मुण्डकोपनिषद्** (३/२/२) में बताया है- **'कामनान्यः कामयते मन्यमानः सकामभिर्जायते तत्र तत्र।'** अर्थात् भोगों की कामना वाला मनुष्य उन कामनाओं के कारण उन-उन स्थानों में जन्म लेता है जहाँ उनकी कामनाएँ तृप्त हो सके।' **बृहदारण्यक उपनिषद्** (४/४/५) में भी यही बात कही गई है-'आत्मता काममय है, जैसी कामना होती है वैसा ही 'क्रतु' का प्रयास होता है। जैसा प्रयास होता है वैसा ही 'कर्म' और 'जैसा कर्म', 'वैसा ही फल' निश्चित है। स्पष्ट है मनुष्य की कामनाएँ ही पुनर्जन्म का उद्भव करती है। इसलिए उपनिषदों का कथन है कि कामनाओं की गहरी जड़ अविद्या है। अविद्या से तृष्णा उत्पन्न होती है, और यही पुनर्जन्म का कारण है। आत्मा के मौलिक स्वरूप से अज्ञात होकर इस जगत को ही शाश्वत समझना अविद्या है। उपनिषद् निष्काम कर्म का संकेत देकर आवागमन चक्र से मुक्त होने के लिए के लिए कहते हैं। अज्ञान से मुक्ति ज्ञान द्वारा ही हो सकती है। ज्ञानोदय के लिए चित्त की सरलता, शुद्धता आवश्यक है। मुण्डकोपनिषद् कहता है- **'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्वाः। ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।** (मु. उप ३/२/६) 'जिन्होंने उपनिषद् शास्त्र विज्ञान द्वारा ब्रह्म को पूर्णरूपेण जान लिया है, ऐसे शुद्ध चित्त वाले पुरुष सन्यास योग से मृत्यु के पश्चात ब्रह्मलोक में पहुँचकर परम अमृतस्वरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।'

उपनिषदों में मुक्ति के लिए ज्ञान मार्ग का प्रतिपादन किया है। आद्य शङ्कराचार्य भी

'ज्ञान विहिनं सर्व मतेन मुक्ति न भजति जन्म शतेन' कह रहे हैं। ज्ञान के लिए अन्त:करण की शुद्धता आवश्यक है। मन की शुद्धि के लिए इन्द्रियों का संयम, जो कि तप और वैराग्य से ही संभव है। श्वेताक्षर उपनिषद् में वर्णित है— **स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तराणिम्। ध्यान निर्मथनाभ्यासाद्धेवं पश्चेन्निगूढ़वत्।।** (१/१४) अपने शरीर को अरणिं और प्रणव को उत्तराणि करके ध्यान के द्वारा निरन्तर मन्थन करके हृदय में स्थित परमदेव ब्रह्म को छिपी हुई अग्नि की भाँति देखें।

इस प्रकार उपनिषदों के रस रुपी अमृत तत्व का पान करने पर व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त हो जाता है। वह जान जाता है आसक्त भाव से किये कर्म का फल पुनर्जन्म है। इससे छुटकारा काम्य कर्मो की जगह निष्काम भाव से काम करने से ब्रह्म ज्ञान तथा पुनर्जन्म से मुक्ति संभव है।

पुरूषार्थ— उपनिषदों में पुरूषार्थ चतुष्टय सिद्धान्त एक जगह सङ्कलित नहीं है, अपितु विभिन्न उपनिषदों में पृथक्-पृथक् विवेचन है। पुरूषार्थ का शाब्दिक अर्थ-पुरुष या आत्मा के अन्तिम प्रयोजन से सम्बन्धित है। पुरुषार्थ सिद्धान्त जहाँ एक ओर मोक्ष को मानव जीवन का साध्य बताता है वहीं धर्म, अर्थ, काम को मोक्ष का साधन बताकर उनको भी महत्त्व देता है। अर्थ और काम जहाँ प्रवृति प्रधान कर्म हैं, वहीं धर्म ओर मोक्ष निवृत्ति प्रधान कर्म को उजागर करते हैं। इन दोनों प्रवृत्ति का सामञ्जस्य पुरुषार्थ में है। इसीलिए इसे उपनिषदों का उदारवादी सिद्धान्त कहते हैं। अर्थोपार्जन मौलिक आवश्यकताओं अर्थोपार्जन करें। अपरिग्रह जरुरी है। उसी प्रकार पितृऋण से मुक्ति एवं वंश को बनाये रखने तक ही काम पुरुषार्थ की आवश्यकता है। इसके बाद ब्रह्मचर्य नियम का अनुसरण आवश्यक है। आइए इन चारों पुरुषार्थ का निरीक्षण करें, जो उपनिषदीय करें, जो उपनिषदीय संस्कृति के आधारभूत स्तम्भ हैं।

धर्म— धर्म शब्द की व्युपति संस्कृत के 'धृ' धातु से हुई, जिसका अर्थ है धारण करना। अग्नि का धर्म उष्णता, सूर्य धर्म प्रकाश है, उसी प्रकार मनुष्य का धर्म मनुष्यतत्व है। मनुष्यत्व धर्म से प्रतीत होता है। इसका अर्थ बड़ा व्यापक है। उपनिषदीय परीपेक्ष्य में - इसे जीवन दर्शन का सिद्धान्त कहा जा सकता है। अर्थात् धर्म के माध्यम से अर्थ, काम तथा मोक्ष की साधना।

बृहदारण्यकोपनिषद् में **'सत्य'** को ही धर्म कहा है (१/४/१४) इसी प्रकार तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कहा गया है **'सत्यभाषण ही कर्म है,** जो सत्य वचन या धर्म का पालन करता है वह 'ऋत' का अनुसरण करता है।' वेदों और उपनिषदों में 'ऋत' शब्द समस्त प्राणियों के कल्याण के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार धर्म पुरूषार्थ उपनिषदों में एक नैतिक अवधारणा है, जिसका अर्थ है स्व कर्त्तव्य पालन। यहाँ कर्त्तव्य से तात्पर्य वे नियम जिनके पालन से व्यक्ति और समाज दोनों की उन्नति और कल्याण हो। इस

प्रकार धर्म नैतिक नियमों की स्थापना करता है, जिससे समाज में सन्तुलन, देश में समृद्धि एवं अन्ततः विश्वशान्ति की धारा प्रवाहित होती है। वेदों का 'सर्वभवन्तुसखिनः' का उद्घोष विश्वशान्ति का प्रतीक है।

धर्म के तीन रूप है (१) साधारण धर्म (२) विशेष धर्म एवं (३) आपद् धर्म। उपनिषदों में यह वर्गीकरण धर्म के सन्दर्भ विभिन्न व्याख्याओं के आधार पर किए गए हैं। केनोपनिषद में कहा है – **तस्यै तपोदमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वागानि सत्यमायतनम्।** (४/८) अर्थात् उस ब्रह्म विद्या के तपस्या, इन्द्रियों का दमन, कर्म (निष्काम) ये तीनों आधार हैं।' बृहदारण्यकोषनिषद् में दान, दया और दमन का उल्लेख है। दैवीय प्रवृत्ति वाले व्यक्ति को दमन, मानवीय प्रवृत्ति वाले को दया का पालन करना चाहिए। तुलसीदास जी ने भी रामचरित मानस में – 'दया धर्म का मूल है, पाप मूल अभिमान' कहा है। इसी प्रकार **तैत्तिरीयोपनिषद्** के नवम् अनुवाक में उल्लेख है **'ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च, सत्यं च, तपश्च, दमश्च, शमश्च, मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च।'** अर्थात् ऋत एवं सत्य का पालन करें। तप, शम-दम का पालन करें, स्वाध्याय व अग्निहोत्र के साथ साथ अतिथि एवं मनुष्य की सेवा करें। इस प्रकार सत्य, ऋत, दान, दमन, तप, शम, स्वाध्याय, अग्निहोत्र एवं अतिथि सेवा उपनिषदों में साधारण धर्म एवं सर्वसाधारण के लिए माने गऐ हैं।

विशेष धर्म— से तात्पर्य व्यक्ति विशेष के धर्म से है। विशेष धर्म में विभिन्न प्रकार के मनुष्यों में अन्तर किया जाता है। इसमें दो विशेष धर्मों को बताया गया है। (१) आश्रम धर्म (२) वर्ण धर्म। आश्रम धर्म का विवेचन छान्दोग्य उपनिषद् और वर्ण धर्म का वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् में मिलता है। आश्रम धर्म के अर्न्तगत चार आश्रम आते हैं। (१) ब्रह्मचर्य (२) गृहस्थ (३) वानप्रस्थ एवं (४) संन्यास आश्रम। उपनिषदों में उस युग में औसतन सौ वर्ष की आयु मानी गई है और इस काल क्रम में व्यक्ति इन चारों आश्रमों में से गुजरता है। छान्दोग्य उपनिषद् (२/२३ खंड/१) में धर्म के तीन स्कन्ध बताये गये हैं – (१) यज्ञ, अध्ययन और दान (२) तप दूसरा स्कन्ध एवं (३) आचार्य कुल निवास और ब्रह्मचर्य तृतीय स्कन्ध है। इन उपनिषद् में धर्म की व्याख्या आश्रम व्यवस्था पर आधारित है।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार अन्तिम आश्रम संन्यास है। जिसमें दान, तप न करके मात्र निष्काम भाव से जीवन व्यतीत करते हुए साधक ब्रह्म की उपासना करते, ब्रह्ममय हो जाता है। इस प्रकार उपनिषदों के अनुसार यज्ञ, अध्ययन, दान, तपस्या, ब्रह्मचर्य पालन और आचार्य कुल निवास आदि सभी विशेष धर्म हैं जो भिन्न भिन्न आश्रमों से सम्बन्धित है, तथा जिसका पालन कर व्यक्ति अपने अंतिम लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त कर सकता है। कितना समीचीन आयु परक जीवन जहाँ ब्रह्मचर्य, तप व गुरूकुल में अध्ययन

करना। दूसरे पच्चीस वर्ष में गृहस्थाश्रम धर्म में यज्ञ, दान स्वाध्याय एवं वंश वृद्धि फिर अपने कर्त्तव्य कर वानप्रस्थ में मात्र तप करना एवं अन्तिम ७५ से १०० वर्ष पर्यन्त दान-तप से परे मात्र निष्काम जीवन जीकर मोक्ष प्राप्त करना। सभी आश्रमों को धर्मवत् निभाना एवं अपने व्यक्तित्व के साथ साथ सामाजिक दायित्व को, सँवारने की उपनिषदीय अनुपम जीवन व्यापन प्रणाली थी। तभी समाज में स्थायित्व था। भारत सोने की चिड़िया कहलाता था।

वर्ण धर्म— को चातुर्वर्ण्य धर्म भी कहते हैं। ऋग्वेद के पुरूष सूक्त में इसका उल्लेख मिलता है - **'ब्राह्मणोस्यमुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः। ऊरूतदस्ययद्वैश्यः पद्भ्या शूद्रोऽअजायत।।** (२/११) चारों वर्णों की उत्पति परम पुरुष के शरीर से हुई है- 'ब्रह्म के सिर से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उदर से वैश्य और पैरों से शूद्र की उत्पत्ति हुई है।' वेदान्त उपनिषदों में बृहदारण्यक में चतुर्थ ब्राह्मण के १५ वें मन्त्र में चतुर्वर्ण का उल्लेख है। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म अकेले का मन नहीं लगा, इसीलिये उसने देवों में अग्नि तथा मनुष्यों में ब्राह्मण का रूप धारण किया। इसके बाद क्षत्रिय वर्ण की रचना की। देवों में पृथ्वी शूद्र धर्म की प्रतिनिधी है। उपनिषदों में शूद्र वर्ण को 'पूषण' अर्थात् पालन पोषण करने वाला बताया है।

उपनिषदों में बताया है कि चारों वर्णों को अपने अपने निर्धारित कर्त्तव्यों को करना चाहिए। ब्राह्मणों का कर्त्तव्य अध्ययन-अध्यापन, समाज में जीवन मूल्यों को निर्धारित करना है। क्षत्रिय वर्ण को साहसिक वर्ण कहा है। शूरवीरता, तेजस्विता, धैर्य, चातुर्य, युद्ध से विमुख न होना, दान देना आदि क्षत्रिय कर्म है। सम्पूर्ण समाज की रक्षा करने का कर्त्तव्य क्षत्रिय वर्ण के जिम्मे है। तीसरा वर्ण वैश्य को वाणिज्य, कृषि एवं गो-पालन कर्म करना है तथा चौथा वर्ण शूद्र' मजदूर वर्ग है जिनको इन तीनों वर्गो (ब्रा.क्ष.वै.शू.) की सेवा करना है। इस प्रकार सभी वर्ण स्व-स्व कर्त्तव्य करें। समाज में व्यवस्था की कितनी सुन्दर प्रणाली वर्ण व्यवस्था में निहित थी। इसके साथ ही वर्ण व्यवस्था में खुलापन-लचीलापन भी था। वर्ण जन्म या आनुवांशिकता से निर्धारित न होकर उसका मौलिक आधार व्यक्ति का स्वभाव या उसका गुण और कर्म था। उपनिषदों के सार गीता में कहा है - 'जन्मनो जायते शूद्र संस्कारो द्विज उच्यते।' अर्थात् शूद्र वर्ण जन्म लेने वाला व्यक्ति भी अपने संस्कार या साहस, बलिष्ठ या दानी स्वभाव से क्षत्रिय वर्ण का सदस्य बन सकता था। कालान्तर में यह व्यवस्था बदल गई। व्यक्ति जन्म से ही उसी वर्ण का माना जाने लगा तथा बाद में वर्ण व्यवस्था भी अनेकानेक जातियों में बदल गई जैसा कि आज दिखाई दे रहा है। आज उच्च निम्न वर्णीय जाति व्यवस्था के प्रचलन से समाज में सामाजिक विषमताएँ दिखाई दे रही हैं। यह सब उपनिषदीय संस्कृति से विमुख होने का परिणाम है।

आपद् धर्म— उपनिषदों में धर्म पुरुषार्थ के सन्दर्भ में साधारण तथा विशेष धर्म के अतिरिक्त एक अन्य आपद् धर्म की भी चर्चा है। कुछ विशेष या अपरिहार्य परिस्थितियों में जब इन दोनों धर्मों (साधारण एवं विशेष) का पालन कठिन हो जाता है, तब आपद् धर्म का हस्तक्षेप होता है, और वह कहता है— **'आपत्तिकाले मर्यादा नाऽस्ति।'** छान्दोग्योपनिषद् (१/१०) में उषस्ति आख्यान के अन्तर्गत एक समय कुरु वंश देश में ओलों की वृष्टि से सब कुछ नष्ट हो जाने पर उषस्ति चाक्रायण नामक निर्धन ऋषि अपनी पत्नी आटकी के साथ अन्यत्र चले जाते हैं तथा अपने प्राण बचाने के लिए एक हाथीवान के चबाये जूठे सड़े उड़द भी माङ्गकर खा लेते हैं। जल तो निकट बहती नदी में उपलब्ध होने से उसके जूठे जल को ग्रहण नहीं करते। इस प्रकार ऋषि ने अपने प्राण बचाने के लिये आपद् धर्म का उपयोग किया, क्योंकि जान है तो जहान है। जान बचाने के बाद पानी न लेकर अपने धर्म की रक्षा भी की। इस प्रकार उपनिषद् अत्यन्त असाधारण स्थितियों में ही इस धर्म को अपनाने को कहते हैं वह भी धर्मशास्त्रानुसार। परिस्थिति समाप्त या ध्येय पूर्ण होने पर पुनः वही नीति-नियम लागू होते हैं। इस प्रकार धर्म पुरुषार्थ भारतीय संस्कृति का प्राण रहा है तथा व्यक्ति व समाज का दर्पण है। जिस पर चलकर मानव परम तत्त्व तक पहुँच सकता है।

अर्थ— उपनिषद् संस्कृति में 'अर्थ' से आशय वे सभी साधन जिनसे मानवीय कामनाओं की पूर्ति होती है। व्यक्ति की मौलिक आवश्यकताओं के लिए 'अर्थ' प्राप्ति आवश्यक है। यह काम का साधन है, किन्तु इसका उपार्जन धर्म के द्वारा ही होना चाहिए। **नीतिशास्त्र** में कहा गया है— **'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'** अर्थात् भूखा आदमी क्या पाप नहीं करता? अतः जीवन निर्वाह के लिए अर्थ की महती आवश्यकता है। यही कारण है कि उपनिषदों में धन-धान्य वृद्धि, गायों-घोड़ों की वृद्धि, सन्तान समृद्धि तथा सुखी जीवन से शतायु होने की याचनाएँ, प्रार्थनाएँ जगह-जगह की गयी हैं। ये प्रार्थनाएँ, 'अर्थ' के महत्त्व को इङ्गित करती हैं, किन्तु अर्थ को उपनिषदों में साधन रूप माना है, साध्य नहीं। साध्य तो आत्मा की कामना है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** में उल्लेख है कि 'वित्त की कामना के लिए वित्त प्रिय नहीं होता, अपितु अपनी आत्मा की कामना के लिये वित्त प्रिय होता है।' मानव जीवन का अन्तिम साध्य मोक्ष है, अतः धन पर धर्म अर्थात् संयम का अङ्कुश आवश्यक है। **ईशोपनिषद्** के प्रथम श्लोक में ही उद्धृत है— **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीःथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।१।।** अर्थात् भोगों को भोगो किन्तु बिना आसक्ति के त्यागपूर्वक भोगो और दूसरे के धन की आङ्काक्षा मत करो। उपनिषद् हमें आगाह करते हैं कि परमपुरुषार्थ मोक्ष प्राप्ति के साधन 'अर्थ' पुरुषार्थ का 'धर्म' पुरुषार्थ के द्वारा नियमन होना चाहिए। उपनिषदों में जिस प्रकार **ब्रह्मचर्याश्रम** का सम्बन्ध 'धर्म' पुरुषार्थ से है, उसी प्रकार **गृहस्थाश्रम** का सम्बन्ध

'अर्थ' और 'काम' पुरुषार्थ से है। उपनिषदीय 'धर्म का उपार्जन धर्म से करें' यह विचार सामाजिक समरसता प्रदान करता है, अनावश्यक सञ्चयी प्रवृत्ति का निषेध करता है।

काम— उपनिषदुक्त पुरुषार्थ मात्र ज्ञान वैराग्य या मोक्ष की ही बातें नहीं करता वरन् व्यावहारिक जीवन में धर्म युक्त 'अर्थ' एवं 'काम' के कपाट खोलता है। **'काम' को पुरुषार्थ-चतुष्टय में स्थान देकर उपनिषदों ने व्यक्ति के नैतिक पतन को बचाने के साथ-साथ सामाजिक सन्तुलन की भी रक्षा की है।** अन्य तीन पुरुषार्थ मानव जीवन के लिए आवश्यक हैं, लेकिन काम पुरुषार्थ समग्र मानव जाति के अस्तित्व के लिए आवश्यक हैं। इस दृष्टि से उपनिषद् ऋषि युग-द्रष्टा के साथ-साथ युग-स्रष्टा भी थे। उनकी मान्यता थी कि पितृऋण से मुक्ति तथा वंशवृद्धि संतानोत्पत्ति द्वारा ही सम्भव है। काम पर नियन्त्रण आवश्यक है। पितृ-ऋण से उऋण होने के बाद उपनिषद् व्यक्ति को वानप्रस्थ का उपदेश देते हैं। काम को लोक सुख का लक्ष्य नहीं अपितु जीवन के लक्ष्य 'मोक्ष' का साधन माना गया है, बशर्ते वह धर्मयुक्त हो।

'काम' का शाब्दिक अर्थ इच्छा या एषणाओं से है, यह राजसिक, तामसिक तथा सात्त्विक तीनों प्रकार से हो सकता है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** में तीन प्रकार की एषणाएँ- पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा बताई गई हैं। उपनिषद् संस्कृति में काम का सङ्कुचित, व्यापक एवं सिसृक्षात्मक स्वरूप देखने को मिलता है। सङ्कुचित अर्थ में काम के वासनात्मक व शारीरिक भोग को लिया है। व्यापक स्वरूप में व्यक्ति की समस्त प्रकार की ऐन्द्रिक व मानसिक कामनाएँ, जिसमें सत्यभाषण, ज्ञान-वैराग्य तथा मोक्ष भी सम्मिलित है। तीसरा काम का स्वरूप सिसृक्षा अर्थात् इच्छा से है, जिसको **बृहदारण्य-कोपनिषद्** (१-४-३-४) में ब्रह्म की सृष्टि रचने की इच्छा से लिया है। कहा गया है कि प्रारम्भ में ब्रह्म अकेला था, उसका मन नहीं लगा एवं दूसरे की इच्छा की और अपने ही शरीर को दो टुकड़ों में 'आपायत' पटक दिया। उससे पुरुष व स्त्री तत्त्व बने एवं उनके संयोग या मिलन से मनुष्य जाति का उद्भव हुआ। सिसृक्षात्मक स्वरूप भी काम पुरुषार्थ का व्यापक अर्थ है। इसी प्रकार **छान्दोग्योपनिषद्** (८/३-१,२) में कहा है— मानव की दो मुख्य (ऊँची) और (नीची) कामनाएँ होती हैं, वे अनृत से आवृत्त है **'सत्या कामाः अनृतापिधानाः।'** इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के लिए सत्यकामनाओं पर लगे अनृत कामनाओं का ढक्कन हटा दें, तभी मनुष्य की सब कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं। काम में निहित सत्य (ऊँची) कामनाओं को ग्रहण करने पर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

उपनिषदों में काम पुरुषार्थ के व्यापक अर्थ के साथ-साथ सङ्कुचित अर्थ (यौनेच्छा) को भी उपेक्षित नहीं किया है। **बृहदारण्यक उपनिषद्** के छठे अध्याय के चौथे ब्राह्मण में कहा गया है— स्त्री और पुरुष का मिलन पवित्र यज्ञ क्रिया के समान है। रतिक्रिया के समय स्त्री में यज्ञ की कल्पना कर वीर्य की आहुति देनी चाहिए। यही गृहस्थ का आचार

धर्म है। यदि पति-पत्नी सन्तान नहीं चाहते हैं तो गर्भ निरोध मन्त्र— **'इन्द्रियेण ते रेतसा रेत आयद इत्येदा एव भवति'** की भी व्यवस्था है। प्राणायाम द्वारा ब्रह्मचर्य की भी व्यवस्था है। किसी भी प्रकार से काम का अतिरेक न हो। काम संयमित हों, परिवार नियोजित हों। काम के सन्दर्भ में कितनी उत्तम व्यवस्था उपनिषदों ने की है। जो व्यक्ति काम में निहित सत्य कामनाओं को ग्रहण करता है वह मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है।

मोक्ष— उपनिषदीय संस्कृति में मोक्ष को परम पुरुषार्थ माना है। इसे अपवर्ग, निर्वाण और कैवल्य भी कहा जाता है। धर्म, अर्थ और काम आदि साधनों से गुजर कर मोक्ष (साध्य) तक पहुँचना होता है। मानव की दो मौलिक प्रवृत्तियाँ होती है। **(१) जिजीविषा** अर्थात् जीवन जीने की इच्छा जिसके कारण व्यक्ति सांसारिक बंधन में बँधता है तथा दूसरी है **मुमुक्षा** जिससे व्यक्ति सांसारिक बन्धनों से मुक्त होता है। **ब्रह्मबिन्दु-उपनिषद्** (२/३) में कहा है— **'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।** अर्थात् मन ही मनुष्यों के लिए बंधन एवं मुक्ति का कारण है। **बृहदारण्यक उपनिषद्** (३/२/१०) में उल्लेख है— 'मृत्यु की मृत्यु होना मोक्ष है, ब्रह्म साक्षात्कार ही मृत्यु की मृत्यु है, जो इस रहस्य को जान जाता है वह मृत्यु को जीतकर अमर हो जाता है अर्थात् परम पुरुषार्थ को प्राप्त करता है। उपनिषदों का कथन है— 'जिस प्रकार चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल की मलिनता व स्वच्छता के अनुसार पृथक्-पृथक् दिखाई देता है। उसी प्रकार ब्रह्म भी एक है किन्तु विभिन्न प्राणियों में स्थित अनेक रूपों में दिखाई देता है। जिस प्रकार आकाश अनन्त है, किन्तु घड़े के पानी में घड़े के आकार का दिखता है। घड़े के फूट जाने पर घड़े का नाश होता है आकाश का नहीं, उसी प्रकार शरीरधारी विभिन्न जीवों का शरीर उस घड़े के सदृश है, जो बार-बार मरते हैं, किन्तु आत्मा का नाश नहीं होता **(ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्)**। स्पष्ट है यह अविद्या या अज्ञान ही जीव के सांसारिक बन्धन का मुख्य कारण है। **मुक्तिकोपनिषद्** में जहाँ वासना के सर्वथा विनाश होने को मुक्तावस्था कहा है। जिस प्रकार तेल समाप्त होने पर दीपक बुझ जाता है वैसे ही वासना के नाश से जीव का चित्त आत्मा में रम जाता है। दूसरी ओर **केनोपनिषद्** में जीव का विषयों की तरफ आसक्त होने को 'बोध' या अविद्या बताया है। जबकि आत्मा की ओर उन्मुख होने को 'प्रतिबोध' या विद्या बताया है। यही वास्तविक ज्ञान है। **प्रश्नोपनिषद्** 'माया' शब्द को अज्ञान या अविद्या बताता है। इसी सन्दर्भ में **कठोपनिषद्** कहता है— 'इसी अविद्या या माया के कारण सभी मनुष्य सांसारिक भोगों में पड़े हुए हैं, अपने को धीर, पण्डित मानते हैं वे भी संसार के टेढ़े-मेढ़े रास्तों में भटकते ऐसे जा रहे हैं, जैसे अन्धा अन्धे को रास्ता दिखा रहा हो। **तैत्तिरीयोपनिषद्** में कहा है— 'वस्तुतः संसार के भोग भोगने के लिए ही हैं, परन्तु जो भोगों का दास हो जाता है, उसे भोग ही भोग लेते हैं। यहाँ भोगों में अत्यधिक लिप्तता का निषेध किया गया है।

मोक्ष का स्वरूप— उपनिषदों की मोक्षावस्था की अनुभूति आनन्दस्वरूप होती है। इस प्रकार एकमात्र परम तत्त्व को जानकर, परमशुद्ध आत्मा अन्य वस्तु को न देखता, सुनता व न जानता है, वही **'भूमा'** है, आत्मा अन्य वस्तु को देखता और जानता है, व **'अल्प'** है। **'भूमा'** अमृत है तो **'अल्प'** मृत्यु है। इसलिए जो आत्मा के **'भूमा'** के रूप को देख लेता है, वह मृत्यु को नहीं देखता। (छान्दोग्य उपनिषद् ७/२३-२४-१) यह **'भूमा'** ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है। **बृहदारण्यकोपनिषद्** में मोक्षावस्था के स्वरूप के अनुभव को बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार प्रिय स्त्री के आलिङ्गन में अन्दर व बाहर की सुध नहीं रहती उसी प्रकार ब्रह्म के आलिङ्गन के समय साधक को किसी प्रकार की सुध-बुध नहीं रहती। आत्मा का यह रूप **'आप्तकाम'** है अर्थात् आत्म प्राप्ति के पश्चात् कोई कामना नहीं रहती। यही **'मोक्ष'** और **'अशोक'** रूप है।

उपनिषदों के अनुसार मोक्षावस्था परमानन्द की अवस्था है। किन्तु इसके सम्पूर्ण स्वरूप को शब्दशः स्पष्ट करना असम्भव है। यह अनुभवजन्य है और अनिर्वचनीय है। इसी स्वरूप को स्पष्ट करते हुये **बृहदारण्यकोपनिषद्** में याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को समझाते हैं— जिस प्रकार नमक का ढेला जल में छोड़ देने पर एकदम घुल-मिल जाता है, पुनः उस स्वरूप में प्राप्त नहीं होता, किन्तु जल जहाँ से भी लेङ्गे वह नमकीन ही होगा। ठीक उसी प्रकार जब आत्मा जीवों के साथ प्रकट होता है। तभी वह देखता है, एक-दूसरे को पहचानता व बात करता है। परन्तु जब विषयों से अनासक्त जीव आत्मा के सम्पूर्ण में पहुँचता है, तब किससे किसको सूँघे, देखे तथा सुने। किससे किसको कहें, समझे या पहचानें? स्पष्ट है सब आत्मा ही है, दूसरा है ही नहीं तो जानने वाले को किससे जाने? अद्भुत विवेचन है। मोक्षावस्था में जब आत्मा सांसारिक विषयों या भूतों (पञ्चतत्त्व) से पृथक् हो जाता है, उस समय उसका अनिर्वचनीय रूप होता है, यही मुक्ति है जो अवर्णनीय है। **मुण्डकोपनिषद्** के एक मन्त्र में उल्लेख है— **'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपं विहाय। तथा विद्वान्नामरूपा-द्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।'** (तृ. मुण्डक/२/८) अर्थात् जिस प्रकार नदियाँ बहते-बहते अपना पृथक् नाम रूप छोड़ समुद्र में अस्त हो जाती हैं, उसी प्रकार जीवात्मा नाम-रूप से छूटकर ब्रह्म में समा जाता है।' **बृहदारण्यकोपनिषद्** में भी कहा है— 'जैसे समुद्र में पहुँचने पर चारों ओर जल के अतिरिक्त कुछ नहीं है, वैसे ही मोक्षावस्था में पहुँचकर आत्मा के अलावा कुछ नहीं रहता। मोक्षावस्था में जब जीव अपने यथार्थ स्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है, वह उसकी परम गति है।

मोक्ष या मुक्ति के रूप— उपनिषदों में मोक्ष को दो रूप (१) जीवन मुक्ति एवं (२) विदेहमुक्ति बताये हैं। **बृहदारण्यकोपनिषद्** (४/४/६-७) के मन्त्र का अर्थ है कि 'जो कामनाएँ जीवात्मा के हृदयस्थल में हैं वे जब साँप की तरह केंचुलीवत् छूट जाती हैं

तब यह मरणशील मनुष्य अमृत हो जाता है, और शरीर के रहते हुए भी ब्रह्म-रस का पान करता है। **छान्दोग्य उपनिषद्** (८/१२/३) में भी कहा गया है कि जीवनमुक्त अवस्था में मनुष्य सशरीरी होते हुए भी अशरीरी महसूस करता है। वह जानता है कि यह आत्मा शरीर रूपी रथ से जुड़ा हुआ है। वह आत्मा (परमज्योति) के दर्शन कर अपने शरीर को पृथक् देखता है।

स्पष्ट है कि मोक्ष केवल मृतकों के लिए आरक्षित नहीं है। उपनिषदों का कथन है कि जिस प्रकार बीज को अच्छी तरह भून देने पर उसमें अङ्कुर नहीं फूटता, उसी प्रकार संसारवासना भुनने (नष्ट होने) पर व्यक्ति **जीवनमुक्त** हो जाता है। अर्थात् निष्काम-भाव से कर्म करते हुए दिखने पर भी अलिप्त रहते इसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करते हैं। **विदेह- मुक्ति** से तात्पर्य जीवनमुक्त होने के साथ-साथ शरीर से भी मुक्त हो जाना। **मुक्तिकोपनिषद्** के अनुसार चित्त नाश के दो रूप हैं— सरूप और अरूप। **जीवनमुक्त** सदेही अवस्था में चित्त सरूप होता है लेकिन विदेह मुक्त अशरीरी अवस्था में चित्त नाश अरूप होता है। आगे कहा है— 'जिनका चित्त और अभिमान लुप्तप्राय है, इन्द्रिय रूपी शत्रु वश में है, उनकी भोगवासनाएँ उसी प्रकार क्षीण हो जाती हैं, जैसे हेमन्त ऋतु के आने पर कमलिनी कमल का पौधा स्वतः नष्ट हो जाता है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक, घूमना बंद करने पर भी थोड़ी देर तक चलता रहता है, उसी प्रकार मोक्ष-प्राप्ति के बाद पूर्व जन्मों के कर्मानुसार शरीर कुछ काल तक जीवित रहता है, **जीवन-मुक्त** अवस्था में रहता है। पूर्व जन्म कर्मों के फल भोग लेने पर व्यक्ति का शरीर मर जाता है, यही **विदेह-मुक्ति** है।

मोक्ष मार्ग— ज्ञान से ही सम्भव है। **बृहदारण्यक उपनिषद्** में कहा है— **'ज्ञानादेव मुक्तिः, ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** अर्थात् ज्ञान से ही मुक्ति सम्भव है, ज्ञान के अभाव में नहीं। आदिशङ्कराचार्य भी कहते हैं— **'ज्ञानविहीनं सर्वमतेन मुक्तिः न भवति जन्म-शतेन'। छान्दोग्योपनिषद्** में **'तरति शोकम् आत्मवित्'** जो आत्मा में अवस्थित है, वह समस्त शोकों से मुक्त है। **'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'** ब्रह्म का ज्ञान होने वाला ब्रह्म हो जाता है। स्पष्ट है ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष मार्ग है।

उपनिषदों में ज्ञान को व्यापक अर्थ में स्वीकार किया है, जिसमें नैतिकता, धार्मिकता, अन्तःकरण शुद्धता, आहार-शुद्धि, तप, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, योग-प्राणायाम आदि साधनों की सीढ़ियों से गुजरकर ब्रह्मज्ञानी गुरु के पास जाकर **'ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान'** ग्रहण करना चाहिए **(बृहदारण्यक २/४/५)**। गुरु उपदेश के सारभूत मोक्ष प्राप्ति के तीन चरण हैं— (१) गुरुमुख से **'ब्रह्मात्मैक्य'** ज्ञान को सुनना (२) उस पर चिन्तन-मनन करना तथा (३) निदिध्यासन अर्थात् श्रवण मननीय ज्ञान का निरन्तर ध्यान करना। इन चरणों में गुजरने के बाद गुरु, ब्रह्म जिज्ञासु को, **'तत्त्वमसि' 'वह तू है'** अर्थात् तू ही ब्रह्म है। शिष्य के

इसका अनुभव होने पर वह कह उठता है— **'अहं ब्रह्मास्मि।' मैं ही ब्रह्म हूँ।** यहाँ आकर 'जीव' व 'ब्रह्म' का भेद समाप्त हो जाता है। वर्षा की बूँद के सागर में मिलने के समान जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है। यही जीवन-मुक्ति 'मोक्ष' की अवस्था है। **उपनिषद् मतानुसार** जीवन-मुक्त व्यक्ति के पूर्वजन्म के कर्मों का फल समाप्त हो जाता है, तब उसके प्राण 'ब्रह्मरन्ध्र' से निकलते हैं। ब्रह्मज्ञान के द्वारा अपने शरीर को छोड़ना ही **विदेहमुक्ति** है।

मोक्ष ही श्रेय मार्ग है— उपनिषदों में 'श्रेय' और 'प्रेय' दो मार्गों का उल्लेख है। प्रेय सांसारिक समृद्धि का मार्ग है। प्रेय मार्ग सोने का पिंजरा है। इसमें रखे स्वादिष्ट व्यंजनों के ललचावे में पक्षी फँस जाता है और वह पक्षी **'खुले आसमान की उड़ान'** खो देता है। उसी प्रकार जीव सांसारिक क्षणिक सुखों में फँसकर जन्म-मरण शृंखला में बंध जाता है। **कठोपनिषद्** कहता है— ये दोनों (श्रेय व प्रेय) मार्ग मनुष्य को अपनी ओर खींचते हैं, जो विरला श्रेयस् मार्ग का अनुसरण करता है और लक्ष्य प्राप्त हो जाता है वह मुक्ति को प्राप्त करता है और जो प्रेयस् मार्ग को अपनाता है वह पतित हो जाता है। उपनिषदों का बार-बार कथन है कि व्यक्ति को श्रेयस् (विद्या का ज्ञान) को ही अपनाना चाहिए, यही जीवन का वास्तविक लक्ष्य है। प्रेय को साध्य समझकर महमूद गजनवी रोता हुआ संसार से चला गया, इधर कणाद ऋषि कटे हुए खेत से कण-कण बीनकर जीवन निर्वाह करते थे। यही कणाद ऋषि वैशेषिक दर्शन के रचयिता थे। जितनी आवश्यकता है उतना ही लें एवं गरीब निराश्रित जिनको दो जून की रोटी उपलब्ध नहीं है, उनको दें। **कबीर** कहते थे— **साँई इतना दीजिए जामें कुटुम्ब समाय, मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय।'** इससे ज्यादा सामाजिक समानता का उदाहरण क्या हो सकता है। उपनिषद् हमें यही सिखाते हैं।

उपनिषदीय संस्कृति से सुदृढ़ समाज का निर्माण— ऊर्ध्वलिखित उपनिषदीय सांस्कृतिक तत्त्वों से स्पष्ट है कि मनुष्य का जन्म उपनिषदुक्त पुरुषार्थ के आवरण में जन्म लेता है। जिसे साधारण धर्म कहते हैं, जो सार्वभौमिक सबके लिए हैं— दान, दया, दमन, शम, अस्तेय, अपरिग्रह एवं स्वाध्यायादि का पालन करना होता है। विशेष धर्म में वर्ण-धर्म एवं आश्रम धर्म है। वर्ण व्यवस्था का आधार जन्मगत नहीं होकर दक्षता एवं संस्कारगत था। वर्ण व्यवस्था के पीछे उपनिषदों की यह धारणा थी कि समाज में विभिन्न व्यक्तियों की प्रकृति व अवस्था और योग्यता भेद में उनकी शारीरिक एवं मानसिक परिस्थिति भिन्न-भिन्न होती है। इसलिए सबके कर्त्तव्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में अलग-अलग होते हैं। अतः सबके लिए एक ही कर्त्तव्य का विधान करना मानवीय प्रकृति का शोषण है। साथ ही एक निम्न वर्ण (शूद्र) का व्यक्ति अपने गुणों में वृद्धि कर उच्च वर्ण को प्राप्त कर सकता है। जिससे समाज में हीनता की भावना नहीं व्याप्त होती थी। सभी वर्ण स्व-स्व कर्तव्य करते थे। आज वर्ण व्यवस्था,

जन्म से हो गई है। जिससे उच्च-निम्न जातिगत विद्वेष स्पष्ट दिखाई देता है। निम्न जातियाँ आरक्षण लेकर उच्च जातियों के बराबर आना चाह रही हैं, यहाँ तक तो ठीक है। किन्तु अत्यधिक आरक्षण भविष्य में जातीय संघर्ष को जन्म दे सकता है।

विशेष धर्म में आश्रम व्यवस्था थी, जिसका प्रारम्भ ब्रह्मचर्य आश्रम से शुरू होता था। यहीं से ब्रह्मचारी को सद्गुण युक्त जीवन-यापन की शिक्षा दी जाती थी या यों कहिए- कि मानव जीवन के पड़ाव की नींव में सद्गुण रूपी हीरे जड़े जाते थे। आज स्कूलों में मात्र प्रार्थना पढ़कर इतिश्री कर ली जाती है एवं नैतिक शिक्षा का सर्वथा अभाव है, जिससे विद्यार्थी अपने पाँच गुणों काक चेष्टा, बकोध्यान, स्वल्पनिद्रा, अल्पाहारी एवं गृहत्यागी को भूलकर **'सिनेचर्चा केशध्यानम् दिवानिद्रा तथैव च। चाटाहारी, भ्रमणचारी, विद्यार्थिनां पञ्चलक्षणम्।'** अर्थात् सिनेमा की चर्चा, केश संवारना, दिन को सोना, चाट खाना एवं घूमना आदि दुगुर्णों से दूषित हो रहे हैं। अतः विद्यालयों में उपनिषदीय शिक्षादि नैतिक गुण सभ्य समाज के निर्माण के लिए अत्यावश्यक हैं।

शिष्य का ब्रह्मचर्य जीवन समाप्त होने पर जब वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिए आश्रम से प्रस्थान करता है तो गुरु शिष्य को आगे के जीवन के लिए सद्गुणों का उपदेश देते हैं— **'सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः** (तै. उप. १/११/१) अर्थात् सत्य बोलना, धर्माचरण करना और स्वाध्याय में प्रमाद नहीं करना। इसके साथ ही **मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भव। अतिथिदेवो भव। श्रद्धया देयम्।** अर्थात् माता, पिता, गुरु एवं अतिथि को देवता के समान समझना तथा श्रद्धा से दान करना। गृहस्थ में अर्थोपार्जन आवश्यकतानुसार ही हो। धन का उपार्जन धर्म से करें और उसे आत्मकल्याण का माध्यम बनाएँ। आज के युग में मनुष्य में अर्थ-पिपासा बढ़ रही है, भौतिकता की दौड़ में वह आत्मोन्नति से विमुख हो रहा है। यही दुःखों का मूल कारण है। अमीर-गरीब की दूरी बढ़ रही है यह सब उपनिषद् शिक्षा से विमुख होने का परिणाम है। उपनिषदीय संस्कृति में गृहस्थ का कार्य, दान, स्वाध्याय, जीवन निर्वाह के लिए धन, वंशवृद्धि एवं पितृऋण मुक्ति हेतु सन्तानोत्पत्ति करना आदि थे। गृहस्थ अर्थ एवं कामादि एषणाएँ धर्म के अनुसार करें। यौनेच्छा को भी यज्ञ के समान पवित्र समझा गया है एवं गर्भ निरोधक मन्त्रों की व्यवस्था भी की गई। वंशवृद्धि एवं पितृऋण मुक्ति के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर आत्मोन्नति के लिए तप करने के लिए वनगमन की व्यवस्था की। कितनी सुन्दर उपनिषदीय गृहस्थ व्यवस्था और कितनी संयम के साथ। आज की भौतिक विलासिता का ही परिणाम है कि हमारा देश जनसंख्या में विश्व सिरमौर है। जनसंख्या रूपी बारूद के फूटने पर भयङ्कर विभीषिका त्राहि-त्राहि उत्पन्न कर सकती है। भारत के अपने ही प्राचीन उपनिषदीय संस्कृति से सीख लेने की आवश्यकता है। उपनिषदीय चौथा आश्रम **संन्यास आश्रम** है। जिसमें दान-तप से परे

निष्काम जीवन जीना होता है। अर्थात् पुरुषार्थीय अर्थ में धर्म, अर्थ, कामादि साधनों से जीवन का साध्य एवं अन्तिम लक्ष्य मोक्ष (पुरुषार्थ) को प्राप्त करना है। यह संन्यास भी ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं। अनेक गृहस्थी ऋषियों यथा— याज्ञवल्क्य, उद्दालक, श्वेतकेतु, जनक, अश्वपति, अजातशत्रु एवं प्रवाहण आदि ने गृहस्थ में रहकर मोक्ष प्राप्त किया है। 'मोक्ष' में आत्मा की अमरता का सिद्धान्त है। गौ, स्वजाति-वर्ण, स्वधर्म व सभ्यता संस्कृति की रक्षार्थ अनगिनत लोगों ने अपने प्राणों की आहुति दी। यवनकाल में लाखों ब्राह्मणों-क्षत्रियों ने स्वधर्म, चोटी एवं जनेऊ की रक्षार्थ अपने सिर दे दिये। गुरु गोविन्द सिंह के सुपुत्र दीवारों में हँसते-हँसते चुने गये। मतिराम आरे से चीरने पर हँसते रहे। बंदावीर का माँस नोचवाया गया, उफ तक नहीं किया। यह सब उपनिषद् शिक्षा का चमत्कार था। आज जब हमने उपनिषद् शिक्षा से मुख मोड़ा, पाश्चात्य शिक्षा एवं गन्दे साहित्य से नाता जोड़ा, उसी का दुष्परिणाम यत्र-तत्र बलात्कार एवं भ्रूण हत्या के रूप में दिखाई दे रहा है। उपनिषदों में कन्या भ्रूण हत्या को महापातक माना गया है। वैदिक काल से ही कन्या का बालक के समान विधिवत् उपनयन होता था और उसे शिक्षा का पूरा अधिकार था। यह इस बात से भी प्रमाणित होता है कि अनेक वैदिक सूक्तों की मन्त्रद्रष्टी, स्त्रियाँ थीं। जैसे अपाला, घोषा, विश्ववारा आदि। स्त्री और पुरुष दोनों को मोक्ष प्राप्ति का अधिकार था। याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियों में मैत्रेयी विदुषी महिला थी उसने अपने पति की सम्पत्ति की चाह न कर मोक्ष रूपी अमृत का उपदेश देने की याचना अपने पति से की। इसी प्रकार एक स्त्री पात्र गार्गी थी जो उपनिषद्कालीन ज्ञान चर्चाओं में पुरुषों के बराबर बढ़-चढ़कर भाग लेती थी। ये उदाहरण यह प्रकट करते हैं कि उस समय स्त्री और पुरुष दोनों को समान अधिकार थे। आधुनिक युग में यदा-कदा स्त्रियों को दहेज की आग में झोंक दिया जाता है, यह सब उपनिषदीय ज्ञान के अभाव के कारण है।

उपनिषदीय संस्कृति में धर्म एवं दर्शन के विषय मात्र ब्राह्मणों की विरासत नहीं हैं बल्कि गूढ़ प्रश्नों के समाधान प्राप्त करने के लिए कई बार ब्राह्मण भी क्षत्रियों के पास गये। मिथिला के राजा जनक और काशी के अजातशत्रु ऐसे उदाहरण हैं, जिन्होंने ऋषियों (ब्राह्मणों) को ज्ञानोपदेश दिया। (छा.उप. ५/३-७, बृह. उप. २/१)। इसी प्रकार राजा जाबलि प्रवाहण के पास श्वेतकेतु के पिता गौतम ब्रह्मविद्या के ज्ञान के लिए आये थे। क्षत्रिय राजा अश्वपति कैकयी के पास वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण भी 'वैश्वानर-ब्रह्म' उपदेश सुनने को जाते थे। (छा.उप. ५/११)। समाज के स्थायित्व के लिये, वर्णगत उदारता की तरह आज जातिगत उदारता की सीख इन उपनिषदीय उदाहरणों से ली जा सकती है।

सत्य को उपनिषदों में 'स्वयं ब्रह्म' कहा गया है। (छान्दोग्य उप. ८/३/५, बृह.उप.५/५) में सत्य की व्याख्या इस प्रकार है— सत्य में स+ति+य तीन अक्षर हैं।

'सत्'– अमृत ब्रह्म का द्योतक है। 'ति' 'मर्त्य' जगत् का सङ्केतक है। इसी प्रकार 'यम' इन दोनों को मिलाने का सूचक है, क्योंकि इसमें 'अमृत' तथा 'मर्त्य' दोनों प्राप्त होते हैं, यानि ब्रह्म से जगत् और जगत् से ब्रह्म का दर्शन कराता है। अतः उपनिषदीय युग में 'सत्य' का बहुत महत्त्व था, इसके आगे वर्ण का महत्त्व भी नगण्य था। यह इस आख्यान से स्पष्ट है— जाबाला के पुत्र सत्यकाम ने अपनी माँ से कहा— मैं एक ब्राह्मण आचार्य के यहाँ ब्रह्मचारी होकर रहना चाहता हूँ, परन्तु वे निम्न जाति के शिष्यों को ग्रहण नहीं करते। माँ! मैं किस गोत्र का हूँ। माता ने उत्तर दिया— वत्स! मुझे गोत्र का पता नहीं, युवावस्था में परिचारिका वृत्ति करने पर इधर-उधर रहा करती थी, तभी तुम मेरे गर्भ में आ गए थे। यही सत्य उसने गुरु के गोत्र पूछने पर बता दिया। सत्यकाम के सत्य वचनों से गुरु प्रसन्न हुए तथा वर्ण के अज्ञात होने पर भी उसे मोक्ष प्राप्ति का ज्ञानोपदेश दिया, क्योंकि सत्यनिष्ठा ब्राह्मण का लक्षण है। (छा.उप. ४/४) उस कथानक से स्पष्ट है कि उपनिषदों में सत्यशीलता के आगे वर्ण, जाति का महत्त्व नगण्य था। काश! आज के युग में ऐसा होता तो समाज में भ्रष्टाचार रूपी कैंसर व्याप्त नहीं होता।

उपनिषदों में निर्गुण उपासना पर अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म को ही समस्त ब्रह्माण्ड का नियामक माना गया है, जिसकी प्राप्ति के लिए कोई जाति, सम्प्रदाय का बंधन नहीं है। इसमें मूल भाव यह है कि तात्विक दृष्टि से सभी जीव उस एक तत्त्व (ब्रह्म) का ही अंश है तब अंश, अंश के प्रति घृणा, ईर्ष्या क्यों रखे? सभी धर्म उसी ब्रह्म में समाहित हैं। यह तत्त्व व्यक्ति एवं समस्त धर्मों में समानता, एकता का अनुपम उदाहरण है।

पंथ निरपेक्षता का उदाहरण **उपनिषद्सार गीता** में मिलता है। इसमें भगवान् कृष्ण कहते हैं— **'यो यो यां यां तनुं भक्त्या श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्'** (गीता ७/२१)।। अर्थात् 'जो जो सकाम भक्त जिस-जिस देवता के स्वरूप को श्रद्धा से पूजना चाहता है, उस भक्त की श्रद्धा को मैं उसी देवता के प्रति स्थिर कर देता हूँ। इस प्रकार पंथ-निरपेक्षता मात्र नारा ही नहीं अपितु धार्मिक एकता का महत्त्वपूर्ण दर्शन है।

उपनिषदों में आहार शुद्धि पर बहुत जोर दिया है— **'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्व ग्रन्थीनां....'** (छान्दोग्य ७/२६/२) अर्थात् 'आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण शुद्धि होती है। अन्तःकरण शुद्ध होने पर स्मृति दृढ़ हो जाती है तथा स्मृति प्राप्ति पर समस्त गाँठे खुल जाती हैं। आहार शुद्धि से दया, दान एवं इन्द्रिय दमन की भावना उत्पन्न होती है। अशुद्ध आहार माँस-मद्य तथा मादक द्रव्यों से तमोगुण बढ़ता है, मन अशान्त एवं ब्रह्मचर्य ध्वस्त होता है, जैसा कि आधुनिक युग में देख रहे हैं अतः आहार शुद्धि महती आवश्यकता है।

उपनिषद् के मूल वेदों में पर्यावरण शुद्धि के लिए प्रकृति के पाँचों तत्त्वों के लिए

शान्ति की प्रार्थना की गई है— **'द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ँ शान्ति पृथिवीशान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः व्वनस्पतयः शान्तिर्व्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः... (यजुर्वेद)** अन्तरिक्ष से परे द्यौ लोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, जल, औषधि, वनस्पति, विश्वदेव एवं समस्त ब्रह्माण्ड सञ्चालक ब्रह्म शान्त हों...। समस्त प्राकृतिक तत्त्व शान्त होने पर समस्त पर्यावरण शुद्ध होगा। आज भौतिक कल-कारखानों के अन्धाधुंध उपयोग ने ओजोन परत में छेद कर पर्यावरण को प्रदूषित किया है, यह प्रवृत्ति सम्पूर्ण संसार के लिए घातक है।

सारांशतः उपनिषद् संस्कृति से सद्गुणी व्यक्तियों की पौध तैयार होती है, जिससे सदाचरण युक्त एक स्वस्थ समाज का निर्माण होता है। लगभग सभी उपनिषदों में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, तप, शम-दम, दान, दया, क्षमा, आतिथ्य सत्कार, ईश्वर में श्रद्धा और निष्काम भावना से ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है, उसे **'सर्वब्रह्ममयं जगत्'** दिखाई देता है। **ईशावास्योपनिषद्** का ६वाँ मन्त्र है— **'यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।** अर्थात् जो मनुष्य प्राणी मात्र को परमात्मा में ही देखता है और सम्पूर्ण प्राणियों में परमात्मा को देखता है, उसके पश्चात् वह कभी भी किसी से घृणा नहीं करता।' आज का परिदृश्य यह है कि मानव-मानव से धर्म या जिहाद का नारा लगाकर लड़ रहा है। अमीरी-गरीबी, धर्म-भेद, रङ्ग-भेद, जाति व लिङ्ग भेद से सामाजिक असमानता की जड़ें गहरी होती जा रही हैं। समाज में समत्व भाव जागृत करने के लिए उपनिषदों की महती भूमिका है।

अन्त में प्रश्नोपनिषद् के प्रारम्भ का शान्ति पाठ मानव मात्र के लिए ग्रहणीय है— **ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः। स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः।।** हम कानों से कल्याणमय वचन सुनें, नेत्रों से कल्याण ही देखें, सुदृढ़ अङ्गों से भगवान् की स्तुति करते रहें। भोग-विलास या प्रमाद में न बीते, हमारी आयु भगवान् के कार्य में ही व्यतीत हो। उपनिषद्युक्त मंत्र को समस्त मानव हृदयङ्गम कर लें तो देश में तो क्या सम्पूर्ण विश्व में शान्ति सम्भव है। इत्यलम्।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

१. कल्याण उपनिषद् अङ्क, गीता प्रेस, गोरखपुर।
२. उपनिषद् सार- डॉ. सन्तोष आचार्य।
३. ईशावास्योपनिषद् - तारिणीश झा व्याकरण वेदान्ताचार्य।
४. दत्ता एवं चटजी - भारतीय दर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
५. शर्मा रामनाथ - भारतीय दर्शन की रूपरेखा, केदारनाथ रामनाथ, मेरठ।

उपनिषत्सम्बन्धी कतिपय समस्याओं का निराकरण

डॉ. गणेशीलाल सुथार
पूर्व निदेशक , पं. मधुसूदन ओझा शोध प्रकोष्ठ,
पूर्व आचार्य, संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

उपनिषद् भारतीय संस्कृति के स्वरूपाधायक हैं। औपनिषद दर्शन भारतीय समस्त दर्शन-प्रस्थानों की आधारभूमि है। वस्तुतः औपनिषद दर्शन देशकाल की सीमा से अतीत तथा ब्रह्म-क्षत्रादि वर्णभेद से अपेत विश्वदर्शन है। वह भारतीयों के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण मानव जाति के लिए परम श्रेय का पथ प्रशस्त करता है। संस्कृत से पर्सियन भाषा में अनुवाद से जर्मन भाषा में अनूदित उपनिषदों का अध्ययन कर जर्मन दार्शनिक शोपेनहॉर ने इस प्रकार उनका महत्त्वातिशय माना है— "In the whole world there is no study so beneficial and so elevating as that of the upanisads. It has been the solace of my life and it will be the solace of my death." आध्यात्मिक विषयों में जब कोई विवाद होता है, तब सभी प्रस्थान उपनिषदों का आश्रय लेते हैं। दार्शनिकशिरोमणि डॉ. राधाकृष्णन् ने कहा है— When disputes arise, all schools turn to the upanisads (Indian Philosophy, Vol. I, Page 140) उपनिषद् इतने गूढार्थक हैं कि सभी भाष्यकारों और टीकाकारों को अपने पूर्वचिन्तित आध्यात्मिक धारणाओं के लिए उपनिषदों का आश्रय प्राप्त हो जाता है। विश्वविश्रान्तकीर्ति दार्शनिक-प्रवर डॉ. राधाकृष्णन ने इस वस्तुस्थिति की ओर इङ्गित करते हुए कहा है— "It is not easy to decide what the upanisads teach. Modern students read them in the light of this or that preconceived theory." (Indian Philosophy, Vol. I, Page 139)

"Different commentators, starting with particular belief, force their views into the upanisads and stain their language so as to make in consistent with their own special doctrines." (Indian Philosophy, Vol. I, Page 140).

उपनिषत्सम्बन्धी अनेक समस्यायें हैं। सर्वप्रथम तो यह प्रश्न है कि उपनिषद्-वाङ्मय मन्त्र-ब्राह्मण और आरण्यक भाग से पृथक् अङ्गशास्त्र है या अङ्गी शास्त्र। अधिकतर भाष्यकारों, टीकाकारों और विद्वानों की यह धारणा है कि उपनिषद् वाङ्मय मन्त्र, ब्राह्मण और आरण्यक भाग से पृथग्भूत अङ्गी शास्त्र है। इस प्रकार उपनिषदवाङ्मय के लिए विभाजक रेखा (Cut off line or dividing line) मानी जाती है। वस्तुतः यह धारणा भ्रान्त है। मन्त्र-विधि-आरण्यक-उपनिषत् नामक चारों विभागों की समष्टि की निष्पत्ति हुई है। मूलतः वेदशास्त्र के दो प्रकार हैं— ब्रह्म और ब्राह्मण। चारों मन्त्र संहिताएँ ब्रह्म हैं। ब्राह्मणग्रन्थ के तीन पर्व हैं— विधिकाण्ड, आरण्यककाण्ड और उपनिषत्काण्ड। यज्ञविधि कर्मकाण्ड है, आरण्यक उपासनाकाण्ड है और उपनिषद् ज्ञान काण्ड है। उपनिषद्, ब्रह्मसूक्त और श्रीमद्भगवद्गीता को प्रस्थानत्रयी कहते हैं। प्रस्थानत्रयी भी अङ्गशास्त्र है, अङ्गीशास्त्र नहीं। इसका कारण यह है कि प्रस्थानत्रयी का शिरोमणि भूत उपनिषद्भाग वेदशास्त्र का अंगशास्त्र है, अंगीशास्त्र नहीं। हाँ, यह अवश्य है और ब्रह्मसूत्र तथा गीता उपकार्य अंग है। इसीलिये यह कहा गया है -

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता गीता दुग्धामृतं महत्।।

उपनिषद्-दर्शन भारतीय सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन-मनन का मूल उत्स है। अधिकतर विद्वान् उपनिषद् को मन्त्रसंहिताओं और ब्राह्मणग्रन्थों से सर्वथा विभक्त और पृथग्भूत मानते हैं। इस मान्यता के खण्डन के लिए हम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं कि यजुर्वेदसंहिता का 40वाँ अध्याय ही 'ईशोपनिषत्' नाम से प्रख्यात है और शतपथब्राह्मण का चौदहवाँ अध्याय ही 'बृहदारण्यकोपनिषत्' नाम से प्रख्यात है। यह भी प्रश्न उठता है कि जब उपनिषत्काण्ड ब्राह्मण का ही एक पर्व है, तब फिर केवल यज्ञविधिकाण्ड के लिए ब्राह्मण शब्द क्यों प्रयुक्त होता है। इसका उत्तर यह है कि केवल विधिकाण्ड के लिये ब्राह्मण शब्द रूढ हो गया है, अतः उसके लिए प्रयुक्त है।

दूसरा प्रश्न यह है कि उपनिषत् शब्द का पदार्थतावच्छेदक अध्यात्मविद्यात्व है अथवा कोई अन्य। विद्वानों की सामान्य धारणा यही है कि अध्यात्मविद्यात्व उपनिषद् शब्द का पदार्थतावच्छेदक है। इसका कारण यह है कि अद्वैतवेदान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य शङ्कर ने उपनिषत् शब्द की अध्यात्म विद्यापरक व्युत्पत्ति की है। स्वयं महर्षि पाणिनि ने 'षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु' इस प्रकार षदॢ धातु के अर्थत्रय से उपनिषत् शब्द को अध्यात्मविद्यापरक मानने के लिये अवकाश दे दिया है। कठोपनिषद् के सम्बन्धभाष्य में आचार्य शङ्कर ने उप उपसर्गपूर्वक सद् धातु से क्विप् प्रत्यय के योग से निष्पन्न उपनिषत् शब्द के अर्थ की विशद व्याख्या की है। उपनिषद् वह विद्या है, जिससे संसारबीज अविद्या का विशरण (विनाश) होता है, जो परब्रह्म का ज्ञान (गति) करा देती

है और जो गर्भवास-जन्म-जरादि उपद्रवसमूह का अवसादन (शिथिलीकरण) कर देती है। उन्होंने ब्रह्मविद्या के साथ अग्निविद्या को भी उपनिषद् कहा है। तैत्तिरीय उपनिषद् के सम्बन्धभाष्य के अन्त में भी कहा है— **''उपनिषदिति विद्योच्यते, तच्छीलिनां गर्भजन्मजरादिनिशातनात्तदवसादनाद्वा ब्रह्मणो वोपनिगमयितृत्वादुपनिषण्णं वास्यां परं श्रेय इति।''** (ईशादि नौ उपनिषद् शाङ्करभाष्य-सहित, पृ. 878) हम यह कह सकते हैं कि उपनिषत्काण्ड (ज्ञानकाण्ड) के लिये उपनिषत् शब्द की यह व्युत्पत्ति और व्याख्या पूर्णतया अन्वित होती है। अर्थात् उपनिषत्काण्ड के लिये आचार्य शङ्करकृत लक्षण उपयुक्त है। जहाँ तक उपनिषद्-ग्रन्थों का प्रश्न है, उनके लिये तादर्थ्य निमित्त से उपनिषद् शब्द का गौण रूप से प्रयोग होता है। जिस प्रकार घृत के आयुर्वर्धक होने से 'आयुर्वै घृतम्' कहा जाता है, उसी प्रकार उपनिषद् ग्रन्थ ब्रह्मविद्या के लिये होने से उपनिषद् शब्द से कहे जाते हैं।

अब तीसरा प्रश्न यह उठता है कि उपनिषत्काण्ड के लिये उपनिषद् का आचार्य शङ्करकृत पूर्वोक्त अध्यात्मविद्यापरक लक्षण अन्वित होने पर भी उपनिषद्भाग से भिन्न वेदभागों के निम्नलिखित उद्धरणों में प्रयुक्त उपनिषत् शब्द में कौनसी व्युत्पत्ति घटित होगी? इन उद्धरणों में प्रयुक्त उपनिषद् के लिये अध्यात्म विद्यापरक लक्षण तो अन्वित नहीं हो सकता। सामान्यतया विद्वानों की यह धारणा है कि उपनिषत्काण्ड में अन्य वेदभागों में उपनिषत् शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। वे उद्धरण इस प्रकार हैं—

1. तस्या वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत् (शत. ब्रा. 10.5.1)।
2. अथादेशा उपनिषदाम् (शत. ब्रा. 10.4.5.1)।
3. तस्य वा एतस्य यजुषः 'रस' एवोपनिषत् (शत. ब्रा. 10.3.5.12)।
4. सैषा संवत्सरस्योपनिषत् (शत. ब्रा. 12.2.2.23)।
5. तस्योपनिषत् 'न याचयेत्' इति (शाङ्खयनारण्यक 4.1)।
6. अथातः संहिताया उपनिषत् (शां. आ. 7/2)
7. अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच उपनिषत् (ऐतरेय आरण्यक 3.2.5)।
8. नाना तु विद्या चाविद्या च। स यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तरं भवति (छां. उप. 1.1.10)
9. अरण्यमयात्र पुरेयादित्युपनिषदिति वैखानसेभ्यो नियमो विधीयते (शारीरकसूत्र का शाङ्करभाष्य 3.4.40)

अपि च, स्वयं उपनिषद् में भी उपनिषद् शब्द का प्रयोग किया गया है। यथा— तैत्तिरीयोपनिषद् की शीक्षावल्ली में कहा है—

एषा वेदोपनिषत् (तैत्तिरीयोपनिषद् 1.11.4)

अथातः स ँ हिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः। (तैत्तिरीयोपनिषद् 1.3.1)

श्रीमद्भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु' इस प्रकार सप्तमी विभक्ति का बहुवचनान्त 'उपनिषत्सु' रूप प्रयुक्त है। किं च, महर्षि वेदव्यास ने महाभारत में 'उपनिषत्' शब्द का प्रयोग किया है—

वेदस्योपनिषत् सत्यं, सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषद्दानं, दानस्योपनिषत्तपः।।
तपसोपनिषत्त्याग, स्त्यागस्योपनिषत् सुखम्।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः, स्वर्गस्योपनिषच्छमः।।

(महाभारत शान्तिपर्व मोक्षखण्ड 251 अ. 11-12 श्लोक)

उपर्युक्त उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उपनिषत् शब्द केवल वेद के अन्तिम भाग (उपनिषत्काण्ड) में ही निरूढ है और अध्यात्मविद्यात्व ही इस का अवच्छेदक है, यह मान बैठना सर्वथा भ्रान्ति ही है। ब्राह्मण ग्रन्थों और आरण्यक ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर उपनिषत् शब्द प्रयुक्त हुआ है। ऐसी स्थिति में उपनिषत् के व्यापक सामान्य लक्षण का अवच्छेदक अध्यात्मविद्यात्व को किस आधार पर मान लिया गया। अध्यात्मविद्यात्व को अवच्छेदक मान कर आचार्य शङ्करकृत लक्षण को उपनिषत्काण्ड का विशेष लक्षण माना जा सकता है। इस परिस्थिति में उपनिषत् का कोई ऐसा सामान्य लक्षण करना होगा, जो सर्वत्र अन्वित होने वाला व्यापक लक्षण हो।

इस समस्या के समाधान के लिये हमें समीक्षाचक्रवर्ती विद्यावाचस्पति महामहोपदेशक पण्डित मधुसूदन ओझा (मैथिल) के श्रीमद्भगवद्गीताविज्ञानभाष्यम् (प्रथमं रहस्यकाण्डम्) के 'अथ गीताशब्दसमीक्षा', 'गीतानामरहस्ये उपनिषच्छसमीक्षा' नामक अध्यायों का अध्ययन करना होगा। गीता यद्यपि गीतोपनिषद् है तथापि भाष्यकार, टीकाकार तथा अन्य दार्शनिक गीता को स्मृति (Tradition) मानते हैं। जब साक्षात्कृतधर्मा महर्षियों के द्वारा दृष्ट अध्यात्मविद्या के लिये उपनिषद् का प्रयोग किया जाता है, तब अव्यय पुरुषोत्तम भगवान् के द्वारा उपदिष्ट और महर्षि वेदव्यास द्वारा सङ्कलित श्रीमद्भगवद्गीता रूपी अध्यात्मविद्या उपनिषद् क्यों नहीं कही जा सकती?

पण्डित ओझा जी ने 'द्रष्टुर्वाक्यं श्रुतिः, श्रोतुर्वाक्यं स्मृतिः' इस परिभाषा के अधार पर स्वतः प्रमाण गीता को श्रुति कहते हुए निष्कर्षवाक्य दिया है— "**एष हि भवद्गीतोपनिषच्छास्त्रार्थनिष्कर्षः।**" (गीताविज्ञानभाष्ये-प्रथम काण्ड, पृ. 14) तत्पश्चात् 'तुष्यतु दुर्जनन्याय' से व्याख्याविकल्प में दो प्रकार की उपनिषद् बतलायी है— श्रौती और स्मार्ती। श्रोत उपनिषदों में जो संक्षिप्त रूप से कही गई है। उस अव्ययविद्या की स्पष्ट प्रतिपत्ति कराने वाली गीता को स्मार्ती उपनिषद् मान लिया जाये। जब प्रतिवादी यह कहते हैं कि स्मार्ती उपनिषद् तो कोई नहीं होती, तो पण्डित ओझा अन्य दार्शनिकों के मत से गीता को स्मार्ती उपनिषद् मानने के लिये समाधान भी देते हैं।

इस समाधान के पश्चात् वे कहते हैं कि अध्यात्मविद्यात्व उपनिषत् शब्द का पदार्थतावच्छेक होता ही नहीं। उनके अनुसार उपनिषत् का व्यापक सामान्य लक्षण इस प्रकार होगा— **'तत्तत्कर्म फलापेतिकर्तव्यता प्रकार विशेषोपपादकत्वेन व्यवस्थिते विज्ञानसिद्धान्तऽयमुपनिषच्छब्दो निरूढः।'** अर्थात् उनके अनुसार वास्तव में तत्तत्कर्मसमूह की इतिकर्त्तव्यता के प्रकार विशेष का उपपादक विज्ञानसिद्धान्त ही उपनिषद् है। ओझा जी के प्रधान शिष्य पण्डित मोतीलाल शास्त्री उपनिषद् की इस लक्षण के अनुसार वास्तव में तत्तकर्मसमूह की इतिकर्त्तव्यता के प्रकार विशेष का उपपादक विज्ञानसिद्धान्त ही उपनिषद् है। ओझा जी के प्रधान शिष्य पण्डित मोतीलाल शास्त्री उपनिषद् की इस लक्षण के अनुसार व्युत्पत्ति भी देते हैं— **उप = उपपत्तिद्वारा, नि = नितराम्, सीदति = तत्र कर्मणि तत्परभावेन प्रतिष्ठितो भवति।** इस प्रकार पण्डित ओझाजी के अनुसार ज्ञान-विज्ञान का मौलिक रहस्य-सिद्धान्त ही उपनिषत् है।

प्रत्येक कर्म अथवा ज्ञान-विज्ञान का कोई मौलिक रहस्यसिद्धान्त होता है, जिसको उर्दू भाषा में 'उसूल' कहा जाता है और आङ्ग्लभाषा में 'Principle' कहा जाता है। उपनिषत् का पण्डित ओझा-कृत सामान्य लक्षण मानने पर ही गीता के लिए बहुवचनान्त 'उपनिषत्सु' पद सार्थक हो जाता है। मौलिक सिद्धान्त अनेक हो सकते हैं। पण्डित ओझा के अनुसार गीता में 24 उपनिषदें हैं। इस लक्षण को मानने पर ही उपनिषद् में प्रयुक्त उपनिषद् शब्द की उपपत्ति हो सकती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में प्रयुक्त "एषा वेदोपनिषत्" भी उपपन्न हो जाता है। इसका अर्थ है— **"यह वेद का रहस्य-सिद्धान्त है।' आचार्य शङ्कर ने तैत्तिरीयोपनिषद् के "अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः"** (1.3.1) की व्याख्या करते हुए कहा है— "अतः संहिताया उपनिषदं संहिताविषयं दर्शनमित्येतद्ग्रन्थसंनिकृष्टामेव व्याख्यास्यामः।" उपनिषत् का पण्डित ओझा-कृत सामान्य लक्षण मानने पर वह पूर्वोक्त समस्त उद्धरणों के उपनिषत् में अन्वित हो जाता है। गीता में भी यह उपनिषद् का यह सामान्य लक्षण घटित हो जाता है। वस्तुतः उसमें दोनों ही लक्षण अन्वित हैं।

उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ का विधान है। अतः यह प्रश्न उठता है कि उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है। पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने इस समस्या का प्रातिस्विक समाधान किया है। मङ्गलपाठ से विध्वंस अथवा निर्विघ्न समाप्ति तो होती है। उपनिषदों में मङ्गलपाठ का तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है, जो गुहानिहित रहस्य है। उपनिषत्काण्ड अध्यात्मविद्या का प्रतिपादक शास्त्र है। आरण्यक एवं उपनिषत् साधनसाध्यभाव के अभेद से एक हैं। आरण्यकमूला तपश्चर्या ही उपनिषन्मूला ज्ञान-सम्पत्ति के उदय का कारण है। यही कारण है कि ऋषियों ने 'बृहदारण्यकोपनिषत्' इत्यादि रूप से आरण्यक और उपनिषत् का सहप्रयोग करने में कोई आपत्ति नहीं मानी है।

उपकार्य-उपकारक भावों के अभेद के कारण दो आश्रम ही रह जाते हैं— कर्म्माश्रम और ज्ञानाश्रम। कर्म्माश्रम गृहस्थ है, ज्ञानाश्रम संन्यास। ब्रह्मचर्याश्रम कर्म्माश्रम का उपकारक बनता हुआ इसी में अन्तर्भूत है और वानप्रस्थ ज्ञानाश्रम का उपकारक बनता हुआ ज्ञानाश्रम में ही अन्तर्भूत है। कर्म्मप्रधान गृहस्थाश्रम प्रवृत्तिमय है, ज्ञानप्रधान संन्यासाश्रम निवृत्तिमय है। (उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका—प्रथम खण्ड, पृ. 15-16)

उपनिषत् कामनारहित ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक शास्त्र है। औपनिषद ज्ञान के अधिकारी संन्यासी हैं न कि गृहस्थी। जो महापुरुष सांसारिक बन्धनों को छोड़ कर ज्ञाननिष्ठा की ओर प्रवृत्त हो गये हैं, उनके लिये जहाँ उपनिषच्छास्त्र महामङ्गलप्रद है, ठीक इसके विपरीत जाया-पुत्र-भृत्य-पशुसम्पत्ति आदि सांसारिक परिकरों से युक्त एक गृहस्थी के लिये उपनिषदों का अध्ययन अमङ्गल की भूमिका है। यह गृहस्थी को निवृत्ति मार्ग की ओर ले जाता है। विज्ञान-प्रज्ञान आदि खण्ड आत्माओं से अलग कर विशुद्ध आत्मा की ओर ले जाने वाला उपनिषच्छास्त्र गृहस्थियों के लिए अवश्य ही अमङ्गल का कारण है, अतः अहितकर है। गृहस्थ जन भी उपनिषदों का अध्ययन कर सकते हैं, परन्तु उनके लिये उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ करना अनिवार्य है। मङ्गलपाठ से उपनिषज्जनित अमङ्गल एकान्ततः निवृत्त हो जायेगा। यह है उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ का रहस्य।

ऋग्वेद की उपनिषदों के अध्ययन से स्थूल शरीर पर ही प्रभाव पड़ता है। यजुर्वेद की उपनिषदों के अध्ययन से सूक्ष्म शरीर में क्षोभ उत्पन्न होता है। सामवेद की उपनिषदों के अध्ययन से कारण शरीर में अशान्ति होती है और अथर्ववेद की उपनिषदों के अध्ययन से तीनों शरीरों में कष्ट होता है, क्योंकि अथर्वा तीनों शरीरों में व्याप्त है। इसलिये गृहस्थ को आद्यन्त में मङ्गलपाठ अनिवार्यतया करना चाहिये।

अन्तिम समस्या यह है कि विद्वज्जन उपनिषदों के अध्ययन तथा अध्यापन में केवल शब्दार्थ का आश्रय लेते हैं। उन्हें उपनिषदों का गुहानिहित गूढार्थ समझने के लिए पण्डित मोतीलाल शास्त्री द्वारा हिन्दी में रचित उपनिषद्विज्ञानभाष्यो का परिशीलन करना चाहिये। उदाहरण के लिये कठोपनिषद् को लें, तो उसमें अनेक गूढ़ रहस्य हैं, जो प्रसिद्ध आचार्यों के भाष्यों और टीकाओं से समझ में नहीं आ सकते। औद्दालकि आरुणि ने नचिकेता को हठ करने पर कहा— "त्वा मृत्यवे ददामि।" क्या नचिकेता की वस्तुतः मृत्यु हो गई थी? यदि वस्तुतः उसकी मृत्यु हो गई, तो तीन दिन तक मृत शरीर को क्यों रखा गया, उसका दाहसंस्कार क्यों नहीं किया गया? वास्तव में वह मूर्च्छित हुआ था, मृत नहीं। प्रथम अध्याय की प्रथम वल्ली में— "तिस्त्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मे"—इस पंक्ति में 'तिस्त्रो रात्रीः' क्यों कहा है, 'त्रीणि दिनानि' क्यों नहीं कहा? इसका रहस्य यह है कि वैदिक मतानुसार अमान्त मास की प्रधानता होती है। इस क्रम में कृष्ण पक्ष प्रथम पक्ष है, शुक्लपक्ष उत्तर पक्ष है। रात्रि पहले है, दिन बाद में। इसलिये 'तिस्त्रो रात्रीः' कहा है।

उपनिषदों का अध्ययन, अध्यापन तथा अनुसन्धान करने से पूर्व छात्रों तथा विद्वानों को पण्डित मधुसूदन ओझा द्वारा निर्दिष्ट 'सप्तसूत्री' को ध्यानस्थ करना चाहिये। वह 'सप्तसूत्री' इस प्रकार है—

1. उपनिषदः स्वतन्त्रशास्त्रं न मन्तव्याः। उपनिषत्सु प्रोक्तविषयाः संहिता-ब्राह्मणारण्यकग्रन्थानां सम्यक् परिज्ञानानन्तरमेवावगन्तुं शक्याः। उपनिषत्सु उपयुक्तग्रन्थानां सारभूतांशा ओतप्रोताः समाविष्टा वा दृश्यन्ते।
2. उपनिषत्सु जीवप्रजापतिरेव प्रतिपाद्यविषयः। प्रसङ्गवशादेव ईश्वरस्वरूप-विश्लेषणमुपनिषत्सु केवलं जीवस्वरूपप्रतिपादनोपयोगिरूपेणैव क्रियते।
3. उपनिषत्सु व्यापकाखण्डात्मनः स्वरूपवर्णनं न क्रियते। केवलं खण्डात्म-स्वरूप विवेचनेव क्रियते।
4. सर्वासूपनिषत्सु जीवात्मनः सर्वे भागा न निरूपिताः, अपितु प्रत्येकोपनिषदि भिन्न-भिन्नखण्डात्मानो निरूपिताः।
5. तथापि प्रसङ्गवशात् सामान्यदृष्टिरूपेण आत्मनः सर्वे भागा विषयीकृताः। अतो जीवात्मनः सर्वेऽशा उपनिषत्सु प्रतिपाद्यविषया इति वचने न विरोधः।
6. सर्वे प्राकृतात्मनः प्राणरूपेणैव व्यवह्रियन्ते, न त्वामरूपेण। अतः ते सर्वे अक्षरात्मानं लक्ष्यं कुर्वन्त अस्मान् अक्षरस्य निकटे नयन्ति।
7. अतः स्थूलबुद्धिगोचरप्राकृतात्मसमष्टिद्वारा वृक्षवत् स्तब्धाक्षरात्मनो निकटे नयनमेव उपनिषदामेकमात्रप्रयोजनम्।

(मधुसूदनवागमृतम् पञ्चम खण्ड, पृ. 7)

इस 'सप्तसूत्री' की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर मैं इस शोधनिबन्ध को समाप्त करता हूँ।

औपनिषद् तत्त्वचिन्ता एवं ऐहिक जीवन

डॉ. प्रवीण पण्ड्या
व्याख्याता, संस्कृत विभाग,
१७३, शास्त्री नगर,
साञ्चौर जिला जालौर

उपनिषद् में वस्तुत: किस तत्त्व का चिन्तन है और उसका केन्द्र कहाँ है, एवम् उसकी परिधि का विस्तार कहाँ तक है, यह कहना सहज नहीं है। **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेद नामधेयम्'** (आपस्तम्ब श्रौतसूत्र) के अनुसार उपनिषद् वेद हैं, क्योंकि उपनिषद् या तो मन्त्रसंहिता का कोई अध्याय है अथवा ब्राह्मणभाग का अंश। आचार्य शङ्कर प्रभृति तो स्पष्टत: 'श्रुति' संज्ञा का प्रयोग उपनिषद् के लिए करते हैं। वेदान्त 'वेद' के ही कुछ अंशों की संज्ञा है, वह वेद से सर्वथा भिन्न साहित्य नहीं है। सर्वज्ञानमयता वेद की मानी है। यह सर्वज्ञानमयता क्या समस्त ज्ञानों की समष्टिरूपता है अथवा सर्व(समग्र) का ज्ञान है, यह विचार करणीय है। सर्वज्ञानमयता का अर्थ वेद के चैन्तनिक विषय की बहुमुखता का उपलक्ष्य भी हो सकता है क्या? मनीषी इस पर विचार करें। स्वास्थ्य-विज्ञान, भौतिक विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, शिल्पशास्त्र जैसे अन्यान्य विषयों का वेद में न केवल उल्लेख हुआ है, अपितु सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादन भी हुआ है। यह सब होते हुए भी क्या विज्ञान और प्रौद्योगिकी वेद का मुख्य विषय है अथवा वेद में किसी तकनीकी अथवा वैज्ञानिक सिद्धान्त का सर्वांग निरूपण हुआ है एवं ऐसा होने या न होने पर वेद की महत्ता प्रवृद्ध होगी किंवा क्षीण, इत्यादि प्रश्न विज्ञ-मनीषियों के समक्ष हैं।

निःसन्देह वेद अर्थात् उपनिषद् सहित समग्र वैदिक साहित्य में विज्ञान के विविध सिद्धान्तों एवं तथ्यों का सत्त्व है, किन्तु उसकी सोच का केन्द्र वह नहीं है। वेद किंवा उपनिषद् के चिन्तन की दिशा दार्शनिक कुतूहल है, वैज्ञानिक गवेषणा नहीं। यदि हम कुछ गहराई से सोचें तो समग्र उपनिषद्-वाक्यों को दो विभागों में रखा जा सकता है। एक विभाग है- प्रतिपाद्य; एवं दूसरा है - प्रतिपादक। काव्यशास्त्र की शब्दावली में इन्हें क्रमश: उपमेय और उपमान कह सकते हैं। उपनिषद् का प्रतिपाद्य तो आत्मतत्त्व ही है, वह

व्यावहारिक जीवन से भी है, कला जगत् से भी है और योद्धाओं के जीवन से भी है। यथा-

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

(मुण्डकोपनिषद् , ४ द्वितीय, खण्ड द्वितीया)

धनुष; उस पर बाण का चढ़ना, लक्ष्य की और बाण का निर्गमन, निर्गमन के समय बाण का दाएँ-बाएँ के समस्त क्रिया-कलापों से अप्रभावित होकर तन्मयता के साथ लक्ष्य को बेधना- यह वर्णन निःसन्देह योद्धाओं के जीवन का अनुभव है और इसका जीवन्त चित्रण उपनिषद् करती है, परन्तु यह उसका प्रतिपाद्य नहीं है, साध्य नहीं है, साधक है। यहाँ एक बात यह भी अनुपेक्षणीय है कि प्रणव को धनुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य बता कर बाण की तरह तन्मय होने के उपदेश का अर्थ युद्धभूमि में होने वाले धनुष-बाण को मिथक बतलाना नहीं है। उपनिषद् में सूर्यमण्डल अथवा अन्तरिक्ष, ग्रह-नक्षत्र अथवा किन्हीं वैज्ञानिक-भौतिक प्रक्रियाओं का विवेचन यदि हुआ है तो वह प्रतिपाद्य के प्रतिपादनार्थ ही है। वह अपने आप में प्रतिपाद्य नहीं है। हाँ, प्रतिपादक वाक्यों से बनने वाले विभाग के बारे में बात करें तो वहाँ विज्ञान प्रौद्योगिकी आदि के होने अथवा न होने के बारे में विचार किया जा सकता है। जहाँ तक इन पंक्तियों के लेखक का अभिमत है-इस विभाग में ऐहिक जीवन के अनेक-अनेक पक्षों यथा-यातायात के साधनों, समुद्र, नदियों, दर्पण, सूर्य-चन्द्र का वर्णन है। ईंटों से वेदी बनाना, ईंधन-काष्ठ में आग का रहना, मकड़ी का जाल बुनना व उसमें बँधना, नदियों का नाम -रूप छोड़कर समुद्र में समा कर समुद्र बन जाना, आग में घी का होमना- जैसी नितान्त भौतिक क्रियाएँ उपनिषद् में उदाहृत की गई हैं।

तैत्तिरीयोपनिषद् व्याकरण की सन्धि प्रक्रिया को आधार बनाकर लोक, अन्तरिक्ष, विद्या, संतति व देह की मीमांसा करती है। यथा- **अथाधिलोकम्। पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः। वायुः संधानम्। इत्यादिलोकम्।**

यहाँ विद्या की परम्परा का जो विवेचन किया है, वह उस परम्परा के मूलसूत्र को तो उद्घाटित ही नहीं करता, अपितु प्रतिपादन काव्यात्मक सौन्दर्य से जुड़ गया है- **अथाधिविद्याम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्।विद्या संधिः। प्रवचनं संधानम्। इत्यधिविद्यम्।** (तैत्तिरीय /१/३)

तैत्तिरीयोपनिषद् के पाँचवें अनुवाक में भूः, भुवः, सुवः, महः इन व्याहृतियों का व्याख्यान हुआ है। उपनिषद् कहते हैं कि इन चार व्याहृतियों का व्याख्यान हुआ है। उपनिषद् कहती है कि इन चार व्याहृतियों को दो विभागों में रखा जा सकता है -

भूर्भुवः सुवरितिं वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः।

भूः, भुवः, सुवः, (स्वः) – ये तीन व्याहृतियाँ एक समुदाय के रूप में बताई गई हैं। दूसरे समुदाय में चौथी व्याहृति 'महः– को रखा गया है, जिसका साक्षात्कार माहाचमस्य ने किया –

तासामु ह स्मैतां माहाचमस्यः प्रवेदयते। मह इति।

यह चौथी व्याहृति (महः) क्या है और पूर्वोक्त तीन व्याहृतियों के साथ उसका सम्बन्ध क्या है? यह भी उपनिषद् **'स्पटायां वाचि'** घोषित करती है–

तद् ब्रह्म। स आत्मा। अङ्गान्यन्या देवताः।

'महः' ब्रह्म है, आत्मा, अङ्गी है, और अन्य देवता (व्याहृतियाँ) अङ्ग हैं। देह, मन, बुद्धि व आत्मा की चतुष्टयी का विश्लेषण उपनिषदों, अर्थात् वेदान्त का मुख्य विषय है और यहाँ उसी का विवेचन हो रहा है। व्याहृतियों के सम्बन्ध में उपर्युक्त प्रतिपादन के बाद अग्नि–वायु–सूर्य–चन्द्र अथवा मर्त्यलोक, अन्तरिक्ष, स्वर्ग व आदित्य का जो निदर्शन के आधार पर विवेचन हुआ है, वह प्रतिपाद्य के भूयः स्पष्टीकरणार्थ है। यहाँ वेदचतुष्टयी के पारस्परिक सम्बन्ध को, जो प्रख्यात है, अपने अप्रख्यात विषय को स्पष्ट करने के लिए माध्यम बनाया है –

भूरिति वा ऋचः। भुव इति सामानि। सुवरिति यजुंषि। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।(तैत्तिरीय . १–५) यह उपनिषद् की प्रबोधन पद्धति है। हमें सर्वत्र प्रतिपाद्य व प्रतिपादक का विभाग करते हुए उनके कथ्य को ग्रहण करना होता है।

विचार के इस आलोक में यह चिन्तनीय है कि उपनिषद् में जिस अग्निहोत्र अथवा यज्ञ का पुनः पुनः उल्लेख होता है, वह क्या औपनिषद तत्त्व को समझाने के लिए प्रयुक्त विविध सामग्री में से अन्यतम है अथवा अनन्यतम?

प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति, रयि व प्राण की मीमांसा की गई है। प्रजापति कौन है और रयि व प्राण का उससे क्या सम्बन्ध है? सम्भवतः यही बोध करवाने हेतु महीने, अहोरात्र, व अन्य के विभाग करके समझाया गया है। जब महीने को प्रजापति मानते हैं तो उसका शुक्ल पक्ष प्राण बन जाता है और कृष्ण पक्ष रयि बन जाता है। स्पष्ट है कि यहाँ वर्ण्य प्रजापति, रयि व प्राण है।

प्रश्नोपनिषद् का यह मन्त्र विचारणीय है –

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः।।२।।

यहाँ ब्रह्माण्ड और शरीर दोनों का सह–वर्णन है। ब्रह्माण्ड के आदित्य व पृथ्वी के, शरीर के प्राण व अपान के साथ समानधर्मिता बतायी गई है। उपनिषद् दार्शनिक कुतूहल है और उसमें जो चिन्तन होता है, वह सर्वथा अभौतिक होता है, यह वस्तुतः भ्रान्ति है।

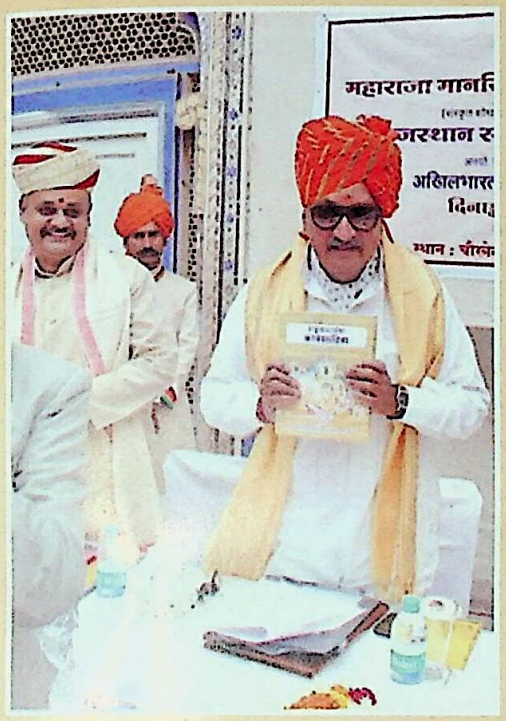

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी में महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रिय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन से प्रकाशित ऋग्वेद संहिता का विमोचन करते हुए सङ्गोष्ठी संरक्षक मारवाड़ नरेश महाराजा श्री गजसिंह साहब।

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी में महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोधकेन्द्र द्वारा प्रकाशित संस्कृत शोधपत्रिका 'पाण्डुलिपिविशेषाङ्क' का विमोचन करते हुए सम्मान्य संरक्षक महाराजा साहब एवं अतिथिगण।

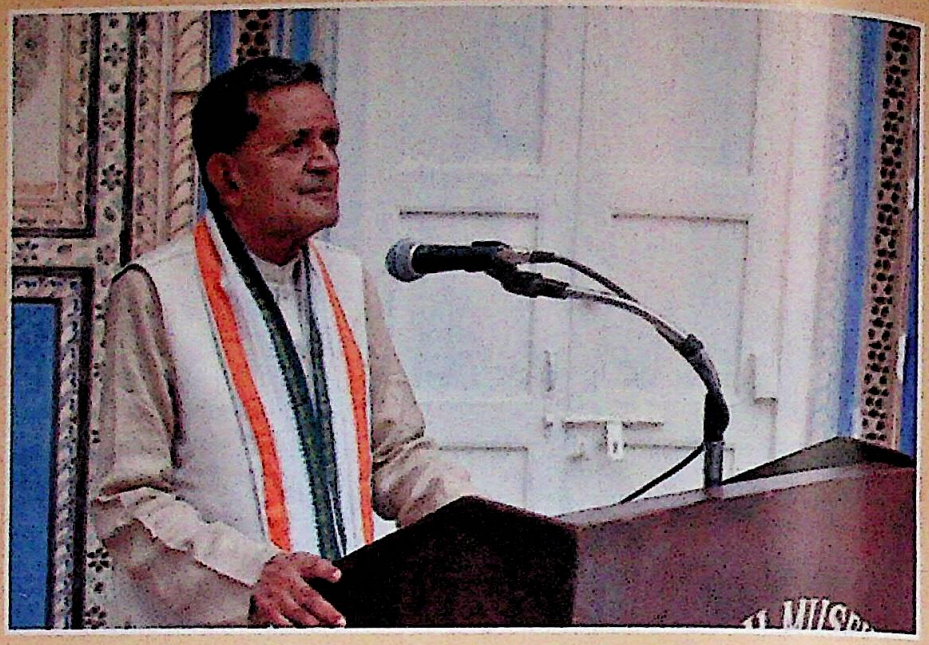

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के उद्घाटन सत्र में विषय प्रवर्तन करते हुए मुख्य अतिथि राष्ट्रपतिसम्मानितमनीषी महामहोपाध्याय प्रो. दयानन्द भार्गव।

सङ्गोष्ठी के उद्घाटन सत्र में उद्बोधन देती हुई विशिष्ट अतिथि राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर की अध्यक्ष डॉ. सुषमा सिंघवी।

मेहरानगढ़ दुर्ग स्थित चौखेलाव महल में राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के उद्घाटन सत्र में अतिथिजन के स्वागतपूर्वक महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोधकेन्द्र की शैक्षणिक गतिविधियों पर प्रकाश डालते महानिदेशक डॉ. (कुं.) महेन्द्रसिंह नगर।

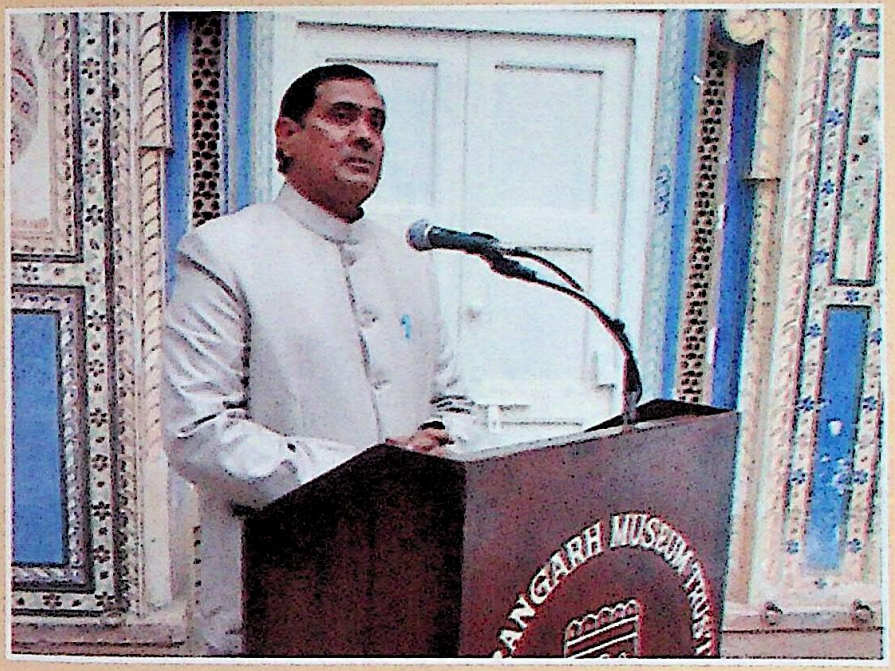

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के उद्घाटन सत्र में उसके उद्देश्यों की जानकारी प्रस्तुत करते हुए संयोजक प्रो. (डॉ.) सत्यप्रकाश दुबे।

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के उद्घाटन सत्र में मञ्चासीन अतिथिगण। बायें से - डॉ. (कुं.) महेन्द्रसिंह नगर, महानिदेशक, श्री सुरेश राजपुरोहित आई.जी., सी.बी.आई. जयपुर, सङ्गोष्ठी संरक्षक मारवाड़ नरेश महाराजा गजसिंह साहब, महामहोपाध्याय प्रो. दयानन्द भार्गव, राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर की अध्यक्ष डॉ. सुषमा सिंघवी एवं राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, जम्मू के व्याकरण विभागाध्यक्ष प्रो. हरिनारायण तिवारी।

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी में मारवाड़ नरेश महाराजा गजसिंह साहब के 60वें राजतिलकोत्सव पर उनका उत्तरीय द्वारा अभिनन्दन करते हुए काशी के प्रतिनिधिभूत विद्वान् डॉ. अमलधारी सिंह।

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के सम्मूर्ति सत्र में मञ्चासीन अतिथिगण - बायें से - डॉ. (कुं.) महेन्द्रसिंह नगर, महानिदेशक, महारानी साहिबा श्रीमती हेमलता राज्ये साहिबा (मारवाड़, जोधपुर), प्रो. सुरेन्द्र-मोहन मिश्र (कुरुक्षेत्र), प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र (शिमला) एवं प्रो. हरिनारायण तिवारी (जम्मू)

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के सम्मूर्ति सत्र में अध्यक्षीय उद्‌बोधन करती हुईं महारानी श्रीमती हेमलता राज्ये साहिबा।

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के सम्पूर्ति सत्र में सङ्गोष्ठी की फलश्रुति प्रस्तुत करते हुए संयोजक प्रो. (डॉ.) सत्यप्रकाश दुबे एवं मञ्चासीन अतिथिगण।

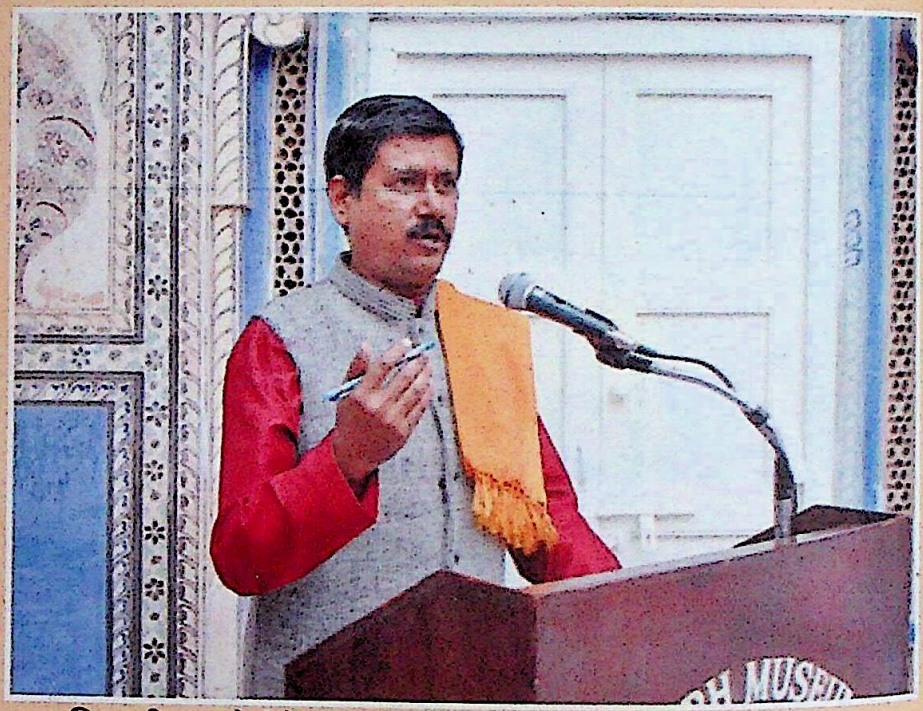

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के समापन सत्र में उपस्थित सम्मान्य अतिथिगण एवं विद्वज्जन का आभार प्रकट करते हुए सहसंयोजक डॉ. दिलीपकुमार नाथाणी

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के उद्घाटन सत्र में वक्तव्य प्रस्तुत करते हुए विशिष्ट अतिथि सी.बी.आई. जयपुर के महानिदेशक श्री सुरेश राजपुरोहित जी।

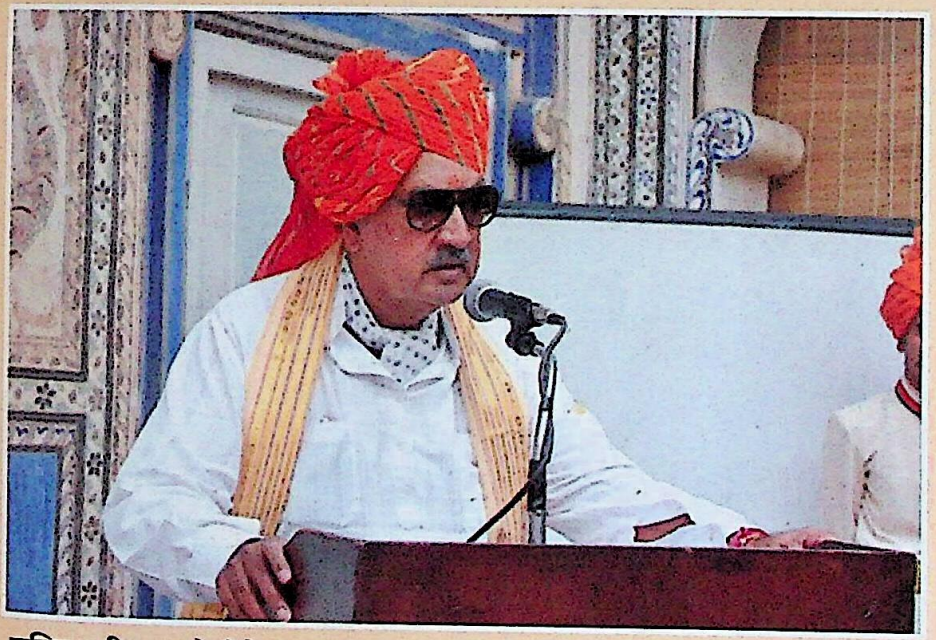

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के उद्घाटन सत्र में अध्यक्ष पद से अभ्यागत विद्वज्जन को सम्बोधित करते हुए मेहरानगढ़ ट्रस्ट के प्रमुख एवं सङ्गोष्ठी के संरक्षक मारवाड़ नरेश महाराजा गजसिंह जी साहब।

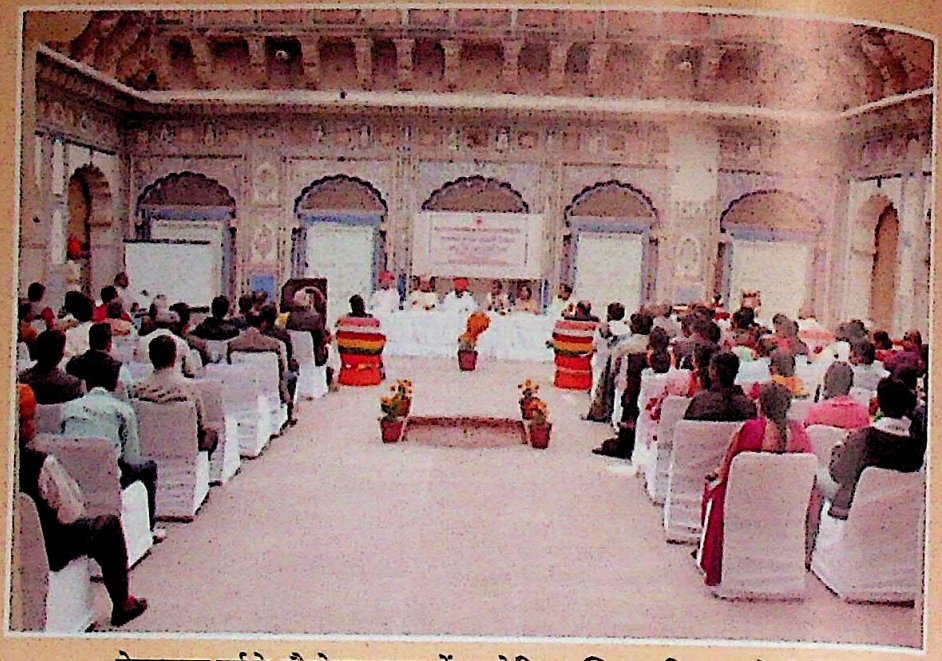

मेहरानगढ़ दुर्ग के चौखेलाव महल में आयोजित राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी में सम्पूर्ण राष्ट्र से उपस्थित हुए प्रतिनिधिभूत विद्वत् समुदाय।

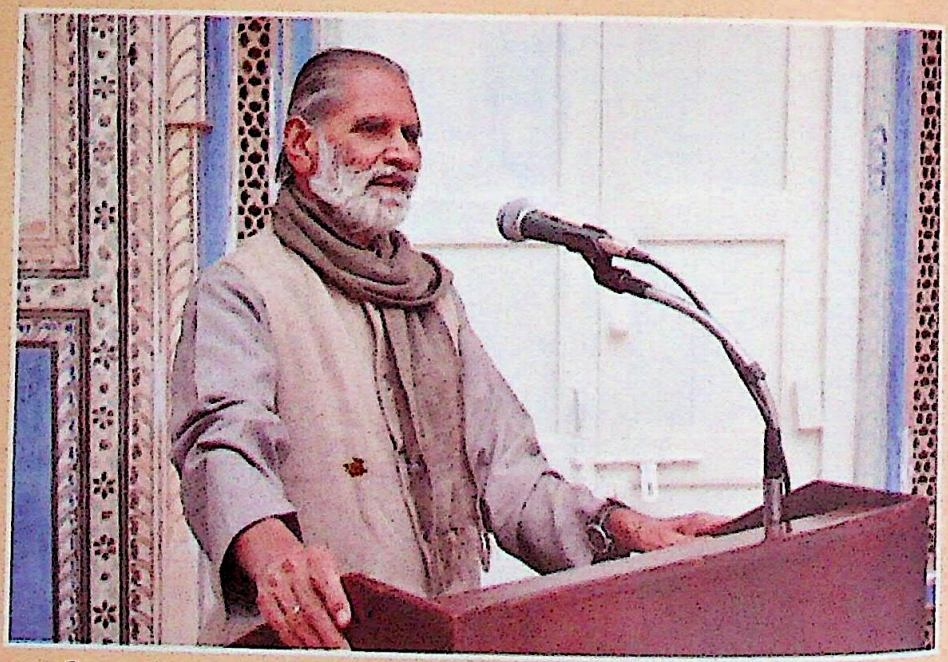

राष्ट्रिय उपनिषद् सङ्गोष्ठी के प्रथम सत्र में अध्यक्षीय उद्बोधन देते हुए जगद्गुरुरामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर के धर्मशास्त्र पीठ के अध्यक्ष पं. अनन्त शर्मा।

दर्शनिक चिन्तन; चेतना के आलोक में समग्र सृष्टि प्रक्रिया- उद्भव, विकास एवं विलय की दिशा में गति करता है। अतएव हम कह सकते हैं कि उपनिषदों का जो तत्त्व चिन्तन है, वह मुख्यत: चैतन्य से सम्बद्ध है, किन्तु उसमें ऐहिक जीवन अनुपस्थित नहीं है। जन्म से मरण/मृत्यु तक के जीवन की अवधि को भारतीय मनीषा ऐहिक या इहलौकिक जीवन कहती है। समग्र जीवन की अवधारणा में तो जन्म, बचपन, तरुणाई और बुढ़ापे की तरह मौत भी जीवन का एक पड़ाव है, समाप्ति नहीं। हमारे देश में तन्त्र की एक समृद्ध परम्परा थी। जिसके विरूप खण्डहर आज भी शेष हैं। वह परम्परागत समाज की मुख्यधारा से बाहर हो गई, तब तक तो ठीक था, किन्तु हेय बन गई, यह दु:खद है। वस्तुत: तन्त्रशास्त्र मृत्यूत्तर जीवन के बारे में क्रियात्मक विज्ञान सिद्ध हो सकता, यदि इसके ग्रन्थों के उल्लेख सत्य हों। अस्तु, कथ्य यही है कि उपनिषद् में जिस व्यापक अथवा समग्र जीवन का विवेचन हुआ है, उसमें ऐहिक जीवन भी सम्मिलित है।

ईशावास्योपनिषद् कहती है -

अन्धंतम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता:।।९।।

ईशावास्योपनिषद् सुस्पष्ट रूप से विद्या और अविद्या दोनों के एकान्तिक आश्रय का विरोध करती है और दोनों में से न किसी को उन्नीस मानती है और न किसी को बीस। जीवन में दोनों की पूर्णत: समान महत्ता है। विद्या जब, आज की भाषा में आध्यात्मिक जीवन के लिए आश्रयणीय है तो अविद्या ऐहिक जीवन के लिए। उपनिषद् का परमार्थ तो दोनों में सन्तुलन है-

यस्तद् वेदोभयं सह। (ईशा. १४)

इस विद्या-अविद्या के द्वन्द्व को अन्यत्र सम्भूति-असम्भूति शब्दों से कहा है कि कहीं प्राण- रयि संज्ञाओं से बतलाया गया है।

देह, मन, बुद्धि और आत्मा मिलकर एक मनुष्य या एक जीव की संज्ञा बनती है। माण्डूक्योपनिषद् कहती है कि जीवन चतुष्पाद है। जिस प्रकार गाय के चार पैर होते हैं, उसी तरह का चतुष्पादा कोई न समझ लें, अत: आचार्य शङ्कर ने भाष्य किया है -

सोऽयमात्मोङ्काराभिधेय: परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरि-वेति (माण्डूक्योपनिषद्, शाङ्करभाष्यम्, पृ. २७, गीता प्रेस)

जिस प्रकार रुपये में चार आने होते हैं, उसी तरह का जीव का चतुष्पादत्व है। उपनिषद् में आत्मा व अध्यात्मक शब्द का प्रयोग शरीर के अर्थ में भी हुआ है। प्राय: सभी उपनिषद् यात्रा का प्रारम्भ देह से शुरू करते हैं और मन व बुद्धि से होते हुए आत्मतत्त्व तक पहुँचते हैं। देह से चैतन्य तक की यह औपनिषद तत्त्वचिन्तन-यात्रा रघुवंश में वर्णित

राजमार्ग की सञ्चारिणी दीपशिख जैसी है, जिसमें 'यं यं व्यतीयाय' जिस जिस को छोड़कर चिन्तक आगे बढ़ता है, वह विवर्णता को प्राप्त भले ही हो जाता हो, किन्तु उसका अस्तित्व रहता ही है। देहधर्मों और मनोधर्मों और बुद्धिधर्मों को उपनिषद् स्वत: चेतनावान् नहीं मानती है। इनका ऐहिक जीवन में होना स्वाभाविक है, किन्तु चैतन्य का तन्मय होना आत्मविमुखता अथवा आत्महत्या है और जो ऐसी आत्महत्या कर बैठते हैं, उनका जीवन अन्धकारमय हो जाता है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता:।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:।।

(३, ईशावास्योपनिषद्)

इन्द्रियाँ या इन्द्रिय बोध ही एकमात्र बोध या सत्य नहीं है, इसका उपनिषद् बहुधा प्रतिपादन करती है। केनोपनिषद् कहती है कि आँख-कान, मन, वाणी प्रकाशमय है, किन्तु इनका भी कोई अन्य प्रकाशक है। यह उपनिषद् अग्नि, वायु, इन्द्र के अहङ्कार के चूर-चूर होने की कहानी भी कहती है और बतलाती है कि ऐहिक जीवन में ब्रह्मत्व का आभास किस प्रकार का होता है।

मुण्डकोपनिषद् दो विद्याओं के बोध की बात करती है। एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या। भले ही यह मेरी भ्रांति हो, किन्तु मुझे कोई संशय सम्प्रति नहीं है कि ईशावास्योपनिषद् जिसे विद्या कहती है, वही मुण्डकोपनिषद् की परा विद्या है। इसी तरह मुण्डकोपनिषद् में जिसे अपरा विद्या बताया गया, वही ईशावास्योपनिषद् की अविद्या है। जो परा विद्या है, वह किसी पुस्तक में नहीं होती है, क्योंकि वह साक्षात् अनुभूति है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, व्याकरण, निरुक्त इत्यादि अपरा विद्या या अविद्या है। अपरा विद्या की सूची में आधुनिक युग की समस्त तकनीकी विद्याओं को भी जोड़ सकते हैं और पूरे संसार के दार्शनिक साहित्य को भी।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेद: सामवेदोऽथर्ववेद: शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (मुण्डकोपनिषद् १-२-५)

विद्या ही परा और अपरा नहीं है, अपितु ब्रह्म भी परब्रह्म है। यही सुपुष्ट प्रमाण है कि औपनिषद तत्त्वचिन्तन ऐहिकजीवन को समाहित करके चलता है।

उपनिषद् के तत्त्वचिन्तन की परिधि उतनी ही व्यापक है, जितना व्यापक जीवन है। व्यापक जीवन चिन्तन ही कारण है कि उपनिषदें सभी तरह की अतिमान्यताओं को नकारती हैं। मुण्डकोपनिषद् कहती है– **इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढा:** (मुण्डकोपनिषद्, १-२-१०)

यहाँ 'अन्यत्' के श्रेयस्करत्व के प्रति जो ध्यानाकर्षण है, वह इष्टापूर्त्त का निषेध

नहीं है, अपितु तन्मात्रनिष्ठत्व का खण्डन है। उपनिषद् की ही विचारसरणि है कि अन्नमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय आत्मा का प्रतिपादन किया गया और उस सब में व्याप्त **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** का सिद्धान्ततः कथन हुआ। (तैत्तिरीयोपनिषद्)

उपनिषद् कहते हैं कि ब्रह्म देह मनोबुद्धि से सर्वथा पृथक् नहीं, अपितु उनमें व्याप्त होकर रहता है –

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः।
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ, सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति।।

(श्वेताश्वतरोपनिषद्, १-१५)

बृहदारण्यकोपनिषद् में याज्ञवल्क्य आर्तभाग के प्रश्न के उत्तर में जिन आठ ग्रहों एवं उन आठ ग्रहों को भी ग्रहण करने वाले आठ अतिग्रहों की व्याख्या करते हैं, वह हमारे ऐहिक जीवन की साङ्गोपाङ्ग व्याख्या ही है।

ऐहिक जीवन को हम लौकिक जीवन कह सकते हैं। हाँ, जीवन भौतिक तो कभी होता ही नहीं है। इस ऐहिक या लौकिक जीवन के लिए ही तो उपनिषद् का ऋषि कहता है –

प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।..... भूत्यै न प्रमदितव्यम् (तैत्तिरीय, १/१०)

उपनिषद् ऐहिक जीवन का निषेध नहीं है, तन्मात्रनिष्ठात्व का खण्डन मात्र है। उपनिषद् ऐहिक जीवन को व्यापक जीवन से बिना किसी अवरोध के जोड़ती है। उपनिषद् की तत्त्वचिन्ता की परिधि ब्रह्म तक है तो वह देह से शुरू होती है। वह संन्यास तक जाती है तो गार्हस्थ्य से होकर जाती है। **मातृदेवो भव। पितृदेवो भव। आचार्यदेवो भंव। यान्यनवद्यानि कर्माणि। तानि सेवितव्यानि। नो इतराणि।।** (तै. १/१०) ये उपदेश ऐहिक जीवन के प्रति श्रद्धा के, अखण्डनिष्ठा के उद्घोषक हैं।

प्रमुख उपनिषदों में आत्म-मीमांसा

शारदा गौतम
दौलतराम महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

निर्वचन— शब्दकल्पद्रुम के अनुसार आत्मा शब्द का निर्वचन निम्नरूपेण है— आत्मा (आत्मन्) **'अतति सन्ततभावेन जाग्रदादिसर्वास्वस्थासु अनुवर्त्तते।'**[1] उणादिकोष के अनुसार अत् सातत्यगमने[2] मनिण् प्रत्यय (सातिभ्यां मनिन्मनिणौ)[3] आत्मा की निष्पत्ति है।

महर्षि दयानन्द के अनुसार **'अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोति वा स आत्मा'**[4] अर्थात् निरन्तर कर्मफलों को जो प्राप्त करता है अथवा भोगता है, वह आत्मा है। **'यो अतति व्याप्नोति स आत्मा'**[5] जो सब जीवादि में निरन्तर व्यापक हो रहा है, वह आत्मा है। मेदिनी कोष के अनुसार—

आत्मा पुंसि स्वभावेऽपि प्रयत्नमनसोरपि।
धृतावपि मनीषायां शरीरब्रह्मणोरपि।[6]

क्षेत्रज्ञः आत्मा, पुरुषः ब्रह्म।[7] परव्यावर्त्तनमिति धरणी। पुत्र इति शब्दरत्नावली जीवः अर्कः हुताशनः वायुरिति हेमचन्द्रः।[8]

तीन अनादिसत्ता

अष्टाङ्गयोग को करने वाला, साधक, मोक्षपथ का पथिक, जन्म-मरण के चक्र में फँसने वाला, सुख-दुःख का भोग करने वाला तथा अनेक प्रकार के शरीर को धारण

---

१ शब्द कल्पद्रुम काण्ड, १, पृ. १७२
२ धातुपाठ, भ्वादिगण
३ उणादिकोष, ४/१५३
४ महर्षि दयानन्द, उणादिकोश ४/१५३ की व्याख्या
५ दयानन्द, सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास
६ मेदिनीकोश, पृ. १० (काशी, संस्कृत सीरीज, ४१, बनारस १९१६)
७ अमरकोश, प्रथमखण्ड, कालकर्म, २७२,
८ शब्दकल्पद्रुम, प्रथम खण्ड, पृ. १७२

करने वाला आत्मा है। ईश्वर, जीव और प्रकृति तीन अनादि तत्त्व हैं। वेदों और उपनिषदों में तीन अनादि और अनन्त सत्ता को स्वीकार किया गया है-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।[९]

मुण्डकोपनिषद् में अङ्गिरा ने उपासना का वर्णन करने के अनन्तर उपास्य-उपासक का सम्बन्ध बताया है कि दो सुपर्ण-पक्षी हैं। वे परस्पर घनिष्ठ प्रेम से मिले हुए सखा हैं और एक ही समान वृक्ष(प्रकृति) को आलिङ्गन किये हुए हैं। उसमें एक (आत्मा) उस प्रकृतिरूपी पेड़ के सुस्वादु फलों को खाता है और दूसरा (ईश्वर) न खाता हुआ केवल देखता है। प्रकृति महावृक्ष है। इस पर जीवात्मा और ईश्वर दोनों आरूढ़ हैं। आत्मा-परमात्मा का सम्बन्ध स्वाभाविक और सनातन है तथा सखापन का है। भेद उनमें इतना है कि जीवात्मा प्रकृति के अनुकूल फलों को भोगता है, जिससे वह दुःखी-सुखी होता रहता है और परमेश्वर केवल साक्षी बना रहता है। ईश्वर समस्त प्राणियों के कृतकर्मों का फलप्रदाता है।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः।।[१०]

उसी एक प्रकृतिरूपी वृक्ष पर पुरुष (जीवात्मा) भागों में निमग्न कर्म में बंधा हुआ, अपनी असमर्थता (अल्पज्ञता) से मोह में पड़ा शोक करता है। जब आत्मा अपने से भिन्न ईश्वर को अपना सखा देता है और उसकी अपार दयादि महिमा को जानता है तो शोकरहित हो जाता है। आत्मा और ईश्वर में अल्पज्ञता और सर्वज्ञता का भेद है।

आत्मा के सम्बन्ध में दो विचार

आत्मा के सम्बन्ध में आत्मवादी तथा अनात्मवादी दो प्रकार की विचारधारा प्राप्त होती है।[११] अनात्मावादियों में चार्वाक आदि हैं जो कि शरीर से अतिरिक्त आत्मा जैसी किसी चेतन सत्ता को स्वीकार ही नहीं करते।[१२] आत्मा की सत्ता को स्वीकार करने वालों में आत्मा के स्वरूप को लेकर अनेक मत हैं, यथा-जीवात्मा अनादि, नित्य तथा संख्या में अनन्त हैं। प्रत्येक जीवात्मा स्वतन्त्र कर्म करने वाला तथा अपने कर्मफल का भोक्ता है। इसके विपरीत कुछ लोग ऐसा भी मानते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है। जिस प्रकार घटाकाश, मठाकाश की स्वतन्त्र सत्ता भी होती है किन्तु वे एक बृहदाकाश का ही अस्तित्व होते हैं। जैसे घट के टूटने पर घटाकाश का अस्तित्व महाकाश में विलीन हो

९ मुण्डकोपनिषद् ३/१/१, ऋग्वेद, १/६४/२०

१० मुण्डकोपनिषद् २/३/१२

११ येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः।। कठोपनिषद् १।१।१२

१२ सर्वदर्शनसंग्रह विद्यारण्यमुनि, चार्वाक दर्शन

जाता है अथवा जिस प्रकार पृथक्-पृथक् अस्तित्व रखने वाली नदियाँ भी समुद्र में विलीन होकर अपना नाम-रूप खो देती हैं, उसी प्रकार मुक्ति के उपरान्त जीवात्मा भी अपने नाम-रूपों को छोड़कर ब्रह्म में विलीन हो जाती है। वेदान्ती लोग इस विचारधारा वाले हैं। इसके अतिरिक्त बौद्धों का भी एक पक्ष है कि जीवात्मा कूटस्थ अपरिणामी न होकर प्रतिक्षण परिवर्तनशील है। बौद्ध क्षणिकवाद को मानते हैं।

योगदर्शन में आत्मा का स्वरूप

योगदर्शन में ऐसा कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता जिससे यह सिद्ध हो सके कि जीवात्मा ब्रह्म का ही अंश है तथा मुक्ति के पश्चात् ब्रह्म में विलीन हो जाता है। पतंजलि ने योगदर्शन में स्पष्टत: तीन पदार्थों की सत्ता स्वीकार की है। ईश्वर, द्रष्टा (जीव) और दृश्य (प्रकृति)। योग की परिभाषा में जीव को द्रष्टा तथा प्रकृति को दृश्य कहा गया है। योगदर्शन के अनुसार द्रष्टा आत्मा स्वरूप से शुद्ध है, जबकि प्रकृति तथा उसका विकार बुद्धि परिणामिनी है। यह आत्मा बुद्धि से जानने योग्य अथवा बुद्धि का साक्षी है। आत्मा ज्ञानस्वरूप मात्र है। वह शुद्धस्वरूप होने पर भी बुद्धिवृत्ति को अपने में देखने लगता है। भाव यह है कि बुद्धिरूपी दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर पुरुष अज्ञानवश बुद्धि को अपना स्वरूप मान लेता है। जिसके आधार पर मैं जानता हूँ, 'मैं देखता हूँ।' – इस प्रकार की प्रतीति करने लगता है।[१३] भाष्यकार भोज ने इसी रूप में स्पष्ट किया है कि विषयों के संसर्ग में जो बुद्धि विषयाकार हो जाती है उसकी समीपता के कारण पुरुष में भी द्रष्टापन प्रतीत होता है। वास्वत में पुरुष शुद्ध है।[१४] यह दृशिमात्र पुरुष ही भोक्ता है तथा दृश्य (प्रकृति) उसका भोग्य है।[१५] अर्थात् प्रकृति अपने प्रयोजन के लिए किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होती है किन्तु पुरुष के भोक्तृत्व को सिद्ध करने के लिए उसकी प्रवृत्ति होती है। पुरुष के प्रयोजन तथा मोक्ष के लिए ही दृश्य (प्रकृति) की प्रवृति होती है। अपने सुख-दु:ख आदि का उपभोग वह स्वयं नहीं कर सकती।[१६] आत्मा प्रकृति के साथ संसार का भोग करने के लिए ही सम्बद्ध हो जाती है। इसी का नाम संयोग है। प्रकृति के माध्यम से आत्मा को मोक्ष भी मिलता है।[१७] आत्मा का प्रकृति के साथ संयोग अविद्या (मिथ्याज्ञान) के कारण होता है।[१८] द्रष्टा (जीव) तथा दृश्य (प्रकृति) का परस्पर संयोग होना ही दु:ख का

---

१३ द्रष्टादृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः योगदर्शन, २।२०

१४ जातिविषयोपरागायामेव बुद्धौ सन्निधिमात्रेणैव पुरुषस्य द्रष्टृत्वमिति।

१५ तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा। योगदर्शन २।२१

१६ कृतार्थं नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्। वही। २।२

१७ स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः। वही २।२३

१८ तस्य हेतुरविद्या। वही २।२४

कारण है।[१९] उस विद्या के नष्ट हो जाने पर द्रष्टा तथा दृश्य के संयोग का भी अभाव हो जाता है, इस स्थिति को हान नाम से कहते हैं। यह हान (दुःख से छूटना) ही द्रष्टा (जीव) का मोक्ष है।[२०] ईश्वर, जीव और प्रकृति की अलग-अलग यथार्थ रूप से जान लेना (विवेकख्याति) ही दुःख का नाश करने का उपाय है। इन तीनों तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान स्थिर होना चाहिये।[२१]

योगदर्शन में आत्मा की अनेकता

योगदर्शन की स्पष्ट मान्यता है कि आत्मा असंख्य हैं। इस ब्रह्माण्ड में अनन्त आत्माओं का निवास है। प्रकृति प्रत्येक पुरुष को पृथक् -पृथक् रूप में उसके भोग का सम्पादन कराती है। यही कारण है कि एक कृतार्थ पुरुष के प्रति दृश्य का स्वरूप न होने पर भी अन्य पुरुषों के प्रति दृश्य का स्वरूप बना रहता है।[२२] अभिप्राय यह है कि जिस पुरुष को विवेक ज्ञान हो जाता है उसके प्रति संसार कृत प्रयोजन हो जाता है। विवेक ज्ञान को प्राप्त करके वह पुरुष मुक्त हो जाता है किन्तु जिनको विवेकज्ञान प्राप्त नहीं होता, वे मुक्त नहीं होते। फलतः उसके लिए दृश्य की प्रयोजनता बनी रहती है। इस प्रकार योगदर्शन में स्पष्टतः पुरुषों (आत्मा) का बहुत्व सिद्ध है।

पुरुषों का यह बहुत्व न केवल संसारावस्था में ही है अपितु मोक्षावस्था में भी पुरुषों की स्वतन्त्र सत्ता बनी रहती है। न तो उसका ईश्वर में विलय होता है और न उनका परस्पर सङ्कट (मिश्रण) होता है तथा न उनका स्वरूप नष्ट होता है। इसी अभिप्राय से भाष्यकार व्यास ने लिखा है कि मुक्तावस्था में मोक्ष को प्राप्त होकर अनेक मुक्तात्मा रहते हैं।[२३] मुक्तात्मा कूटस्थ नित्य होते हैं तथा स्वरूप मात्र में प्रतिष्ठित रहते हैं। अपनी इस स्वरूपावस्थिति का वे मुक्तात्मा अनुभव भी करते हैं।[२४] इस प्रकार योगदर्शन तथा व्यासभाष्य के अनुसार पुरुष (आत्मा) प्रकृति और ईश्वर दोनों से पृथक् हैं। वे संख्या में नाना हैं। उनका बन्ध तथा मोक्ष अकेले-अकेले का होता है, समूह रूप में नहीं। आत्मा स्वरूपतः बद्ध नहीं अपितु मुक्त ही है, उसमें अविवेक से बन्ध प्रतीत होता है। इस अविवेक के हटने मात्र से आत्मा अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। यही उसका मोक्ष है।

---

१९ द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः। वही २।१७

२० तदभावात्संयोगाभावो हानं तदृदशेः कैवल्यम्। वही २।२५

२१ विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। वही २।२६

२२ कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्ट तदन्यसाधारणत्वात् वही २।२२

२३ कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति वहवः केवलिनः। योगदर्शन १/२४ पर व्यासभाष्य

२४ (क) क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः।

(ख) कूटस्थनित्येषु स्वरूपमात्रप्रतिष्ठेषु मुक्तपुरुषेषु स्वरूपास्तिता क्रमेणैवानुभूयते...
योगदर्शन ४।३३ पद व्यासभाष्य

योगदर्शन में कहा गया है कि सत्त्वपुरुषान्यताख्याति को प्राप्त करके आत्मा सर्वज्ञता एवं सर्वभावा-धिष्ठातृत्व से युक्त हो जाता है।[२५] यह विशोका नाम की सिद्धि कहलाती है, इसे प्राप्त करके योगी क्लेशों के बन्धन से रहित होकर, सर्वज्ञ होकर विचरण करता है।[२६]

उपनिषदों में आत्मा का स्वरूप

जीवात्मा के स्वरूप के विषय में जितना अधिक मतभेद दर्शनशास्त्र में पाया जाता है, उतना ब्रह्म और जगत् के विषय में नहीं है। जगत् की जड़ता और ब्रह्म की सर्वव्यापकता तो प्राय: सभी दार्शनिक स्वीकार करते हैं, किन्तु जीवात्मा के विषय में ऐसा नहीं है। जीव की विभुता, अणुता, चेतनता और ज्ञानात्मकता को लेकर अनेक दृष्टिकोण प्राप्त होते हैं। आत्मा के साथ जब जीव शब्द आता है, तो उसका मौलिक स्वरूप ही बदल जाता है। 'आत्मा' शब्द एक चेतन तत्त्व का बोधक है जो ईश्वर और पुरुष दोनों के लिए ही प्रयुक्त होता है। किन्तु जीव शब्द के साथ आत्मा का प्रयोग केवल के लिए ही होता है।[२७]

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार यह आत्मा ही शरीर की उपाधि से युक्त होने पर देही अथवा जीवात्मा कहलाता है। **'नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहि:।'**[२८] अर्थात् यह हंस देहाभिमानी होकर नवद्वार (दो आँखे, दो कान, दो नासारन्ध्र, एक मुख, एक गुदा एवं एक मूत्रेन्द्रिय) देहरूप पुर में बाह्यविषयों को ग्रहण करने के लिए चेष्टा करता है।[२९] अत: आत्मा ही देहोपाधि से ग्रस्त होने पर जीव है। यह सृष्टि के आरम्भ में प्राण धारण करता है। अत: संसार के अनादित्व का व्यंजक होने के कारण ही जीव नाम से सम्बोधित किया जाता है।[३०] **'अनीशाचात्मा बाध्यते भोक्तृभावात्'** अर्थात् मायाधीन जीव इस संसार के भोगों में लिप्त रहने के कारण ही बन्धन में पड़ जाता है। आत्मा ही भोगों को भोगने के कारण ही अनीशता को अर्थात् पारमार्थिक स्वरूप को भुलाकर अनीश्वरता को प्राप्त करता है।[३१]

कठोपनिषद् में आत्मा की मीमांसा बड़ी रमणीयता से की गयी है। नचिकेता आचार्य के पास आत्मा को जानने हेतु गया था। नचिकेता के प्रत्युत्तर में यमाचार्य ने कहा -

२५सत्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं। योगदर्शन ३/४९ पर व्यासभाष्य

२६ एषा विशाका नाम सिद्धिं प्राप्य योगी सर्वज्ञः क्षीणक्लेशबन्धनो वशी विहरति। योगदर्शन ३/४३ पर व्यास भाष्य

२७ छान्दोग्योपनिषद्: एक अध्ययन, डॉ. मनुदेव बन्धु, तृतीय अध्ययन, आत्ममीमांसा

२८ नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च। श्वेताश्वतरोपनिषद् ३।१८

२९ उपाधितन्त्रो हि जीव इत्युक्तम्। ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य, २।३।४९

३० शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र, २।३।४९

३१ संयुक्तमेतत्क्षरमक्षरं च, व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः। अनाशश्चात्मा बध्यते भोक्तृभावा-ज्ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशैः। श्वेताश्वतरोपनिषद् १।८

'आत्मा नित्य वस्तु है। न कभी मरता है और न कभी अवस्थादिकृत दोषों को प्राप्त होता है। यह विषय ग्रहण करने वाला हमारी समस्त इन्द्रियों से, सङ्कल्प विकल्पात्मक मन से, तथा हमारी सत्ता के कारणभूत प्राणों से पृथक् है। एक रमणीय रूप के द्वारा इस तत्त्व का वर्णन किया गया है। यह शरीर रथ है, बुद्धि सारथि है, मन लगाम है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं जो विषयरूपी मार्ग पर चला करते हैं और आत्मा रथस्वामी हैं।'[३२] आत्मा को रथी बताकर यम ने आत्मा की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। रथस्वामी के कार्य के लिए ही रथादि वस्तुओं का व्यापार हुआ करता है। इसी प्रकार रथी स्थानीय आत्मा के लिए ही शरीर आदि विषयों का व्यापार होता है। बाह्य विषयों से आरम्भ करके श्रेष्ठताक्रम के विचार करके आत्मा ही सबसे श्रेष्ठ ठहरता है।[३३]

कठोपनिषद् के भाष्य में शङ्कर आत्मा का निर्वचन करते हैं- जो प्राप्त करता है, भोग करता है, विषयों को ग्रहण करता है तथा शरीर में सर्वत्र व्याप्त रहता है। यह अशब्द, अनादि, अनन्त, महत्त्व से परे तथा ध्रुव हैं। इस अविनाशी आत्मतत्त्व से ही प्राणी, आशा, स्मृति, आकाश, वायु, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभव, अन्न, बल, विज्ञान ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाक्, नाम, मन्त्र, कर्म आदि सब होते हैं।

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार जीवात्मा का सम्बन्ध शरीर से है। यही शुभाशुभ कर्मो का कर्त्ता, रागद्वेषादि से युक्त रहने वाला तथा पुनर्जनम को प्राप्त होता है। इसे ही द्रष्टा स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता और विज्ञानात्मा कहा गया है।[३४]

न्यायदर्शन में आत्मा

जिसमें इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान हों, वह जीवात्मा है।[३५] न्यायदर्शन पर आधारित तर्कभाषा के अनुसार- आत्मत्वजाति जिसमें रहती है वह आत्मा है। यह देह, इन्द्रिय आदि से भिन्न है। प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् है, विभु तथा नित्य हैं।[३६]

वैशेषिक दर्शन में आत्मा

वैशेषिक दर्शन के लेखक महर्षि कणाद के अनुसार- प्राण, अपान, निमेष, उन्मेश, जीवन, मनन, गमन, इन्द्रियों पर स्वामित्व, क्षुधा, तृषा, ज्वर-पीड़ा आदि विकारों का

---

३२ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च। कठोपनिषद् ३।३

३३ इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयान् तेषुगोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोयुक्तो भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः। कठोपनिषद् ३।४

३४ एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयियता मन्ता बोद्धा। कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः। सपरेऽक्षरे आत्मनि सम्प्रतिष्ठते। प्रश्नोपनिषद् ४/९

३५ इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्। न्यायदर्शन १।१।१०

३६ तत्रात्मत्वसामानस्वानात्मा। स च देहेन्द्रियादिव्यतिरिक्तः, प्रतिशरीरं भिन्नो विभुर्नित्यश्च। तर्कभाषा केशवमिश्र प्रमेयनिरूपण।

होना, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि, ये सब आत्मा के गुण और कर्म हैं।[३७]

आत्मा के अस्तित्व में सांख्य का प्रमाण

संघात (जड़वस्तु) परार्थ (आत्मा के लिए) होता है। सत्त्व, रजस् और तमस् गुणों में विपर्यय होता रहता है। संघातात्मकता और त्रिगुणात्मक जगत् का अधिष्ठाता आत्मा है। भोग्यवस्तु की उपयोगिता इसी में है कि उसका कोई भोक्ता है। मनुष्य संसार में दुःखों से बचना चाहता है। कैवल्य (मोक्ष) की ओर किसी भी प्रवृत्ति होने से पुरुष (आत्मा) है।[३८]

आत्मा के बहुत्व में वैशेषिक का प्रमाण

विभिन्न अवस्थाओं में रहने के कारण जीवात्मा अनेक हैं।[३९] इस सूत्र का भाव यह है कि संसार में किसी को सुख मिलता है तो किसी को दुःख, कोई बन्ध में हैं तो कोई मुक्त। इस प्रकार की व्यवस्था में जहाँ विभिन्न अवस्थायें देखने को मिलती है; वे जीवात्माओं को नाना प्रकार का मानते हैं। जीव एक नहीं है। किसी ने कहा कि कोई गरीब हैं, कोई अमीर, कोई इन दोनों में भिन्न या व्यतिरिक्त हैं। इससे यहाँ जीवात्माओं का नानात्व सिद्ध किया जाता है।[४०]

वेदों में आत्मा का स्वरूप

यजुर्वेद के अनुसार जीवात्मा अमरणधर्मा और चेतनसत्ता है। शरीर के नाश से जीवात्मा का नाश नहीं होता। जीवात्मा अमृतम् = शरीर के साथ नष्ट न होने वाला है और यह शरीर भस्म होकर समाप्त हो जाता है।[४१] जो आत्महनः = आत्मा के विरुद्ध आचरण करने वाले हैं और असुर्याः= अपने प्राणपोषण में ही लगे रहने से अविद्यादि दोषों से ग्रस्त हैं।[४२] परमात्मा अपने शाश्वत, सनातन, अनादि, उत्पत्ति-विनाश रहित जीवरूप प्रजा के लिए वेदों के द्वारा सब प्रकार के अर्थों को बताता है।[४३] जीवात्मा का स्वरूप अविनाशी है। यह कभी नहीं मरता है और दूसरे जीवों को कभी मार नहीं सकता है।[४४] शरीर में विद्यमान

---

३७ प्राणापाननिमेषोन्जीवनमगोमतीन्द्रियान्तर्विकाराः सुखदुःखेच्छा द्वेष-प्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। वैशेषिकदर्शन ३।२।४

३८ संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययाद् अधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च। सांख्यकारिका ईश्वरकृष्ण।

३९ व्यवस्थातो नाना।

४० कश्चिद्रंकः कश्चिदाढ्यः कश्चिदन्यविधः पुनः। अनयैवात्मनानात्वं सिध्यत्यत्र व्यवस्थया। वैदिकदर्शन जयदेवविद्यालङ्कार, पञ्चम अध्याय

४१ वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्। यजुर्वेद ४०।१५, ईशोपनिषद् १७

४२ असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः। तांस्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः। यजुर्वेद ४०।३

४३ याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः। वही ४०/२

४४ न वा उ एतन्म्रियसे न रिष्यसि। वही २३/१६

समस्त इन्द्रियों का अधिष्ठाता इन्द्र= जीवात्मा ही है।[४५] जीवात्मा कर्मों को करने वाला है। यह क्रतु या सुक्रतु है।[४६] आत्मा भोक्ता है। वह परमात्मा की व्यवस्था से अपने कर्मो के फलों का भोग करता है।[४७]

हे आयु प्रदायकेश्वर! हम आपकी कृपा से सौ वर्ष जीवें, देखें, सुनें और बोलें।[४८] हे सर्वरक्षकेश्वर अग्ने! आप हमारे शरीर के रक्षक हैं। आप मेरे शरीर की कृपा से पालन करें।[४९] हे महावैद्य! आप आयु बढ़ाने वाले हैं। आप मुझे सुखरूप उत्तम आयु प्रदान कीजिए।[५०] इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि दयानन्द ने आयु के नाश के कारणों का वर्णन करते हुए लिखा है – 'स्त्री-पुरुषों को ब्रह्मचर्य त्याग, अयोग्य आहार-विहार, व्यभिचार, अत्यन्त विषयासक्ति आदि खोटे कर्मो से आयु का नाश कभी नहीं करना चाहिये।'[५१]

जीवात्मा कर्मानुसार अपने फलों को भोगता है। जैसे गौ आदि पशु गव्यूती: = अपने निवास स्थानों को चाहते हुए प्राप्त करते हैं, वैसे ही उरुचक्षसम् = बहुत प्रकार के शुभाशुभ कर्म करने वाले जीवात्मा को धीतय: = कर्मवृत्तियाँ जन्म-जन्मान्तरों में प्राप्त होती हैं।[५२] जीवात्मा का पुनर्जन्म होता है। हे सर्वज्ञेश्वर! जब हम जन्म लेवें, तब हमको शुद्ध मन, पुर्ण, आयु आरोग्य, प्राण, कुशलतायुक्त जीवात्मा, उत्तम चक्षु और श्रोत्र प्राप्त हों। जो विश्व में विराजमान ईश्वर हैं वही सब जन्मों में हमारे शरीरों का पालन करें। सब पापों का नाश करने वाले आप हमको बुरे कामों और सब दु:खों से पुनर्जन्म में अलग रखें।[५३]

आ यो धर्माणि प्रथम ससाद ततों वपूंषि कृणुते पुरुणि
धास्युर्योनिं प्रथम आविवेश आ यो वाचमनुदितां चिकेत।।[५४]

इस मन्त्र की व्याख्या में दयानन्द लिखते हैं – "(आ यो धर्माणि) जो मनुष्य पुनर्जन्म में धर्माचरण करता है (ततो वपूंषि कृणुते पुरूणि) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है और अधर्मात्मा मनुष्य नीच शरीर को प्राप्त होता है(धास्युर्योनिम्)

---

४५ इन्द्रस्य युज्यः सखा। वही १९।३

४६ ओम् क्रतोस्म। वह ४०।१५

४७ तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति। ऋग्वेद १/६४/२०

४८ आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्देहि। वही ३/७६

४९ मा न आयुः प्रमोषीः। यजु. १८।४३

५० दयानन्द भाष्य। यजु. १८/४९

५१ परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यतीरनु। इच्छन्तीरुरुद्यक्षस्व। ऋग्वेद १/२५/१६

५२ पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन् पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्। पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्। वैश्वानरो अदब्धस्तपा अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात् यजु ४।१५ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

५३ अथर्ववेद ५।१।१२

५४ महर्षि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-पुनर्जन्म विषय

जो पूर्वजन्म में किये हुए पाप-पुण्य के फलों का भोग करने के स्वभाव युक्त जीवात्मा है वह पूर्व शरीर को छोड़ के वायु के साथ रहता है। जल ओषधि वा प्राण आदि में प्रवेश करके वीर्य में प्रवेश करता है। तदनन्तर योनि अर्थात् गर्भाशय में स्थिर होके पुनः जन्म लेता है (यो वाचम् अनुदितां चिकेत) जो जीव अनुदित वाणी अर्थात् जैसी ईश्वर से सत्यभाषण करने की आज्ञा दी है वैसा ही (आचिकेत) यथावत् जानके बोलता है और धर्म ही में (ससाद) यथावत् स्थित रहता है, वह मनुष्य योनि में उत्तम शरीर धारण करके अनेक सुखों को भोगता है और जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट, पतङ्ग, पशु आदि को धारणा करके अनेक दुःखों को भोगता है।'[५५]

इस मन्त्र में पुनर्जन्म के अतिरिक्त निम्न विषयों पर भी प्रकाश डाला गया है-

१. जीवात्मा कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाता है।
२. जीवात्मा का प्रवेश गर्भाधान काल में ही हो जाता है।
३. मनुष्य पशु, पक्षी योनियों में जीवात्माओं की समानता है अर्थात् जैसा जीवात्मा मनुष्यों में है, वैसा ही कीट पंतगादि में भी है।
४. जीवात्मा की शाश्वत सत्ता है उसका इस शरीर के नाश से नाश नहीं होता है।[५६]

आत्मा के कर्म स्वातन्त्र्य में पाणिनि का मत

व्याकरण का आधारभूत ग्रन्थ अष्टाध्यायी के लेखक पाणिनि मुनि कर्मकर्त्ता को स्वतंत्र मानते हैं। उसकी दृष्टि में कर्त्ता कर्म करने में स्वतन्त्र हैं।[५७]

आत्मा के कर्म स्वातन्त्र्य में दयानन्द का मत

दयानन्द की सुस्पष्ट मान्यता है कि आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है और फल भोगने में परतन्त्र है।[५८] आर्यसमाज के तृतीय नियम में भी लिखा है - **'वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब कार्यों का परम धर्म है।'** इस प्रसङ्ग में दयानन्द ने करना-कराना नहीं लिखा। करना-कराना कर्म-कर्त्ता पर छोड़ दिया है।

महर्षि यास्क अपने अमर ग्रन्थ निरुक्त में आत्मा के सम्बन्ध में लिखते हैं- "मैंने अनेक बार जन्म-मरण को प्राप्त करके नाना प्रकार के हजारों गर्भाशयों का सेवन किया। अनेक प्रकार का भोजन किया। अनेक माताओं के स्तनों का दुग्धपान किया। अनेक

---

५५ जीवात्मज्योतिः आचार्य, राजवीरशास्त्री, पृ. ७७

५६ स्वतन्त्रःकर्ता, अष्टाध्यायी १।४।५४

५७ सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास महर्षि दयानन्द सरस्वती।

५८ मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः। नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै।
आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः। मातरो विविधा दृष्टाः पितरः सुहृदस्तथा।
अवङ्मुखपीड्यमानो जन्तुश्चैव समन्वितः। सांख्यं योगं समभ्यस्ये पुरुषं वा पञ्चविंशकम्।
निरुक्तम्: १४

माता-पिताओं के दर्शन किये। मैंने गर्भ में नीचे मुख और ऊपर पैर करके नाना प्रकार की पीड़ाओं से युक्त होके अनेक जन्म धारण किये। परन्तु अब इस महादुःखों से तभी छूटूँगा, जब परमेश्वर में पूर्ण प्रेम और उसकी आज्ञा का पालन करूँगा, नहीं तो इस मरण रूप दुःख सागर से पृथक् कभी नहीं हो सकता।'[५९]

गीता में आत्मा का स्वरूप

गीता के अनुसार इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकता, अग्नि जला नहीं सकती, जल गीला नहीं कर सकता और इसे हवा सुखा नहीं सकती।[६०] जैसे मनुष्य पुराने जीर्ण वस्त्र को उतार कर नया धारण कर लेता है, वैसे ही आत्मा जीर्ण-शीर्ण शरीर का परित्याग करके नये शरीर में चला जाता है।[६१] शरीर के नष्ट हो जाने पर यह नष्ट नहीं होता, अपितु कोई इसे मार ही नहीं सकता।[६२]

आत्मसत्ता की अनिवार्यता

यद्यपि मानव शरीर पृथिवी, जल, वायु,अग्नि और आकाश का समन्वित रूप है। केवल मात्र शरीर रूप में यह निष्क्रिय है। जब तक आत्मतत्त्व रूप चेतन तत्त्व इसमें प्रविष्ट नहीं होता, तब तक इन पञ्चमहाभूतों में विनिर्मित शरीर का कोई महत्त्व नहीं है। इसका स्पष्ट प्रमाण नहीं है कि जब मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, उस समय शरीर पूर्ण होते हुए ही व्यर्थ है। वह आत्मरक्षा में भी समर्थ नहीं है। अतः नाश को प्राप्त हो जाता है। इस स्थूल जगत् में यह जीवात्मा ही महत्त्वपूर्ण है।[६३] आत्मा को जानने के लिए छान्दोग्योपनिषद् में प्रजापति और इन्द्र तथा विरोचन की आख्यायिका बड़े महत्त्व की है।[६४] इन्द्र और विरोचन आत्मा को जानने के लिए प्रजापति के पास गये। इन्द्र देवता जाति के और विरोचन असुर जाति के प्रतिनिधि हैं।

मरणधर्मा शरीर

एक सौ एक वर्ष तक तप करने के बाद इन्द्र से प्रजापति ने कहा- हे इन्द्र! यह शरीर

---

५९ नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।। न चैनं क्लेदयन्त्यावापो न शोषयति मारुतः।
गीता २।२३

६० वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।। गीता २।२२२

६१ न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। गीता, २।२०

६२ डॉ. विजयश्री, अध्यात्मरामायणम् एक विवेचनात्मक अध्ययन, पृ. ६३

६३ छान्दोग्योपनिषद् ७/६/२

६४ मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्यात्मनोऽधिष्ठानम्। छान्दो.उप. ८।१२।१

निश्चय ही मरणधर्मा है और सदैव काल के गाल में समाने वाला है। यह हर समय मृत्यु से सन्तप्त और भयभीत रहता है। यह मरणधर्मा शरीर ही अजर-अमर जीवात्मा का अधिष्ठान है।[६५] ईशोपनिषद् और यजुर्वेद में लिखा है कि यह शरीर भस्म होने वाला है। शरीर के भस्म होने पर उस शरीर से सम्बन्धित सब कुछ समाप्त हो जाता है।[६६]

सशरीर-आत्मा सुखी-दुःखी

प्रजापति इन्द्र को आत्मा के सम्बन्ध में कहते हैं कि- निश्चय ही शरीर के साथ जीवात्मा सुख और दुःख से तथा प्रिय और अप्रिय से संयुक्त होता है। शरीर में लिप्त हुए जीवात्मा के सुख-दुःख कभी नष्ट नहीं होते।[६७]

अशरीर-आत्मा सुख-दुःख रहित

जीवात्मा जब शरीर रहित होता है तब इसे सुख-दुःख कभी स्पर्श नहीं करते।[६८] वायु, विद्युत्, मेघ और मेघ की गरज शरीर रहित हैं। जैसे ये सब आकाश से उठकर अपनी-अपनी सत्ता से प्राप्त योग्यता रूप ज्योति को पाकर अपने-अपने रूप से प्रकट होती हैं।[६९]

उत्तम पुरुष

उसी प्रकार जीवात्मा निर्मल होकर जब इस शरीर से ऊपर उठता है अर्थात् इस शरीर को चिरकाल के लिए छोड़ देता है, तब परमात्मा रूप परमज्योति को पाकर अपने आत्मस्वरूप से प्रकट होता है। इसी को उत्तम पुरुष कहा जाता है। वह अपनी इस नयी अवस्था में स्त्रियों, यानों या सम्बन्धियों के साथ खेलता हुआ और आनन्दित होता हुआ विचरता है।[७०]

प्राणवान् आत्मा

हे इन्द्र! जैसे रथ में घोड़ा जुड़ा रहता है; उसी प्रकार यह जीव प्राण के साथ इस शरीर में जुड़ा रहता है।[७१] विदग्ध के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा- रुद्र एकादश हैं। दस प्राण और आत्मा। जब ये शरीर से निकलते हैं तब अपने सम्बन्धियों को रुलाते हैं।[७२]

---

६५ (क) वायुरनलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्। ओ३म् क्रतो स्मर कृतं स्मर क्रतो स्मर कृतं स्मर। ईशा. १७
(ख) वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्। ओ३म् क्रतोस्मर कृतं स्मर। यजु. ४०।२५

६६ आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां न ह वै शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। छान्दो. ८।१२।१

६७ अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। वही ८।१२।१

६८ अशरीरो वायुरभ्रंविद्युत् स्तनयित्नुशरीराण्येतानि। तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते। वही ८।१२।२

६९ एवमेव सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय ज्योतिरुप सम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते। वही ८।१२।३

७० स यथाप्रयोग्य आचरणे एवमेवायमस्मिन् शरीरे प्राणो युक्तः। वही ८।१२।३

७१ बृहदारण्यकोपनिषद् ३।९।४।

७२ वही ८।४२।४

इन्द्रियों का अधिष्ठाता

प्रजापति इन्द्र से आत्मा की चर्चा करते हुए कहते हैं कि चक्षु में विराजमान है, चक्षु जिससे देखती है वह आत्मा है। नासिका जिस शक्ति से सूँघती है, वह आत्मा है। वाणी जिस शक्ति से बोलती है, वह आत्मा है। श्रोत्र जिससे सुनते हैं, वह आत्मा है। आत्मा के अभाव में इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं।[७३]

मन का अधिष्ठाता

इन्द्रियों के साथ-साथ आत्मा मन का भी अधिष्ठाता है। यह मैं करूँ, जो ऐसा जानता है वह आत्मा है। इस जीवात्मा का मन दिव्य नेत्र है। यह जीवात्मा इस दिव्यनेत्र रूपी मन से इन कामनाओं को देखता हुआ आनन्द भोगता है। आत्मा मन की सहायता से इन्द्रियों से काम लेता है।[७४] मन शरीर में गेयर का काम करता है।

यशस्वी आत्मा

आत्मा यश प्राप्त करना चाहता है। सर्वत्र मेरा यश फैले। ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों के मध्य मैं यशस्वी बनूँ। मैं यशस्वियों के बीच यशस्वी बनूँ।[७५] लोकैषणा की कामना सबको रहती है।

मुमुक्षु आत्मा

आत्मा चाहता है कि मैं बार-बार जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होऊँ। निश्चय ही आकाश नाम वाला ब्रह्म ही नामरूपात्मक जगत् का प्रकाशक है। नामरूपात्मक जगत् जिसके अन्दर है वह ब्रह्म है। वह अमृत है। वही परमात्मा है। पाप-पुण्य से ऊपर उठकर शरीर को छोड़कर नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूँ। मेरी मुमुक्षा है कि मैं नित्य ब्रह्मलोक को प्राप्त करूँ।[७६] उपासक ब्रह्म से प्रार्थना करता है कि मुझे असत्य से हटाकर सत्य की ओर ले चलो। अन्धकार से हटाकर प्रकाश की ओर ले चलो। मृत्यु से हटाकर अमृत (मोक्ष) की ओर ले चलो।[७७]

रुद्र आत्मा

विदध के प्रश्न का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा-रुद्र एकादश हैं। दस प्राण और

---

७३ छान्दोग्योपनिषद् ८।१२।५

७४ यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां विशां यशोऽहमनु प्रापत्सि। स हाहं यशसां यशः। वही ८।१४।१

७५ वही ८।१४।१

७६ असतो मा सद्गमय तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतंगमय। बृह. १।३।८

७७ कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः। ते यदा अस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद् यद् रोदयन्ति तस्याद् रुद्रो इति। वही ३।९।४

एक आत्मा। जब ये शरीर से निकलते हैं तब अपने सम्बन्धियों को रुलाते हैं।[७८] आर्त्तभाग के प्रश्न (जब पुरुष मरता है तो प्राण निकल जाते हैं या नहीं) का उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि प्राण आत्मा में लीन हो जाता है और शरीर फूल जाता है। मर जाता है और मर कर सो जाता है।[७९]

यज्ञ पुरुष

'पुरुषो वाव यज्ञः' पुरुष ही यज्ञ है। उसके जो चौबीस वर्ष हैं, वह प्रातः सवन है। गायत्री प्रातः सवन है, क्योंकि प्रातः सवन में गायत्री छन्द ही प्रयुक्त होता है। इस पुरुष यज्ञ के उस प्रातः सवन से वसु सम्बन्धित हैं। प्राण ही वसु हैं। क्योंकि यह ही इन सब (प्राणी समूह) को बसाते हैं।[८०]

क्रतुमय पुरुष

निश्चित रूप से यह मनुष्य क्रतुमय = कर्ममय = वासनामय है। अर्थात् जैसा विचार और उसके अनुकूल कर्म करता है वैसा ही बन जाता है। जैसी वासना इस लोक में मनुष्य की होती है। मरने के पश्चात् उसी प्रकार की योनि (शरीर) प्राप्त करता है। इसलिए वह मनुष्य निरन्तर कर्म करे।[८१]

आत्मा का कर्म स्वातन्त्र्य

जगत् की नैतिक सुव्यवस्था का मूल कारण कर्म सिद्धान्त है। जो कुछ कार्य हम अपने प्रयत्न से करते हैं, उसका फल अवश्य उत्पन्न होता है। उसका कथमपि नाश नहीं होता और जिस फल को हम इस समय भोग रहे हैं वह पूर्वजन्म में किये गये कर्म का ही परिणाम है। वह बिना कारण उद्भूत होने वाला नहीं है। कर्म सिद्धांत का यही तात्पर्य है कि इस विश्व में यदृच्छा का कोई भी स्थान नहीं। कर्म सिद्धान्त को अङ्गीकार करने से मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के विकास के लिए पर्याप्त अवसर मिलता है।[८२] जीवात्मा जैसा कर्म करने वाला और आचरण वाला होता है। वह तदनुसार ही बन जाता है। शुभ कर्म

---

७८ याज्ञल्क्येति होवाच – यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्योऽत्रैव समवनीयन्ते स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते। वही ३।२।११

७९ पुरुषो वा यज्ञस्य यानि चतुर्विंशांतिः वर्षाणि तत प्रातः सवनम्। वसन एते हि सर्वं वासयन्ति। छान्दोग्योपनिषद् ३।१६।१

८० अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके भवति तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत। वही ३।१४।१

८१ भारतीयदर्शन, बलदेव उपाध्याय, पृ. ३१

८२ यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन। अथो खल्वाहुः काममयः वायं पुरुष इति। स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भुवति। यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४५

करने वाला शुभ और पाप कर्म करने वाला अशुभ तथा ज्ञान के अनुसार शरीर के निमित्त विभिन्न योनियों और स्थावर भाव को प्राप्त होता है।[८३] उत्तम कर्म करने वाले शीघ्र ही उत्तम योनि को प्राप्त होते हैं। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य योनि को प्राप्त होते हैं। परन्तु जो निन्दित कर्म करने वाले हैं, वे निन्दित योनि को अथवा चाण्डाल की योनि को प्राप्त करते हैं।[८४] निश्चय ही यह पुरुष क्रतुमय है। जैसा विचार करता है, जैसा कर्म करता है, वैसा ही बन जाता है। जैसी वासना मनुष्य की इस लोक में होती है, वैसा ही शरीर के मरने के पश्चात् प्राप्त करता है। अत: पुरुष को निरन्तर श्रेष्ठ कर्म करते रहना चाहिए।[८५]

षोडशकलासम्पन्न पुरुष

उद्दालक जीवात्मा को षोडशकला वाला बताते हुए कहते हैं – हे सोम्य श्वेतकेतु! सोलह कला वाला यह शरीरी आत्मा है। यदि पूर्ण रूप से जानना चाहते हो तो तुम पन्द्रह दिन तक अन्न न खाओं केवल यथेच्छ जल पीते रहो। जल पीते रहने पर तेरा प्राण शरीर से पृथक् नहीं होगा। प्राण जलमय है।[८६]

चित्त आत्मा

सनत्कुमार नारद को चित्त की महत्ता प्रतिपादित करते हुए कहते हैं – चित्त ही सभी सङ्कल्पों का आश्रय है। चित्त ही सबका एकायन है। चित्त ही आत्मा है। चित्त की स्थिरता से ही आत्मप्राप्ति भी हो सकती है। अत: चित्त को आत्मा कहा गया है। चित्त ही प्रतिष्ठित है। अत: नारद! तुम चित्तशास्त्र का अध्ययन करो।[८७] आत्मा चेतन है। पतञ्जलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों के निरोध का नाम योग है।[८८]

सर्वगुणसम्पन्न आत्मा

यही आत्मा विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय, काममय, क्रोधमय, अक्रोधमय, चक्षुमय, जलमय, वायुमय, आकाशमय, तेजोमय, अतेजोमय, धर्ममय, अधर्ममय,

८३ तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशोह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रियोनिं वा वैश्ययोनि वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा शूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा। छान्दोग्योपनिषद् ५।१०।७

८४ सर्व खल्विदं ब्रह्म। जञ्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति। स क्रतुं कुर्वीत। वही ३।१४।१

८५ षोडशकलः सोम्य पुरुषः। पञ्चदशाहानि माशीः। काममप पिब। आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति। वही ६।७।१

८६ चित्रम् ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्वेति। वही ७।५।२

८७ योगदर्शन १।२

८८ स वा अयमात्मा ब्रह्म विज्ञानमयो मनोमयः प्राणमयश्चक्षुर्मयः श्रोत्रमयः पृथिवीमयः आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयोऽतेजोमयः काममयोऽकाममयः क्रोधमयोऽक्रोधमयो धर्ममयोऽ-धर्ममयः सर्वमयस्तद्यदेतदिदंमयोऽदोमय इति। बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/५

सर्वमय, इदम्मय और अदोमय है। यह काममय होने से जैसी कामना या सङ्कल्प करता है तद्नुसार कर्म करता है। अपने कर्मानुसार फलों को भोग करता है। जिसमें इसकी आसक्ति होती है, उसी कर्म के प्रति साभिलाष होकर कार्य में प्रवृत्त होता है।[८९]

आप्तकाम आत्मा

ऐसे भी जीवात्मा है जो कामनाओं से सर्वथा दूर रहते हैं, उन्हें अकाम, निष्काम और आप्तकाम कहते हैं। उनके प्राणों का उत्क्रमण नहीं होता। वही ब्रह्मत्व को प्राप्त करते हैं।[९०] किन्तु यह अवस्था तभी आती है जब ऐषणा का परित्याग कर भिक्षाचर्या तथा स्वाध्याय, यज्ञ, दान तथा निष्काम तप द्वारा साधना की जाय।[९१] इस प्रकार हृदयस्थ कामनाओं की विनष्टि होने पर जीवात्मा ब्रह्म की प्राप्ति इसी शरीर में रहते हुए कर लेता है। इसके लिए कहा है कि जिस प्रकार सर्प की केंचुली वामी के ऊपर मृत तथा सर्प द्वारा त्यक्त पड़ी रहती है उसी प्रकार जीवात्मा शरीर से छूट कर अमरता को प्राप्त कर लेता है।[९२]

आत्मा का प्रियत्व

आत्मा प्रिय और अप्रिय से प्रभावित होता है। आत्मा के लिए ही सभी वस्तुयें प्रिय होती हैं। पत्नी के लिए जैसे पति प्रिय होता है तथा जैसे पति के प्रयोजन के लिए स्त्री प्रिय होती है, उसी प्रकार आत्मा के प्रयोजन के लिए आत्मा प्रिय होती है। इसलिए प्रत्येक वस्तु में आत्मा को देखने का प्रावधान है। भिन्नता देखने वाला हानि प्राप्त करता है।[९३] ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जातियाँ उसे समाप्त कर देती हैं जो उन्हें आत्मा से भिन्न देखता

---

८९ योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति। वही, ४/४/६

९० तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति, यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेनैतमेवं विदित्वा मुनिर्भवत्येतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिशरूमो येषां नोऽयमात्माय लोक इति। ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थाया भिक्षाचर्यं चरन्ति, या ह्येव पुत्रैषणा सा वित्तैषणा, या वित्तैषणा सा लोकैषणा, उभे ह्येव एषणे एव भवतः। वही, ४/४/२२

९१ यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुत इति।। तद्यथाऽहिर्निर्ल्वयनी बल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवेदं शरीरं शेतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव। सोऽहं भगवते सहस्रं ददामीति होवाच जनको वैदेहः। वही, ४/४/७

९२ न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जायायाः कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति। ...आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। वही २।४।५

९३ ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेदं, क्षतं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः क्षत्रं वेद, लोकास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो लोकान्वेद, देवास्तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो देवान्वेद, भूतानि तं परादुर्योऽन्यत्रात्मनो भूतानि वेद, सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद। इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा। बृहदारण्यकोपनिषद्, २/४/६

है।[९४] उसके मूल में यही धारणा बलवती प्रतीत होती है कि जीवात्माएँ उस परम सर्वोच्च आत्मा की विभूतियाँ हैं, जिन्हें पृथक् नहीं समझा जा सकता।[९५]

आत्मा का स्थान हृदय

शाण्डिल्य विद्या के अन्तर्गत कहा गया है कि आत्मा का स्थान हृदय है। यह अन्न के दाने से, जौ से, सरसों से, श्यामाक से, श्यामाक चावल से सूक्ष्म है। यह अत्यन्त सूक्ष्म सत्ता है।[९६] मेरे हृदय में भीतर जो साक्षीरूप, आधाररूप आत्मा है, उसमें ब्रह्म निवास करता है। मैं यहाँ से मर कर इसी को प्राप्त होऊँगा। जो उपासक ऐसी श्रद्धा रखता है, सन्देह तथा शङ्कारहित रहता है। वह भी अपने में स्थित ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[९७] मेरे विचार से मस्तिष्कस्थ हृदय में आत्मा निवास करता है। वैसे सम्पूर्ण शरीर में आत्मा परिभ्रमण करता है।

आत्मा का आकार-प्रकार

श्वेताश्वतरोपनिषद् के अनुसार यह आत्मा बाल के अग्रभाग के सौवें भाग के एक भाग का सौवां हिस्सा है। यही अत्यन्तसूक्ष्म आत्मा आनन्त्य (मोक्ष) के लिए पर्याप्त है।[९८] आत्मा का उक्त परिणाम सूक्ष्मतादर्शक है, वास्तव में आत्मा परमसूक्ष्म है।[९९] परमात्मा से भिन्न जो दूसरा आत्मा है वह अङ्गुष्ठ मात्र (अङ्गों में रहने वाला) है, सूर्यसदृश रूपवान् है, सङ्कल्प और अहङ्कार युक्त है। बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से ही वह सूई की नोक के बराबर अत्यन्त सूक्ष्म देखा गया है। जीवात्मा प्रकाशस्वरूप परमसूक्ष्म है।[१००]

लिङ्ग रहित आत्मा

यह देही (आत्मा) न ही स्त्री है, न पुरुष और नही यह नपुंसक है किन्तु जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस-उस से वह रक्षित या लक्षित होता है। आत्मा वास्तव में त्रिलिङ्गातीत है।

---

९४ उपनिषद्कालीन समाज एवं संस्कृति, पृ. १५५

९५ एष मे आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान्ब्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा। छान्दोग्योपनिषद्, ३/१४/३

९६ एष मे आत्माऽन्तर्हृदये एतद् ब्रह्मैतमभितः प्रेत्याभि सम्भवितास्मीति। यस्य स्याद्श्रद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः।। वही, ३/१४/४

९७ बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते। श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५/९

९८ श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/९ पर स्वामी दयानन्द की व्याख्या।

९९ अङ्गुष्ठमात्रोरवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः।

१०० नैव स्त्री न पुमानेष न चैवायं नपुंसकः। यद् यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स रक्ष्यते।। श्वेताश्वतरोपनिषद्, ५/१०

निष्कर्ष

आत्मा की तीन अवस्थाएँ होती हैं - जागरित अवस्था में जो आँख, नाक, कान इत्यादि बाह्य इन्द्रियों द्वारा मनुष्य को ज्ञान की प्राप्ति होती है। स्वप्नावस्था में मनुष्य की बाह्य इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। परन्तु तब भी मन द्वारा मनुष्य को अनुभव होता रहता है तथा जिसका सम्बन्ध बाह्य इन्द्रियों से भी होता है। क्योंकि स्वप्न के पश्चात् जागरण में मनुष्य उस समय के अनुभवों का स्मरण करता है तथा स्वप्नावस्था में भी सुख-दुःख का अनुभव करता है तथा मनुष्य रोने हँसने की क्रिया करता है। परन्तु सुषुप्ति अवस्था इससे सर्वथा भिन्न है। उस समय बाह्य इन्द्रियाँ एवं मन दोनों ही निष्क्रिय होते हैं। उस समय में कोई अनुभव नहीं होता तथा सब भिन्नत्व अभिन्नत्व में परिवर्तित प्रतीत होता है। परन्तु यह निर्वाण (मोक्ष) भी नहीं होता। क्योंकि इसके पश्चात् पुनः चेतना प्राप्त होती है तथा उस चेतना में सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त सुख का अनुभव होता है। कैसे सुषुप्ति में वह सुख-प्राप्ति आवश्यक है तथा वह सुख बिना जीवित हुए कैसे किया जा सकता है। अतः सुषुप्ति अवस्था मृत्यु से सर्वथा भिन्न है। इससे निष्कर्ष यही निकलता है कि मनुष्य ही सभी अवस्थाओं का अनुभव पृथक्-पृथक् समय में करता है। यह आत्मा ही सब अवस्थाओं को अनुभव करता है। यह आत्मा शरीर से भिन्न है तथा बुद्धि की तीन वृत्तियों का यह आत्मा साक्षी है। इस प्रकार इन तीन वृत्तियों के माध्यम से यह स्पष्ट है कि जीवात्मा स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर से भिन्न है।

यह जीवात्मा शरीर से सर्वथा भिन्न है। जिस प्रकार अग्नि में लकड़ी के विकार दिखाई देते हैं, उसी प्रकार साक्षी आत्मा में भिन्नता, जन्म, मरण, क्षय, वृद्धि, कर्म और कर्मफल प्रतीत होते हैं। यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि आत्मा बिना शरीर के कुछ भी नहीं कर सकता है।

उपनिषदों में प्राण तत्त्व–पण्डित मधुसूदन ओझा के आलोक में

डॉ. दिलीप कुमार नाथाणी
प्रभारी, संस्कृत शोधप्रकोष्ठ
महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र,
मेहरानगढ़ दुर्ग, जोधपुर

अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठास्मि त्वं तत्प्रतिमष्ठामसीति।। अथ हैन ँ सम्पदस्मि त्वं तत्सम्पद–सीत्यथ हैनं मन उवाच यदहं वाचतदमस्मि त्वं तदायतपमसीति ।। न वै वाचो न चक्षूँ षि न श्रोत्राणि न मनाँसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति।। १।।५।। १३–१५।। छान्दो.उप.

वेद विज्ञान के अनुसार ब्रह्म का प्रसरण ही यह चराचर जगत् है। ब्रह्म का यह प्रसरण अथवा वितान पाँच प्रकार का होता है। प्रथम ऋषि रूप तदनन्तर क्रमशः पितृरूप, देवरूप, असुररूप तथा गन्धर्वरूप । ये सभी रूप प्राणात्मक हैं। तथापि ये क्रमशः सृष्टि–विकास के क्रम में हैं । इस प्राण मूलक वैदिक विज्ञान में ऋषि प्राण, मूल तत्व है। बल या ऊर्जा ही हमारे अन्दर व्याप्त प्राणशक्ति है। प्राणशक्ति की स्वगत भिन्नता ही ऋषि, पितर, देव, असुर, व गन्धर्व भेद हैं। ये प्राण अनेक प्रकार के हैं, तथा सृष्टि प्रवर्तक है। पं. मधुसूदन ओझा जी लिखते हैं–

विविधा हि ऋषयो भवन्ति सृष्टिप्रवर्तकाः वेदप्रवर्तकाः गोत्रप्रवर्तकाश्च। तत्र सृष्टिप्रवर्तकास्त्रिविधाः—एकर्षय, सप्तर्षयः, दशर्षयश्च। अन्यैरसंसृज्यमानाः एकर्षयः सप्तसप्तैव सहकृताः सप्तर्षयः, यत्र त्रयश्चत्वारो बहवो वा यथासम्भवं मिलितास्तिष्ठन्ति ते दशर्षयः इति।।

ये प्राण रूप ऋषि विभिन्न भेदोपभेद स्वरूप हैं इनमें कुछ सृष्टि प्रवर्तक ,कुछ वेद प्रवर्तक, कुछ गोत्रप्रवर्तक हैं। पुनः सृष्टिप्रवर्तक ऋषि तीन प्रकार के कहे गये हैं। एकर्षि, सप्तर्षि, दशर्षि एक ही प्रकार के प्राणों का समूह एकर्षि तीन अथवा चार प्रकार के प्राणों का समूह दशर्षि कहलाता है।

प्राणों की उत्पत्ति

इन प्राणों की उत्पत्ति कहाँ से होती है इस सन्दर्भ में प्रश्नोपनिषद् में समाधान किया

गया है वहाँ अश्वल के पुत्र कौसल्य ने पूछा– **भगवन्कुत एष प्राणो जायते।** इसके उत्तर में मुनि पिप्लाद ने कहा–

आत्मन एष प्राणो जायते। यथेषा पुरुषे छायैतस्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनायात्यस्मि शरीरे।।३।३।। प्र.उप.

यह उपर्युक्त प्राण आत्मा अर्थात् परम पुरुष जिसे अक्षर कहा गया है उससे उत्पन्न होता है। तथा जिस प्रकार लोक में शिर तथा हाथ–पाँववाले पुरुषरूप निमित्त के रहते हुए ही उससे होने वाली छाया उत्पन्न होती है उसी प्रकार इस ब्रह्म यानी सत्य पुरुष में यह छायास्थानीय मिथ्या तत्त्व व्याप्त है, समर्पित है। देह में छाया के समान यह जन के कार्य से यानी मन के संकल्प और इच्छादि से होने वाले कर्म से इस शरीर में आता है। यह प्राण सृष्टि–प्रक्रिया में सर्वप्रथम है तथा यह मनोकृत सङ्कल्पादि से इस शरीर में आ जाता है।

ऋषि तत्त्व व प्राण की समानता

ऋषि उस मौलिक तत्त्व का नाम है, जो मौलिक तत्त्व यजुर्वेद के 'यत्' भाग से सम्बन्ध रखने वाला प्राण तत्त्व ही है। वही प्राण असत् प्राण, ऋषि नाम से प्रसिद्ध हुआ है। चूँकि प्राण में प्राण नहीं रहता है अतएव इस प्राण को असत् कहा जाता है। रसात्मक यजुर्वेद का जो यत् भाग है– यही गति प्रकृतिक प्राण तत्त्व है। गति प्रकृतिक इसी प्राण के गमन से अर्थात् गतिभाव से आगे की सम्पूर्ण सृष्टियों का सृजन हुआ । यही प्राणतत्त्व वैदिक परिभाषा में अपने गतिभाव के कारण 'ऋषि' नाम से प्रसिद्ध हुआ है जैसा भगवान् याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख किया है–

''असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः किं तदसदासीत् इति। ऋषयो वाव तेऽदग्रेऽसदासीत्। के ते ऋषयः ? इति । प्राणा वा ऋषयः। ते यत् पुरा–अस्मात्–सर्वस्मात्–इदं–इदमिच्छन्तः श्रमेण ,तपसा अरिषन्, तस्मात् –'ऋषयः'

अर्थात् जब कुछ न था तो क्या था? श्रुति उत्तर देती है– उस समय 'असत्' ही तत्त्व था । असत् क्या? असत् का अर्थ तो लोक में अभाव होता है। क्या यह तात्पर्य है कि विश्व से पूर्व कुछ भी न था? वह असत् अभावार्थक नहीं है, अपितु भावार्थक है तत्त्वात्मक है। तो पुनः जिज्ञासा हुई कि क्या स्वरूप था उस असत् का? श्रुति उत्तर देती है ऋषि ही वह असत् तत्त्व था । उस ऋषि का क्या स्वरूप था? उत्तर था। प्राणतत्व का ही नाम ऋषि था। प्राण तत्त्व को ऋषि क्यों कहा गया? तो श्रुति कहती है कि –'त यत् पुरा–अस्मात्– सर्वस्मात्–इदमिच्छन्तः–श्रमेण–तपसा–अरिषन् तस्मात्–'ऋषयः'– यह प्राणतत्व ही क्योंकि सृष्टिकामना से प्रेरित होकर गतिशील बना अतएव– 'रिषति गच्छति गतिशीलो भवति' इस निर्वचन से इस प्राण का तात्विक नाम ऋषि है। अर्थात् प्रजापति ने सर्वप्रथम उत्पन्न युगल में प्राणात्मक ऋषि जो कि आदित्य स्वरूप है, के साथ चन्द्रस्वरूप रयि की उत्पत्ति की। प्राणात्मक ऋषि को वेद 'असत्' 'सत्' इन नामों से व्यवहृत करते

हैं। जिस प्राण से सृष्टि का उपक्रम होता है। इन ऋषि प्राणों के अनेक विभाग हैं। इस प्राणानन्त्य से ही तद्रूप वेद अनन्त माने गए हैं। इन प्राणों की अनन्तता से विश्व पदार्थों में वैविध्य उपलब्ध हो रहा है। प्राणात्मिका इस ऋषि विद्या का नाम ही वेद-विद्या है। इन सृष्टि प्रवर्तक तत्वात्मक ऋषियों को दिव्यर्षि- देवर्षि- पुराणर्षि इत्यादि नामों से सम्बाधित किया गया है।

अथ 'प्राणा वा ऋषयः' इत्यादि **श्रुतिसम्मतान् ऋषिप्राणान् ये ये विपश्चितः समपश्यन् ते तेऽपि अगस्त्य-कौशिक-वसिष्ठ प्रभृतिभिस्तदृषिनामभिः प्रसिद्धा अभवन्। एते एव मन्त्रद्रष्टारः सप्तर्षिप्रभृतयः ऋषयस्तद्वंश्या वा विद्वांसो वेदप्रवर्तका महर्षयः। अथ च प्राणसंघटितात्मनां मन्त्रद्रष्टाणां महर्षीणामपत्य परम्परामपि तेषां पुत्राणामात्मनस्तत्तत्प्राणैः कृतरूपा अभवन्। अतस्त एते गोत्रप्रवर्तका ऋषयः प्रसिद्धाः जाताः।**

इस प्रकार प्राण ही ऋषि है यह श्रुति सम्मत प्रमाणित हुआ अतः इस प्रकार ऋषि प्राणों को जिन-जिन ने भलीभाँति देखा वे भी अगस्त्य, कौशिक, वशिष्ठ आदि ऋषि नाम से प्रसिद्ध हुए ये ही मन्त्रद्रष्टा सप्तर्षि हैं तथा इनके वंशज विद्वान् वेदप्रवर्तक महर्षि हैं। इस प्रकार मन्त्रद्रष्टा प्राणों के अपत्य महर्षियों की सन्तान परम्परा द्वारा तत्तत प्राणों का विकास होता हुआ उसी ऋषि नाम से अभिहित रहे अतः वे ऋषि गोत्र प्रवर्तक के रूप में रहे।

प्राणों के विभिन्न स्वरूप व विकास क्रम— सृष्टि प्रवर्तक गोत्र प्रवर्तक इन मूल प्राणों के स्वरूप का पं. मधुसूदन ओझा जी ने मनुस्मृति के आधार पर इस प्रकार समझाया है कि प्राणों का प्रामुख्येन दो प्रकार का विभाजन किया गया है-

प्राणाश्च द्विविधा मर्त्य अमृता इति भेदाः।
वेदर्षयोऽमृता मर्त्याः पितृदेवासुरादयः।।

दो प्रकार के प्राण कहे गये हैं अमृत व मर्त्य, इनमें जो वेद द्रष्टा ऋषि हैं वे अमृत प्राण हैं तथा शेष पित्रादि सभी प्राण मर्त्य हैं। अतः दो प्रकार के प्रधान प्राणों का उपविभाजन किय जाने पर प्रामुख्येन पाँच प्रकार के प्राणों का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उनका विकास क्रम पं. मधुसूदन ओझा जी ने अम्भोवाद में इस प्रकार कहा है-

ऋषिभ्य एते पितरः पितृभ्यो देवासुरास्तथैव मनुष्यसंज्ञाः।
तेभ्यश्च गन्धर्वगणा इतीत्थं प्राणा इमे पञ्चविधा प्रसिद्धाः।।

अम्भोवाद २-२६

अमृत स्वरूप प्राण से प्रथम ऋषि प्राण है जो स्वयं भी अमृत ही है उस ऋषि प्राण से पितृप्राण, पितृप्राण से देवासुरप्राण, देवासुरप्राणों से मनुष्यप्राण, मनुष्यप्राण से गन्धर्वप्राण इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में कुल दो प्रकार के प्राण हैं जो पाँच रूपों में दृष्टिगोचर होते हैं। महर्षि मनु ने भी इसे कहा है-

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानावाः।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूशः।।

इस श्लोक के द्वारा मनु ने भी इसी क्रम से ही सृष्टि विकास कहा है। अतः इन पाँच प्राणों से भिन्न जगत् नहीं हैं । इन पाँचों प्राणों से किस प्रकार यह सृष्टि हुई है उसका विस्तृत विवेचन पुराणों में प्राप्त होता है। वस्तुतः ये प्राण वायुभूत हैं क्योंकि इन विभिन्न प्रकार के प्राणों का सङ्घ ही वायु है। ये प्राण विराट् से उत्पन्न होते हैं उससे प्रेरित होकर ही देह चेष्टा यानि किसी क्रिया को करता है। अतः विभिन्न ऋषि नामात्मक ऋषि रूपी प्राण ही देह में व लोक में चेष्टा के कारण हैं यथा अर्चि यानि ज्योति में भृगुप्राण, अङ्गिरा में अङ्गिरस प्राण, स्त्रीरज में अत्रि प्राण, मन में दक्षप्राण, तथा मनुष्य के शरीर में स्थित पञ्च प्राणों व उपप्राणों के रूप में विराजमान है वह क्रतु ऋषि नामक मन प्राण है, जिसके पाँच विभाग व पाँच उप–विभाग है।

मनुष्य शरीरस्थ प्राण का स्वरूप

मनुष्य जो प्राणन करता है अर्थात् मुख व नासिका द्वारा वायु को बाहर निकालता है, वह वायु की प्राण नामक वृत्तिविशेष है तथा जो वह अपश्वास करता है, अर्थात् उन मुख व नासिका द्वारा वायु को भीतर खींचता है वह उसकी अपानसंज्ञक वृत्ति विशेष है। इन दोनों प्राणापान के मध्य की सन्धि जो कि वृत्ति है, वह व्यान है यह व्यान ही वीर्यवान् कर्म की निष्पत्ति का कारण है। तथा वाणी की निष्पत्ति इस व्यान संज्ञक प्राण द्वारा सम्पादित होती है। इसलिये लोक प्राणन और अपानन अर्थात् श्वासोच्छ्वास की क्रियाएँ न करता हुआ वाणी का अभिव्यवहार उच्चारण करता है। यह वाक् विशेष ऋक् है वही साम है तथा यही साम उद्गीथ है। यही नहीं इसके अलावा और भी वीर्ययुक्त कर्म हैं जैसे– अग्नि का मन्थन, किसी सीमा तक दौड़ना और सुदृढ़ धनुष को खींचना इन सब कर्मों को भी पुरुष प्राण और अपान की क्रिया न करता हुआ ही करता है। यह व्यान नामक प्राण विशेष व्यक्ति को वीर्यवान् बनाता है। अतः सभी इन्द्रियाँ वस्तुतः प्राण स्वरूप हैं या जिसे कहा जाय प्राण द्वारा इन्द्रियों का पोषण सम्भव है इन इन्द्रियगत क्षुद्र प्राणों का पोषण मुख्य प्राण द्वारा ही होता है। छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद्, में एक आख्यायिका द्वारा उसे समझाया गया है कि जो कोई ज्येष्ठ व श्रेष्ठ को जानता है वह ज्येष्ठ व श्रेष्ठ हो जाता है । निश्चय ही प्राण ज्येष्ठ व श्रेष्ठ है। जो कोई वसिष्ठ को जानता है वह स्वजातियों में वसिष्ठ होता है, निश्चय ही वाक् वसिष्ठ है। जो कोई प्रतिष्ठा को जानता है वह इस लोक प्रतिष्ठित हो जाता है, चक्षु ही प्रतिष्ठा है, जो कोई सम्पद् को जानता है, उसे दैव और मानुष काम (भोग) सम्यक् प्रकार से प्राप्त होते हैं। श्रौत ही सम्पद् है जो आयतन को जानता है वह स्वजातियों का आश्रय अर्थात् आयतन होता है । निश्चय ही मन आयतन है। इस प्रकार एक बार इन्द्रियों में अपने प्राणात्मक व्यापार सम्बन्धी ज्येष्ठता व श्रेष्ठता सम्बन्धी विवाद

हुआ, तब वे अपने पिता प्रजापति के पास गई तथा उनसे कहा कि भगवन्! हममें कौन श्रेष्ठ है? प्रजापति ने कहा तुममें से जिसके निकल जाने पर शरीर अत्यन्त पापिष्ठ सा दिखायी देने लगे वही तुममें श्रेष्ठ है, सबसे पहले वाक् इन्द्रिय ने उत्क्रमण किया, किन्तु शेष इन्द्रियों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा इसी क्रम से चक्षु, श्रौत्र, मनादि ने उत्क्रमण किया किन्तु शेष इन्द्रियाँ क्रमशः मूक, अन्ध, बधिर, बालक की तरह रहीं किन्तु कोई ऐसा प्रभाव नहीं हुआ जिससे शरीर पापिष्ठ-सा दिखाई देवे फिर प्राण ने उत्क्रमण करने की इच्छा की तो उसकी इच्छा मात्र ने इन्द्रियगत अन्य प्राणों को भी उखाड़ दिया। तब सारी इन्द्रियों ने मुख्य प्राण की स्तुति की। इस मुख्य प्राण के महत्त्व को छान्दोग्योपनिषद् व बृहदारण्यकोपनिषद् में एक रूपक से इस प्रकार समझाया है कि- देवता, असुरों को परास्त करने हेतु शरीरस्थ इन्द्रियों क्रमशः घ्राण, नेत्र, श्रोत्र, त्वक् ,मनादि इन्द्रियों में उद्गीथोपासना करते हैं, किन्तु असुर इन इन्द्रियों को पापविद्ध कर देते हैं, किन्तु प्राणों द्वारा उद्गीथोपासना किये जाने पर असुरगण प्राणों को पापविद्ध नहीं कर सके अपितु प्राणों के निकट पहुँच कर स्वयं नष्ट हो गये। यह मुख्य प्राण मुख में रहता है

छान्दोग्योपनिषद् में प्राणोपासना का महत्त्व बतलाते हुये ऋषि ने कहा है कि-

एव यथा रमानताखणमृत्ताविध्वँसत एवँ हैव स विध्वँसते य एव विदि पापं कामयते यश्चैनमभिदासतिस एषोऽश्माखणः १-२-८

जिस प्रकार मिट्टी का ढेला दुर्भेद्य पाषाण को प्राप्त होकर विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार सारे असुर प्राणों के निकट जाकर नष्ट हो गये। जो इस प्रकार प्राणों के पराक्रम को जानता है वह भी प्राण स्वरूप हो जाता है, इस प्रकार प्राण के महत्त्व को जानने वाले प्राणवेत्ता प्राणोपासक भी पाषाण सदृश अभेद्य हैं, जो इस प्राणवेत्ता के विरुद्ध पापाचरण करता है उसको कोसता या मारता है, वह भी असुरों की भाँति नष्ट हो जाता है। आदिशङ्कराचार्य ने यहाँ सम्भावित शङ्का उपस्थित कर उसका समाधान देते हुए कहा है कि मुखस्थित मुख्य प्राण की भाँति ही नासिका वायुभूत प्राण भी है तथापि नासिका स्थित प्राण पापविद्ध हुआ किन्तु मुख्य प्राण पापविद्ध नहीं हुआ। इस शङ्का का समाधान करते हुये कहा गया कि नासिका में स्थित प्राण वायुरूप होने पर भी स्थानावच्छिन्न इन्द्रिय दोष के कारण असुरों द्वारा पापविद्ध हुआ, किन्तु मुख्य प्राण आश्रय दोष की असम्भवता के कारण तथा स्थान देवता से प्रबलतर होने के कारण पाप से विद्ध नहीं हुआ। यथा किसी शिल्प से सम्बन्धित उपस्कर दक्ष शिल्पी द्वारा ही प्रयोग में लिया जा सकता है। अतएव मुख्य प्राण पापविद्ध नहीं है। यह मुख्य प्राण सुगन्ध व दुर्गन्ध को नहीं जानता उसी प्रकार व अन्य इन्द्रियों के भी शुभ-अशुभ भाव स्वरूप से अनभिज्ञ है। तथापि मनुष्यों द्वारा खाने-पीने के द्वारा यह मुख्य प्राण ही अन्य प्राणों अर्थात् विभिन्न इन्द्रियों में व्याप्त क्रियाशीलता प्रदायक क्षुद्र तथा असुरों द्वारा पापविद्ध प्राणों का भी

पालन–पोषण करता है। इस प्रकार शरीरस्थ प्राणों के स्वरूप को जानने के लिये अश्वल पुत्र कौसल्य ने पूछा 'भगवन्'! यह प्राण कहाँ से उत्पन्न होता है? तथा अपना विभाग करके किस प्रकार स्थित होता है? पुन: किस प्रकार शरीर से उत्क्रमण करता है? और किस तरह बाह्य व आभ्यन्तर शरीर को धारण करता है?

मुनि ने उत्तर देते हुए कहा कि यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है, जिस प्रकार मनुष्य शरीर से यह छाया उत्पन्न होती है, उसी प्रकार इस आत्मा में प्राण व्याप्त है तथा यह मनोकृत सङ्कल्पादि से इस शरीर में आ जाता है। इस प्रकार शरीर में प्रविष्ट यह प्राण जो कि आत्मा के सङ्ग ही शरीर में प्रविष्ट हुआ है, मुख्य प्राण है। यह मुख्य प्राण ही अन्य प्राणों की नियुक्ति करता है। यह प्राण अपने भेद अपान को पायु और उपस्थ में मूत्र और पुरीष आदि को निकालते हुए स्थित करता है यानी नियुक्त करता हैं तथा मुख और नासिका इन दोनों से निकलता हुआ सम्राट् स्थानीय प्राण चक्षु, श्रोत्र, में स्थित रहता है, तथा प्राण और अपान के स्थानों के मध्य नाभिदेश में समान रहता है, जो खाये और पीये हुए पदार्थों को सम विभाजित करता है इस कारण उसे समान कहा गया है। यह समान वायु ही खायी–पीयी वस्तु को अर्थात् देहान्तर्वर्ती जठरानल में डाले हुये अन्न को समभाव से पहुँचाता है इसलिये खान–पान रूप ईंधन से हृदयदेश से प्राप्त हुए इस जठराग्नि से शिरोदेशवर्तिनी अर्थात् ऊपर की ओर सात–अर्चियाँ अर्थात् दीप्तियाँ निकलती हैं जो कि प्राणस्वरूप हैं वे सात अर्चियाँ क्रमश: दो नेत्र , दो श्रोत्र, दो घ्राण व एक रसना । तात्पर्य यह है कि रूपादि विषयों के दर्शन श्रवण आदि रूप प्रकाश प्राण से ही निष्पन्न हुए हैं। यह आत्मा हृदय में है, इस हृद्देश में से एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ निकलती हैं। उनमें से प्रत्येक प्रधान नाड़ी के उन सौ भेदों में से प्रत्येक में बहत्तर हजार प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं। इन सब नाड़ियों में व्यानवायु सञ्चार करता है। व्यापक होने के कारण इसे व्यान कहा है। जिस प्रकार सूर्य से किरणें निकलती हैं उसी प्रकार हृदय से निकलकर सब ओर फैली हुई नाड़ियों द्वारा व्यान सम्पूर्ण देह को व्याप्त करके स्थित है। तथा उन एक सौ एक नाड़ियों में से जो सुषुम्नानाम्नी एक ऊर्ध्वगामिनी नाड़ी है उस एक के द्वारा ही ऊपर की ओर जाने वाला तथा चरण से मस्तकपर्यन्त सञ्चार करने वाला उदान वायु जीवात्मा को पुण्य कर्म अर्थात् शास्त्रोक्त कर्म से देवादि स्थानरूप पुण्यलोक को प्राप्त करा देता है। तथा उससे विपरीत पापकर्म अर्थात् शास्त्रानुसार अकरणीय कर्म करने पर पापलोक यानी तिर्यग्योनि आदि नरक को ले जाता है और समान रूप से प्रधान हुए पुण्यलोक को और पापकर्म के द्वारा पापमय लोक को ले जाता है तथा पुण्य–पाप दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा उसे मनुष्यलोक को प्राप्त कराता है।

बाह्यप्राण का निरूपण

आदित्यो ह वै बाह्य: प्राण: उदयत्येष ह्येन चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णन:। पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापनमवष्टभ्यान्तरा यदाकाश: स समानो वायुव्यनि:।।३।८।।

यह प्रसिद्ध आदित्य ही अधिदैवत बाह्य प्राण है, वही यह उदित होता है- ऊपर की ओर जाता है और यही इस आध्यात्मिक चाक्षुष अर्थात् नेत्रस्थित प्राण को चक्षु में जो है। उसे चाक्षुष कहते हैं- प्रकाश से अनुगृहीत करता हुआ अर्थात् रूप की उपलब्धि में नेत्र को प्रकाश देता हुआ तथा पृथिवी में जो उसका प्रसिद्ध अभिमानी देवता है वह पुरुष के अपान अर्थात् अपानवृत्ति का अवष्टम्भ-आकर्षण करके उसे अपने अधीन कर स्थित रहता है। तात्पर्य यह है कि नीचे की ओर आकर्षण द्वारा उस पर अनुग्रह करता हुआ स्थिक रहता है। अन्यथा शरीर अपने भारीपन के कारण गिर जाता अथवा अवकाश मिलने के कारण उड़ जाता। द्युलोक और पृथिवी के मध्य में जो आकाश है उसमें रहनेवाला वायु भी मञ्चस्थ व्यक्तियों की भाँति आकाश कहलाता है। वही समान आकाश कहलाता है। समानवायु शरीरवर्ती आकाश के मध्य में रहता है और बाह्यवायु द्युलोक एवं पृथिवी के मध्यवर्ती आकाश में स्थित है। इस प्रकार मध्य आकाश में स्थित होना यह शरीर व बाह्य आकाश दोनों के लिये एक सी बात है। तथा साधारणतया जो बाह्यवायु है वह व्यापकत्व में समानता होने के कारण व्यान है।

तेजो ह वा उदानस्तस्तादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः।।२।९।

जो आदित्य संज्ञक प्रसिद्ध बाह्य सामान्य तेज है वही शरीर में उदान है तात्पर्य यह है कि वही अपने प्रकाश से उदान वायु को अनुग्रहीत करता है क्योंकि उत्क्रमण करनेवाला उदान वायु तेजःस्वरूप है- बाह्य तेज से अनुग्रहीत होने वाला है इसलिये जिस समय लौकिक पुरुष उपशान्ततेजा होता है अर्थात् जिसका स्वाभाविक तेज शान्त हो गया है ऐसा होता है उस समय उसे क्षीणायु मरणासन्न समझना चाहिये। वह पुनर्भव-देहान्तर को प्राप्त होता है।

प्राण की विभिन्न संज्ञाएँ

तँ ह्यंगिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवागिरस मन्यन्तेऽगंनां यद्रसः।। छा.उप. १।२।१०।।

प्राणोपासक ऋषियों को भी अभेद विज्ञान के लिये प्राण बनाती है। अतः इसका तात्पर्य यह है कि अङ्गिरा नामक ऋषि ने प्राणस्वरूप होकर ही अङ्गिरस आत्मा जो कि प्राणरूप है की उद्गीथोपासना की क्योंकि प्राण होने के कारण यह अंगों का रस है इसलिये यह प्राण अङ्गीरस नाम से अभिहित किया गया है।

तेन तँ ह बृहस्पतिरुदुगीथमुपासांचक्र एतमु एव बृहस्पति मन्यन्ते वाग्घि बृहती तस्या एष पति।।१।२।११।। छा. उप

बृहस्पति ने उस प्राण को अंगिरस जानकर उसकी उद्गीथ रूप में उपासना की अतः मनुष्य उस प्राण को ही बृहस्पति मानते है। चूँकि वाक् ही बृहती है तथा वाक् अर्थात् बृहती का स्वामी होने से यह बृहस्पति है। अतः प्राण बृहस्पति नाम से अभिहित किया गया है।

तेन ँ हायास्य उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्य-

दयते।।१।२।१२।। छा. उप.

प्राणों को अङ्गीरस व बृहस्पति जानकर आयास्य ने इस प्राण के रूप में उद्गीथोपासना की अत: मनुष्य ने प्राण को आयास्य माना है, क्योंकि यह आस्य अर्थात् मुख से निकलता है। इस प्रकार प्राण आयास्य नाम से अभिहित किया गया है। अत: छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार प्राण की तीन संज्ञाएँ – अङ्गिरस, बृहस्पति, आयास्य कही गई हैं।

प्राण का अन्न (भोजन)

जब प्राण ने प्रजापति के समक्ष अपना ज्येष्ठत्व व श्रेष्ठत्व सिद्ध किया तब प्राण ने प्रजापति से पूछा–

स होवाच कि मेऽन्नं भविष्यतीति यत्किञ्चदिदमा श्वभ्य आ शकुनिभ्य इति होचुस्तद्वा एतदनस्यान्नमनो ह वै नाम प्रत्यक्षं न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवतीति।।२।१।१।। प्रश्नोप.

इस मन्त्र को शङ्कराचार्य ने समझाते हुये अपनी टीका में लिखा है कि प्राण ने कहा मेरा अन्न क्या होगा? तब वागादि को उत्तरदाता कल्पित करते हुए श्रुति ने कहा कि– 'इस लोक में कुत्तों के सहित पक्षियों के सहित सम्पूर्ण प्राणियों का यह जो कुछ अन्न प्रसिद्ध है वही तेरा अन्न है। इस प्रकार सब कुछ प्राण का अन्न है और प्राण इस अन्न का भोक्ता है– इस बात को समझाने के लिये कल्पित आख्यायिका रूप से निवृत्त को ग्रन्थ अपने श्रुति रूप से कहता है– 'यह जो कुछ अन्न इस लोक मे प्राणियों द्वारा भक्षित होता है वइ अन्न प्राण का ही अन्न है; तात्पर्य है कि वह प्राण द्वारा ही भक्षित होता है। प्राण का सब प्रकार की चेष्टा में व्याप्तिरूप गुण प्रदर्शित करने के लिये उसका 'अन' यह प्रत्यक्ष नाम है क्योंकि 'प्र' आदि उपसर्ग पूर्व में रहने पर उसकी विशेष गति ही सिद्ध होती है। इस प्रकार सम्पर्ण अन्नों को भक्षण करने वाले प्राण का नाम ग्रहण किया गया हैं अत: उसका 'अन' यह प्रत्यक्ष नाम है; यह सर्वान्नभक्षी प्राण का साक्षात् नाम है।

अत: जो प्राणवेत्ता यह जानता है कि मैं सम्पूर्ण भूतों में स्थित सारे अन्नों का भोक्ता प्राण हूँ, उसके लिये समस्त प्राणियों द्वारा भक्षित होने वाला कोई भी अन्न अभक्ष्य नहीं होता। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार जाननेवाले विद्वान् के लिये सभी अन्न है, क्योंकि वह स्वयं भी विद्वान् प्राणस्वरूप हो जाता है।

प्राण का वस्त्र

प्राण द्वारा अपने अन्न के सन्दर्भ में उत्तर प्राप्त होने पर पुन: प्राण ने पूछा– **स होवाच किं में वासो भविष्यतीत्याप इति होचुस्तस्माद्वा एतशिष्यन्त: पुरस्ताच्चोपरिश्यच्चादभि: परिदधति लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति।।२।१।२। प्रश्नोपनिषद्**

इस श्लोक को आदि शङ्करकराचार्य ने समझाते हुये कहा है कि उस प्राण ने फिर पूछा– मेरा वस्त्र क्या होगा? इस पर उत्तर प्राप्त हुआ 'जल'। क्योंकि जल प्राण का वस्त्र

है इसी से भोजन करने वाले विद्वान् यह करते हैं, क्या करते हैं? भोजन के पूर्व और पश्चात् वे वस्त्रस्थानीय जल से मुख्यप्राण का परिधान करते हैं। वह लम्भुक वस्त्रों को प्राप्त करनेवाला ही होता है और अनग्न होता है। इसका अभिप्राय यह है कि उत्तरीय वस्त्र से युक्त होता है।

भोजन आरम्भ करनेवाले और भोजन कर चुकनेवाले का जो आचमन शुद्धि के लिये विदित है उसमें यह प्राण का वस्त्र है ऐसी दृष्टिमात्र का विधान किया गया है। जल से परिधान करता है ऐसा कहकर किसी अन्य आचमन का विधान नहीं किया गया।

प्राणों से प्रजोत्पत्ति

प्रश्नोपनिषद् के अनुसार प्रजापति ने प्रजा की इच्छा से एक युगल उत्पन्न किया तथा यह इच्छा की कि ये प्रजा की सृष्टि करेंगे-

प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।। प्रश्नोपनिषद् १।४।।

प्रजापति ने प्रजा की उत्पत्ति की इच्छा से सबसे आदि में तपस्या की तथा तपस्या द्वारा रयि व प्राण संज्ञक एक युगल को उत्पन्न किया । अतः ये प्रश्न उठता है कि ये रयि व प्राण कौन है। तब प्रश्नोपनिषद् में इसका उत्तर देते हुए कहा है-

आदित्य ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत् सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः।।

इस आदि प्राण युगल में से प्राण, आदित्य है और रयि चन्द्रमा है सभी मूर्त्त व अमूर्त रयि स्वरूप है। यह प्राणात्मक आदित्य प्राणियों के नेत्र का विषय होकर अपने प्रकाश से पूर्व दिशा में प्रवेश करता है। उसे अपने तेज से व्याप्त करता है उसके द्वारा अपनी व्याप्ति से वह उस में सम्पूर्ण अन्तर्भूत प्राच्य प्राणों को अपने अवभास रूप और सर्वत्र व्याप्त किरणों में व्याप्त होने के कारण वह सम्पूर्ण प्राणियों को धारण करता यानी अपने में प्रविष्ट कर लेता है। इस प्रकार व सभी दिशाओं व कोणस्थ अवान्तर दिशाओं में स्थित प्राणों का अपनी किरणों में धारण कर लेता है। सूर्य व प्राण समान है यद्यपि स्थान भेद के कारण प्राण और आदित्य भिन्न से दिखायी देते हैं, तथापि वह उनका तात्विक भेद नहीं है। प्राण व सूर्य की समानता को छान्दोग्योपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है-

समान उ एवायं चासौ चोष्णोऽयमुष्णोऽसौ स्वर इतीममाचक्षते स्वर इति प्रत्यास्वर इत्यमुं तस्माद्वा एतमिममुं चोद्गीथमुपासीत्।।

इस मन्त्र द्वारा समान गुण धर्म के आधार पर सूर्य व प्राण की समानता सिद्ध करते हुये कहा है कि यह प्राण उष्ण है तथा वह सूर्य भी उष्ण है। इस प्राण को 'स्वर' कहा गया है तथा उस सूर्य को भी स्वर कहा गया है। अतः गुणदृष्टि से प्राण सूर्य के सदृश है। क्योंकि दोनों उष्ण हैं व स्वर नाम से अभिहित हैं। और इनके द्वारा उस उद्गीथ की उपासना की जा सकती

है। पुनः ११ प्रकार के जिन स्तोभाक्षरों का प्रयोग सामगान में किया गया है उनमें 'स्वर' अक्षर प्राण है यह एक स्तोभ है तथा स्वर का कारण होने से उसे प्राण की सदृशता है।

सूर्य व प्राणों की समानता दर्शाने वाला एक मन्त्र प्रश्नोपनिष्द् में भी दिया गया है जिसमें सृष्टि प्रक्रिया प्राण को प्रथम बताया गया है। यद्यपि प्रजापति ने सबसे प्रथम रयि व प्राण संज्ञक युगल को जिसमें आदित्य ही प्राण है उत्पन्न किया । मन्त्र इस प्रकार है–

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः।

उस पुरुष ने प्राण को रचा अर्थात् उपर्युक्त प्रकार से ईक्षणकार हिरण्यगर्भसंज्ञक समष्टि प्राण को तदुपरान्त सम्पूर्ण प्राणियो की हेतुभूता श्रद्धा की रचना की और उससे कर्मफलभोग के साधन शरीर के अधिष्ठान अर्थात् कारणस्वरूप महाभूतों की सृष्टि की। सबसे प्रथम शब्दगुणविशिष्ट आकाश को रचा, फिर निजगुण स्पर्श और शब्दगुण से युक्त होने के कारण दो गुणवाले वायु को, तदनन्तर स्वकीय गुण रूप और पहले दो गुण रस के सहित पूर्वगणों के अनुप्रवेश से पाँच गुण वाली पृथिवी को रचा। इसी प्रकार विषयों के ज्ञान और कर्म के लिये उन भूतों से ही आरब्ध दश संस्थावाले दो प्रकार के इन्द्रियग्राम की तथा उसके स्वामी सङ्कल्प विकल्पादिरूप अन्तःस्थित मन की रचना की। इस प्रकार प्राणियों के कार्य और करणों अर्थात् इन्द्रियों की रचना कर उनकी स्थिति के लिये उसने अन्न उत्पन्न किया फिर उस खाये हुए अन्न से सब प्रकार के कर्मों की प्रवृत्ति का साधनभूत वीर्य सामर्थ्य यानी फल उत्पन्न किया। तदनन्तर वर्ण सङ्करता को प्राप्त होते हुए उन वीर्यवान् प्राणियों की शुद्धि के साधनभूत तप की रचना की । फिर जिनके बाह्य और अन्तः करणों की तप से शुद्धि हो गयी है उन प्राणियों के लिये कर्म के साधनभूत ऋक्, साम, यजुः और अथर्वांगिरस मन्त्रों की रचना की और तत्पश्चात् अग्निहोत्रादि कर्म तथा कर्मों के फलस्वरूप लोक निर्माण किये। फिर इस प्रकार रचे हुए उन लोकों में प्राणियो के देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम बनाये।

पं. मधुसूदन ओझा जी की दृष्टि में ऋषि व प्राण का स्वरूप

जैसा कि पूर्व में वर्णन किया कि सृष्टि के आदि रचयिता ऋषि प्राण स्वरूप हैं, जिनका प्रत्यक्ष लौकिक इन्द्रियों से सम्भव नहीं है। भृगु, अङ्गिरा, अत्रि, वसिष्ठ, अगस्त्य आदि ऋषि प्राण हैं, जो कि अङ्गिरा के पुत्र हैं, वेदों के आचार्य हैं तथा विविधरूपा हैं। ये अग्नि से प्रकट हुये हैं स्वयम्भू जो प्राणमय हैं, उससे परमेष्ठी मण्डल की उत्पत्ति हुई है। यह परमेष्ठी, प्राण, आप, वाक्, अन्नाद व अन्न इन पाँच अवयवों से युक्त हैं। यह परमेष्ठी मण्डल ही गोलोक है तथा भगवान् श्री कृष्ण इसके ही अवतार हैं तथा इसी लोक में ही गोसव यज्ञ होता है। ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र–अग्नि–सोम ये पाँच अक्षर हैं। प्रत्येक अक्षर से पृथक्–पृथक् एक–एक पिण्ड का निर्माण होता है। ब्रह्मा से स्वयम्भू, विष्णु से परमेष्ठी, इन्द्र से सूर्य, सोम से चन्द्रमा एवं अग्नि से पृथिवी लोक का निर्माण होता है। इन्हीं अक्षरों

से पृथक्- पृथक् विकार भी उत्पन्न होते हैं। ब्रह्मा से प्राण, विष्णु से आपः, इन्द्र से वाक्, सोम से अन्न, अग्नि से अन्नाद स्वयम्भू प्राणमय, परमेष्ठी आपोमय, सूर्य वाङ्मय, चन्द्रमा सोममय, पृथिवी अन्नादमयी है। प्राण- आपः-वाक्-अन्नाद-अन्न इन पाँचों की उत्पत्ति होते ही परस्पर मिल जाते हैं, तथा प्रत्येक पिण्ड में विद्यमान हैं। सर्वप्रथम प्राणमय परम प्रजापति सत्यस्वरूप स्वयम्भू पिण्ड से ही प्रथमजन्म परमेष्ठी पिण्ड का होता है। इस आपोमय पिण्ड में प्राण-आप-वाक्-अन्न व अन्नाद विद्यमान है। परमेष्ठी का प्राण 'आप्यप्राण' संज्ञित है। स्वयम्भूपिण्ड में उत्पन्न ब्रह्मनिःश्वसित वेद जब परमेष्ठिमण्डल में आता है तो वह यहाँ आकर शान्त हो जाता है, अतः इसे ब्रह्मस्वेद वेद कहा जाता है यह ब्रह्मस्वेद वेद ही भृगु, अङ्गिरा व अत्रि नामक तीन प्राणों की योनि है

ये दोनों ही प्राण स्वरूप है। केन्द्र से ऊपर की ओर जाने वाला प्राण पारमेष्ठ्य प्राण अङ्गिरा है एवम् ऊपर से केन्द्र की ओर आता हुआ पारपेष्ठ्य प्राण भृगु प्राण कहलाता है। ये दोनो सूर्य में आहुत होते हैं भृगु से सोम तथा अङ्गिरा से आदित्य इन दोनों का मेल जब सूर्य में होता है तो च्यवन नामक प्राण प्रकट होता है यह च्यवन प्राण ही दाहक है तथा जल में द्रवता का कारक भी च्यवन नामक प्राण ही है। अतः ये प्राण अनेक प्रकार के हैं इनका समूह पुरुष कहलाता है। विभिन्न प्राणों के समूह को देव शब्द से संज्ञित किया जाता है तथा एक जातीय प्राण समुदाय ऋषि कहलाता है। इस प्रकार प्राण समूहों का एक समेकित पुरुष ही देव अथवा ऋषि कहलाता है। तथापि देव प्राण व ऋषि प्राण में भिन्नता स्पष्ट है। यथा एक ही स्वर्ण से बने विभिन्न अलङ्कार आकृति व उपयोगिता के आधार पर भिन्न हैं। ठीक उसी प्रकार एक ही प्राण जो कि अनेक संख्यक हैं का इनके पारस्परिक समूह हैं ये समूह दो प्रकार के हैं एक सजातीय प्राणों का समुदाय द्वितीय विजातीय प्राणों का समुदाय। सजातीय प्राणों का समुदाय जो कि पुरुष है ऋषि पुरुष प्राण है तथा विजातीय प्राणों का समुदाय देव पुरुष प्राण कहलाता है। अतः एक ही प्राण के विभिन्न संख्यक समूहों के दो प्रकार है, जो परस्पर समान होत हुए भी भिन्न है।

उपनिषदों में आश्रम-धर्म

डॉ. नितेश व्यास
व्याख्याता, संस्कृत महिला पी.जी.
महाविद्यालय, जोधपुर

उपनिषद् अध्यात्मविद्या या ब्रह्मविद्या का अपर नाम है। वेद का अन्तिम भाग होने के कारण इसे वेदान्त भी कहा जाता है। यह भारतीय संस्कृति का चिरप्रदीप्त वह ज्ञान-दीपक है, जो कि सृष्टि के आदि से प्रकाश देता आ रहा है तथा लयपर्यन्त सदैव प्रकाशित रहेगा। इसके प्रकाश में वह अमरत्व है जिसने सनातन संस्कृति की जड़ का सम्मुख विश्व का प्रत्येक स्वाभिमानी सभ्य राष्ट्र श्रद्धावनत रहा है। अपौरुषेय वेद का अन्तिम अध्यायरूप उपनिषद् ज्ञान का आदि स्रोत तथा विद्या का अक्षय भण्डार है।

आदिकाल से ही भारत में साधनचतुष्टय सम्पन्न जिज्ञासु श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा औपनिषदिक तत्त्व को प्राप्त करते हुए गुरूपदिष्ट ध्यानादि के अभ्यास के द्वारा निदिध्यासनपूर्वक 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वाक्यों का निरन्तर विचार करते हुए सम्यक् तत्त्व ज्ञान-विज्ञान स्वरूप परमसत्ता में प्रवेश करके तद्रूप हो जाता है। जैसा कि कहा गया है 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

यह सनातन ज्ञान परम्परा भारत में आदिकाल से ही चली आ रही है। इसी परम्परा का अनुगमन करता हुआ भारतीय समाज आर्षप्रज्ञा सम्पन्न ऋषियों-महर्षियों की आनन्दमयी क्रीडास्थली बन गया, जो कि उपनिषद् को आत्मसात् कर परमसत्ता से योग तथा तदनुकूल आचरण से इहलोक से क्षेम की सिद्धि कर स्वयं को कृतकृत्य हो गया है।

औपनिषद ज्ञान मीमांसा का परिशीलन करने से विदित होता है कि ब्रह्म रूप में केवल ब्रह्मात्मैक्य, 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' आदि तात्त्विक उपदेशों का आकर होते हुए भी उपनिषद् में पदे-पदे ऐसे अनेक सामाजिक एवं नैतिक मूल्य उपबृंहित हैं जो कि वर्णाश्रम धर्म को न्यूनाधिक्य रूप से प्रकाशित करते हैं। आश्रमव्यवस्थानुकूल जिन शास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन धर्मशास्त्रों तथा सूत्रग्रन्थों में किया गया, उनके प्रतिपादन में उपनिषद् भी पीछे नहीं रहे। जैसा कि कहा गया है कि शास्त्र कभी भी लोक का अतिक्रमण नहीं करते, इसी के अनुकूल उपनिषद्कालीन ऋषियों ने जहाँ अपनी प्रामाणिक युक्तियों से ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता तथा सर्वव्यापकता को प्रतिपादित किया वैसे ही पदे-पदे

आश्रम धर्मों का उपदेश कर एक श्रेष्ठ समाज के निर्माण में अपनी ज्ञानात्मक आहुति दी। प्रमुख उपनिषदों के परिशीलन से हमें ज्ञात होता है कि ऋषियों ने पुनरावृत्ति न्याय से बारम्बार सदुपदेश किया है, जिससे श्रेष्ठ समाज का निर्माण हो सके, क्योंकि संस्कृत समाज की आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। जब समाज में श्रेष्ठ संस्काररूपी सद्बीजों का रोपण ही नहीं होगा तो आत्मज्ञान रूप फल का उदय तो सर्वथा असम्भव है। इस लेख में 'उपनिषदों में आश्रम धर्म' विषय पर किञ्चित् दृष्टिपात करने का प्रयास किया गया है, जिसके अन्तर्गत ईश, कठ, केन, मुण्डक, तैतिरीय, ऐतरेयादि उपनिषदों में आश्रमधर्म से सम्बन्धित तथ्य सङ्कलन का अध्यास किया गया है।

ब्रह्मचर्य आश्रम

श्रुत्यनुसार इस आश्रम का आरम्भ उपनयन संस्कार के अनन्तर माना गया है। आचार्य के द्वारा उपनीत शिष्य को गुरु-आश्रम में रहकर अध्ययन करना पड़ता था। अध्ययनकाल में उसे निर्धारित आचार-संहिता का पालन करना होता था। इसका उद्देश्य यही होता था कि शिष्य को भी ज्ञान व उपासना से उपलब्ध होने वाले यश एवं ब्रह्मतेज की प्राप्ति हो। तैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चसंहिताओं के वर्णनावसर पर आचार्य ने जिसके अन्तर्गत तृतीय स्तर पर अथवा मध्यम में विद्या संहिता का उपदेश किया है। गुरु-शिष्य के पारस्परिक समन्वय से उत्पन्न ब्रह्मज्ञान को उपलक्षण के माध्यम से समझाया गया है।

संहिता का अर्थ है सन्धि। जिस प्रकार सन्धि प्रक्रिया में एक पूर्व वर्ण होता है तथा एक परवर्ण। वैसे ही विद्या संहिता में गुरु पूर्ववर्ण है तथा शिष्य उत्तरवर्ण। जिस प्रकार सन्धिकार्य करने पर दो वर्णों के योग से तीसरा नया वर्ण बन जाता है। वैसे ही गुरु-शिष्य सम्बन्ध के अनन्तर उत्पन्न होने वाली विद्या या ज्ञान की यहाँ सन्धि है। इस विद्या रूप के प्रकट होने का कारण है गुरु द्वारा निर्दिष्ट उपदेश तथा शिष्य द्वारा उसे ग्रहण कर आचरण में उतारना। यही सन्धान कहा जाता है।

अथाधिविद्यम्। आचार्यः पूर्वरूपम्। अन्तेवास्युत्तररूपम्। विद्या सन्धिः। प्रवचन ँ संधनम्। इत्यधिविद्यम्।[1]

जिस प्रकार शिष्य आचार-संहिता का पालन करता हुआ गुरु से अपने ऐहिकामुष्मिक साधनों की पूर्ति हेतु ज्ञान प्राप्त करता था, गुरु भी शिष्य को उसी स्नेह के साथ पुत्र समझकर विद्यादान किया करते थे। 'तैत्तिरीयोपनिषद् के चतुर्थ अनुवाक् में आचार्य की कामनाओं को व्यक्त किया गया है। आचार्य अग्नि में आहुति देते समय जिन मन्त्रों का उच्चारण करता था वे श्रेष्ठ ब्रह्मचारी को शिष्यरस में प्राप्त करने की भावना से ओतप्रोत थे। आचार्य की अभिलाषा रहती थी कि मेरे पास उत्तम ब्रह्मचारी उत्तम ज्ञान को ग्रहण

१ तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, तृतीय अनुवाक

करने वाले हों। मेरे ब्रह्मचारी कपटशून्य हों, ब्रह्मचारी उत्तम ज्ञान को ग्रहण करने वाले हों। वे इन्द्रियों का दमन करने वाले हों। इस प्रकार आचार्य स्वाहापूर्वक पाँच मन्त्रों की आहुति अग्नि में प्रदान किया करता था।

आ मायान्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। विमायान्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। प्रमायान्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। दमायान्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा। शमायान्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा।[२]

तैत्तिरीयोपनिषद् का नवम अनुवाक् मानो आचार्य एवं शिष्य दोनों के लिए ही अवश्यकर्त्तव्योपदेश था। चूँकि अध्ययन का अध्यापन दोनों ही बहुत उपयोगी है। शास्त्राध्ययन से ही मनुष्य को कर्त्तव्याकर्त्तव्यरूप कर्मों तथा तत्फलों का ज्ञान होता है। अतः उसे करते हुए यथायोग्य सदाचार का पालन, सत्य-भाषण, स्वकर्त्तव्यपालन में कष्टों को सहना, इन्द्रियों को वश में रखना, अग्निहोत्र हेतु यज्ञाग्नि को प्रदीप्त रखना आदि। इन सभी सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हुए इनकी पुष्टि हेतु ऋषियों के प्रमाण भी वहाँ उपलब्ध होते हैं। यथा पुरुशिष्ट पुत्र तपोनित्य नामक ऋषि का कहना है कि तपश्चर्या ही सर्वश्रेष्ठ है। मुद्गल के पुत्र नाक ऋषि की सम्मति भी उपनिषद् में प्रस्तुत की गई है।

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्य स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्याय प्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राधीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः। स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः।।[३]

गृहस्थ आश्रम

जब शिष्य का वैदिक ज्ञान पूर्ण हो जाता है अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम की अवधि समाप्त हो जाती है, तब उसका समावर्तन संस्कार किया जाता था अर्थात् वह अपने कुल गोत्र के अनुकूल कन्या से पाणिग्रहण करेगा लेकिन यहाँ गुरु अन्तेवासी शिष्य को उपदेश, समावर्तन से पूर्व गृहस्थ जीवन व आगे की जीवन यात्रा हेतु दिया करता था। यदि आज उस उपदेश का स्मरण कर गृहस्थ में प्रवेश किया जाए तो हम पायेंगे कि अनेक सामाजिक समस्याओं का उन्मूलन इससे हो सकता है। ऐसी भारतीय गुरु-शिष्य परम्परा को शत-शत नमन है, जहाँ गुरु, पिता का दायित्व भी आश्रम में रहते हुए ही पूर्ण कर देता था अर्थात् जो लौकिक उपदेश या शिक्षा एक संस्कारित पिता विवाह से पूर्व अपने पुत्र को देता है, आचार्यगण पहले ही उसे वह सारा आदेश अनायास ही प्रदान कर देते थे।

---

२ तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, चतुर्थ अनुवाक्
३ तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, नवम् अनुवाक्

सत्य से ही धर्म की प्रतिष्ठा होती है अतः हमारे आचार्यों का उपदेश 'सत्यं वद' सूत्र से ही सर्वत्र परवर्तित होता है। आचर्य जानते थे कि यदि इस सत्य की स्थापना शिष्य के हृदय में एक बार हो गई तो अन्य अल्प आयासों से ही उसे अनुशासित किया जा सकता है। अतः वेद का भलीभाँति अध्ययन कराकर समावर्तन संस्कार के समय आचार्य शिष्य से कहता है—हे पुत्र! तुम सदा सत्य का आचरण करना, आपत्तिकाल में भी असत्यभषण कदापि न करना, अपने वर्णाश्रम के अनुकूल शास्त्र सम्मत धर्म को अनुष्ठान करना, वेदाध्ययन, सन्ध्यावन्दन, भगन्नामकीर्तनादि नित्य कर्मों से कभी प्रमाद न करना अर्थात् न तो इसनका अनादर करना एवं न ही आलस्यवश इन्हें त्यागना, गुरु के लिए दक्षिणा के रूप में उनका प्रिय धन लाकर देना तथा उन्हीं की आज्ञा से गृहस्थ में प्रवेश कर स्वधर्म पालन करते हुए सन्तान परम्परा को सुरक्षित रखना—

वेदमनूच्यानाचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्म चर। स्वाध्यायान्माप्रमद। आचार्याय प्रियं धनामातृत्य प्रजातन्तुं मा व्यच्छेत्सी। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्त प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्।[४]

इस प्रकार हमारे आचार्य एक श्रेष्ठ पिता की भाँति पदे-पदे शिष्य का हाथ पकड़कर उसे सन्मार्ग पर प्रवर्तित करते दृष्टिगोचर होते हैं।

यह सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का निवास स्थान है तथा इसके कण-कण में उसकी सत्ता है। अतः एक सद्गृहस्थ का कर्तव्य है कि वह सदा ईश्वर का स्मरण करते हुए त्यागभावना से केवल कर्तव्य पालन के लिए ही विषयों का यथाविधि उपभोग करना चाहिए। विश्वरूप ईश्वर की पूजा के लिए ही सभी कर्मानुष्ठान हो, यही शिक्षा हमें ईश-श्रुति देती है—

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित् जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीया मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।।[५]

गृहस्थाश्रम चतुर्विध पुरुषार्थसिद्धि का सुगम सोपान है। इस दृष्टि से हमारे ऋषियों ने उसके लिए नित्यनैमितिकादि कर्मों का यथाविधि उपदेश भी उपनिषदों में किया है। श्रुति कहती है 'अग्निहोत्र यजेत् स्वर्गकामः।' अतः एक सद्गृहस्थ का प्रथम कर्म अग्निहोत्र बतलाया गया है। अग्निहोत्र की दीक्षा भी विवाह कर्म के साथ ही ग्रहण की जाती थी। अतः अधिकारी मनुष्य को नित्य प्रति अग्निहोत्र करना चाहिए। यजमान को चाहिये कि वह प्रथमतः अग्नि को भलीभाँति प्रज्जवलित कर आज्य भाग को छोड़ मध्य भाग में आहुति प्रदान करें। इसके अतिरिक्त उसे दर्शपौर्णमास यज्ञ, चातुर्मास्य यज्ञ, नवीन यज्ञ की इष्टी रूप आग्रायण यज्ञ, अतिथि सत्कार, बलिवैश्वदेव आदि कर्म अवश्य करने

४ तैत्तिरीयोपनिषद् शिक्षावल्ली, एकादशोऽनुवाक्
५ ईशावास्योपनिषद् मन्त्र १

चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो उस अग्निहोत्र करने वाले मनुष्य के सातों लोकों को वह अङ्गहीन अग्निहोत्र नष्ट देता है—

यस्याग्निहोत्रमर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्ययमनागुयणअतिथिवर्जितं च।
अहुतमहौश्वेदमधिविना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति।।[६]

उपनिषद् का आदेश है कि सद्गृहस्थ को सन्तान परम्परा की वृद्धि करनी चाहिए। श्रेष्ठ सन्तान की उत्पत्ति हेतु अन्नरूप प्रजापति की स्तुति हमें उपनिषदों में मिलती है। प्राणियों का आहार रूप अन्न की प्रजापति है, इसी से वीर्य उत्पन्न होता है और वीर्य से ही समस्त चराचर प्राणी उत्पन्न होते हैं, जो लोग सन्तानोत्पत्ति प्रजापति के व्रत का अनुष्ठान करते हैं तथा शास्त्रविहित शुभ कर्मों का आचरण करते हुए नियमतः स्त्रीप्रसङ्गादि करते हैं वे पुत्र एवं कन्यारूप जोड़े को उत्पन्न करके प्रजा की वृद्धि करते हैं।

अन्नं वे प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्यादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति। तद्ये ह वै तत्प्रजापतिश्तं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते। वेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यः येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।।[७]

अतिथि सत्कार भी गृहस्थ का प्रमुख कर्तव्य है। आतिथ्य परम्परा के निर्वाह हेतु अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाले ऋषियों, राजाओं तथा श्रेष्ठजनों के उद्धरण उपनिषदों में यत्र-तत्र देखे जा सकते हैं। पञ्चमहायज्ञों में इसे नृयज्ञ की संज्ञा भी दी गई है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण हमें कठोपनिषद् में देखने को मिलता है, जहाँ यमराज अपने घर पर आये अतिथि ब्राह्मण नचिकेता द्वारा की गई प्रतीक्षा के अनन्तर उसे तीन वरदान देने को कृतसङ्कल्पित दिखाई देते हैं, वहाँ वे आतिथ्य परम्परा एवं अतिथि की महिमा बताते हुए गृहागत अतिथि को वैश्वानर अग्नि रूप से सम्बोधित करते हैं—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैता शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्।।[८]

तैत्तिरीय उपनिषद् की भृगु वल्ली के दशम अनुवाक् में भी अतिथि सेवा की महत्ता तथा अतिथि सेवा के लिये वस्तुओं का अधिक मात्रा में संग्रह करने का निर्देश है क्योंकि अतिथि सेवा गृहसीचित सदाचार का अत्यावश्यक अङ्ग है। वहाँ स्पष्ट निर्देश है कि गृहागत अतिथि के साथ मनसा वाचा कर्मणा शिष्ट व्यवहार करना चाहिए—

न कञ्चन वसतौ प्रत्याचसीत। तद् श्रवम्। तस्याद्यमा कया च सिधया बद्धन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यास्मा अन्नमित्याचक्षेभितेति।[९]

---

६ मुण्डकोपनिषद्, प्रथम मुण्डक, द्वितीय खण्ड, मन्त्र क्र. ३
७ प्रश्नोपनिषद्, प्रथम प्रश्न, मन्त्र १४, १५
८ कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय, प्रथमवल्ली, मन्त्र ७
९ तैत्तिरीयोपनिषद्, भृगुवल्ली, दशमोऽनुवाक

उपनिषद् का ऋषि चाहे ब्रह्मचर्य में हो, गृहस्थ में अथवा संन्यास में उसका लक्ष्य तो परम तत्त्व की उपलब्धि ही रहता है तभी वह गृहस्थ के सारे सुख-भोगों को क्षणिक जान अनायास ही उनका निराकरण कर देता है। इसका श्रेष्ठतम उदाहरण हमें बृहदारण्यक श्रुति में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में देखने को मिलता है। याज्ञवल्क्य गृहस्योपरान्त सन्यास आश्रम में जाने हेतु अपनी पत्नियों, मैत्रेयी व कात्यायनी में अपनी सम्पत्ति का विभाग करना चाहते हैं। प्रथमतः वह मैत्रेयी को बुलाकर उसके समय यह प्रस्ताव रखते है तो मैत्रेयी युक्तिपूर्वक निराकरण करते हुए यह कहती है कि यदि धन से सम्पन्न वह सम्पूर्ण पृथिवी मेरी हो जाए तो क्या मैं अमर बन सकती हूँ। यदि नहीं, तो मुझे इनकी कोई आवश्यकता नहीं है। स्त्रैण धर्म का उत्तम आदर्श यहाँ दृष्टिगोचर होता है। तब उसकी जिज्ञासा के उपशमनार्थ याज्ञवल्क्य उपदेश देते हैं कि हे मैत्रेयी! इस संसार में प्रयोजन हेतु स्त्री प्रिय नहीं होती स्वयं के प्रयोजन हेतु ही स्त्री प्रिय होती है यथा स्त्री प्रयोजन हेतु स्त्री प्रिय नहीं होती स्वयं के प्रयोजन हेतु ही स्त्री प्रिय होती है, पुत्र के प्रयोजनार्थ पुत्र प्रिय नहीं होता अपितु स्वयं के लिए ही पुत्र प्रिय होता है। इस प्रकार धन-सम्पदा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक देवता, सभी प्राणी उनके प्रयोजन के लिए मनुष्य को प्रिय न होकर स्वयं के प्रयोजन हेतु ही प्रिय होते हैं। अतः यह आत्मा अपने आप ही दर्शनीय, श्रवणीय, माननीय तथा निदिध्यासनीय है।

इस प्रकार गृहस्थ में रहते हुए भी यथावश्यकता भोगों का उपभोग करना तथा उनके अधीन स्वयं को न होने देना ऋषि का सन्देश है क्योंकि भारतीय आर्य प्रज्ञा, अपने स्थानों में आत्मा को ही देखती है। अतः किसी भी अवस्था में अथवा देशकालादि में उस परम सत्ता का अभाव नहीं देखा जाता।

वानप्रस्थ आश्रम

भारतीय आर्ष जीवन पद्धति में जीवन जीने के जिन क्रमिक सोपानों का वर्णन किया गया है उसमें जीवन का तृतीय पड़ाव वानप्रस्थ आश्रम संज्ञक है। जैसा कि नाम से ही विदित है यह अवस्था में गृहस्थ कर्तव्य का पालन करते हुए जीवन व्यतीत करने के उपरान्त विषय सुखों से पराङ्मुख मति हो जाने तथा विषयों की निःसारता का ज्ञान हो जाने के उपरान्त सद्गृहस्थ को चाहिये कि वह परिवार का दायित्व पुत्र को सौंपकर, सम्पूर्ण सांसारिक प्रपञ्चों का परित्याग कर सपत्निक अथवा एकाकी ही वनगमन करे।

उपनिषद् का आदेश है कि वानप्रस्थ जीवन में इन्द्रियों को भोगों के राज से विरत करते हुए त्यागमय जीवन की साधना करनी चाहिए। संन्यास आश्रम की पात्रता पूर्ण वैराग्य को माना गया है तथा उसके सिद्ध करने हेतु ही वानप्रस्थ जीवन का उपदेश किया गया है। वानप्रस्थी होने का तात्पर्य संसार का त्याग नहीं है, ऋषि का स्पष्ट निर्देश है कि

वानप्रस्थी को अपने अनुभवों का लाभ समाज एवं राष्ट्र को प्रदान करना चाहिए। फलतः वानप्रस्थ आश्रम का मङ्गल आदेश वाक्य ही यही है **राष्ट्र देवो भव**। राष्ट्र की सेवा ही ब्रह्म सेवा है।

वानप्रस्थाश्रम फल किया जाए इसको प्रमाणित करते हुए श्रुति कहती है कि गृहस्थ जब अपनी देह की त्वचा को शिथिल जाने, केशों में श्वेतता हो, उसके पौत्र उत्पन्न हो गए हो। इस अवस्था में उसे विषय भोगों से उपरत होकर वनगमन कर लेना चाहिए। वनवासी होते हुए उसे कन्दमूल, फलादि अथवा भिक्षा से जीवन निर्वाह करना चाहिए। मृर्गचर्मादि धारण करे, शास्त्रोक पञ्चमहायज्ञों का नियमतः सम्पादन करे, त्रिकाल सध्योपसनादि नित्यकर्म करता हुआ जीवन व्यतीत करे। इस विषय में मनुस्मृति भी प्रमाणित करती है कि—

गृहस्थस्तु यथा पश्येद्बलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।।[१०]

उपनिषदों के अतिरिक्त धर्म सूत्रों में भी वानप्रस्थ आश्रम का विस्तार से विवेचन मिलता है। वानप्रस्थी हेतु नियमों का उल्लेख करते हुए आपस्तम्ब धर्मसूत्र में कहा गया है—

तस्योपदिशन्त्येकाग्निकेतस्स्यादशमोऽशरणो मुनिः स्वाध्याय एवोत्सृजमानो वाचम्।[११]

अर्थात् वानप्रस्थी के दिए निर्देश हैं कि वह एक अग्नि प्रज्ज्वलित करे, घर त्याग दे, सुखों का त्याग करे, स्वतन्त्र रहे, मौन धारण करे, केवल दैनिक स्वाध्याय के लिए ही उसे बोलना चाहिए। इसी तथ्य को बोधायन धर्मसूत्र में अन्य प्रकार से प्रतिपादित किया गया है—

वानप्रस्थे वैखानसशास्त्र समुदाचारो, वैखानसो वने मूलफलाशी तपश्शीलस्सवनेषूदकमनुस्पृशन् श्रामणकेनाऽग्निमुपसमाधायेति।।[१२]

वानप्रस्थी हेतु आवश्यक है कि वह साधना द्वारा जीवन को तपोमय बनावे। उसे कन्दमूल, फल, पत्ते, तिनके आदि खाकर तथा श्रमण कर जीवन बिताना चाहिए। कुछ काल इस गिरे पत्ते, फलादि का सेवन करना चाहिए। वह कुछ दिन जल पर निर्भर रहे, कुछ दिन वायु का सेवन करे तथा कुछ दिन आकाश पर आश्रित रहे।

ततोऽऽपो वायुमाकाशमित्यभिनिश्रयेत्।[१३]

सामान्यतया गृहस्थोपरान्त वानप्रस्थ का विधान है। परन्तु कुछ धर्मशास्त्रकारों ने बिना गृहस्थाश्रम में प्रवेश किए ही ब्रहमचर्या से सीधे वानप्रस्थ में प्रवेश की बात भी कही है। इसके अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम में विधायन के अनन्तर यदि उसमें गृहस्थ के ग्रहण

---

१० मनुस्मृति ६.२
११ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२१।२०
१२ बोधायन धर्मसूत्र २।६।१६–१७
१३ आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।९।२२।४

करने की अभिलाषा नहीं है तथा ब्रह्म ज्ञान प्राप्ति हेतु ही वह अपना जीवन समर्पित करना चाहता है तो वह माता-पिता एवं गुरु की आज्ञा से सीधे वानप्रस्थ आश्रम को भी धारण कर सकता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वानप्रस्थ आश्रम का सारा उपक्रम संन्यास हेतु योग्य बनाने का ही एक यत्न है। सांसारिक भोगों को भोगने के उपरान्त पुनः अपने मूल लक्ष्य ब्राह्मात्मैक्य की अनुभूति एवं सिद्धि प्राप्ति का सोपान है। जिस प्रकार स्वर्ण की शुद्धता की परख अग्नि में तपाकर ही की जाती है। उसी प्रकार इस नर देह को उस परम लक्ष्य तक पहुँचाने हेतु तपस्या के मार्ग से निकलना पड़ता है। सांसारिक सुख-भोगों का सम्पूर्ण रूपेण परित्याग तथा जनकल्याण एवं आत्मोत्कर्ष रूप तप की साधना करके फिर संन्यास आश्रम में निदिध्यासन द्वारा वह ब्राह्मसायुज्य प्राप्त करता है।

संन्यास आश्रम

संन्यास आश्रम, आश्रम-व्यवस्था का चरम सोपान है। जब परिभाजक धर्म का पालन करता हुआ व्यक्ति विगत स्पृहा होता हुआ चित्रशुद्धि प्राप्त कर ले तथा आशा, ईर्ष्या, असूया, अहङ्कारादि क्षेत्रों को भस्म कर ले ऐसा साधनचतुष्ट्य सम्पन्न प्रमाता ही संन्यास ग्रहण कर अधिकारी होता है।

हमारे उपनिषदों में संन्यास आश्रम विषयक सम्पूर्ण नियमावली यत्र-तत्र उपलब्ध होती है। नारदपरिव्राजकोपनिषद् में ब्रह्माजी व नारदजी के संवाद रूप में संन्यास तत्त्व का विशद विवेचन मिलता है। वहाँ संन्यास ग्रहण का अधिकारी, सन्यासी हेतु नियमावली, कर्म-विभाजनादि का वर्णन मिलता है। संन्यास ग्रहण की विधि तथा उसके अधिकारी का निरूपण करते हुए कहा गया है कि जब परमतत्त्वरूप सनातन ब्रह्म का ज्ञान हो जाए, तब एक दण्ड धारण करके यज्ञोपवीत सहित शिखा को त्याग दे। जो परमात्मा में अनुरक्त एवं तदतिरिक्त वस्तुओं से विरत हो, जिसके मन से लोकैषणा, वित्तैषणा, पुजैषणा ये सभी सपुणाएँ निकल गई हैं। वही भिक्षाठाभोजन करने अर्थात् संन्यास लेने का अधिकारी है।

जैसे साधारण मनुष्य अपनी पूजा वन्दना होने पर प्रसन्न होता है वैसे ही प्रसन्न जब प्रताड़ित एवम् अपमानित होने पर भी हो, तभी वह भिक्षु होने का अधिकारी है। जिस पुरुष में शान्ति, शम, शौच, दम, सन्तोष, सत्य, सरलता कुछ भी संग्रह न करने का भाव तथा दम्भ का अभाव हो वह ही सन्यास आश्रम में प्रवेश करे।

दो कौपीन, एक कन्था तथा एक दण्ड इतनी ही वस्तुओं को परमहंस संन्यासी को ग्रहण करने का अधिकार है। यदि वह रागवश अधिक वस्तुओं का संग्रह करता है तब वह मरणोपरान्त रौरव नरक में जाकर पुनः पशु-पक्षी आदि योनि में जन्म लेता है। संन्यासी एक ही वस्त्र धारण करे अथवा दिगम्बर रहे। लोभ त्याग दे, सदा अकेले ही विचरण करे।

कुटुम्ब, स्त्री पुत्र, वेदाङ्गों के ग्रन्थ, यज्ञ और यज्ञोपवीत का त्याग करके संन्यासी को सर्वग गूढ़ भाव से विचरण करना चाहिए।

नारदपरिव्राजकोपनिषद् में इसके अतिरिक्त संन्यास के अनधिकारी का भी निरूपण किया गया है। नपुंसक, पतित, हीनाङ्ग, स्त्री के प्रति अधिक आसक्त, बहरा, बालक, गूंगा, पाखण्डी, चक्री, लिङ्गी वेतन लेकर अध्यापन करने वाला, अग्निहोत्र न करने वाला ये वैराग्यवान् होते हुए भी संन्यास के अधिकारी नहीं हैं।

कृष्ण यजुर्वेदीय कठरुद्रोपनिषद् में संन्यास ग्रहण की विधि का निर्देश करते हुए कहा गया है संन्यास ग्रहणकर्ता शिखासहित सूत्र का परित्याग कर पुत्र को देखते हुए यों कहे— 'तुम ब्रह्म हो, तुम यज्ञ हो, तुम वषट्कार हो, तुम औंकार हो, तुम स्वाहा हो, तुम स्वधा हो, तुम धाता, विधाता हो, तब पुत्र पुनः इन वाक्यों को दोहराए। संन्यासी होने के उपरान्त जब पत्नी-पुत्रादि पीछे-पीछे चले तो उन्हें देखकर अश्रुपात न करे। फिर सब लोग संन्यासी की प्रदक्षिणा करे तथा बिना इधर-उधर देखे घर लौट जाये। ऐसा संन्यासी देवलोक का अधिकारी होता है।

सामवेदीय आरुणिकोपनिषद् में ब्रह्माजी एवं आरुणि के संवाद रूप संन्यास आश्रम का विवेचन उपलब्ध होता है। संन्यासी को चाहिए कि अपने पुत्र, भाई, बन्धु आदि को शिक्षा, स्वाध्याय, यज्ञोपवीतादि को तथा भूलोक-भूवलोकि, स्वलोकि, महलोकि, जनलोक, तपलोक, सत्यलोक एवं अतल, वितल, सुतल, रसातल, तलातल, महातल तथा पाताल इस प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का त्याग कर दे।

सभी उपनिषदों की आवृत्ति करे, निश्चित ही ब्रह्म को सूचित करने वाला सूत्र मैं ही हूँ यह समझकर उपनीत का त्याग करे। इस प्रकार समझने वाला विद्वान् 'मया संन्यस्तम्' मया संन्यस्तम्, मया संन्यस्तम्'। इस प्रकार तीन बार कहकर-

अभयं सर्वभूतेभ्यो मतः सर्वं प्रवर्तते।
सखा मा गोपायौजः सखा योऽसीनुस्य व्रजोऽसि
वार्त्रघ्नः शर्म मे भव यत्पापं तन्निवारय।।

इस मन्त्र से अभिमन्त्रित बाँस का दण्ड एवं कौपीन धारण करे, औषधि की भाँति भोजन करे, जो कुछ मिल जाए वही खा ले। इस प्रकार ब्रह्माजी आरुणि से कहते हैं कि ब्रह्मचर्य, अहिंसा, अपरिग्रह तथा सत्य की यत्नपूर्वक रक्षा करो, रक्षा करो, रक्षा करो।

इस प्रकार संन्यास धर्म का नियमपूर्वक व्रताचरण करता हुआ संन्यासी, जो आकाश में तेजोमय सूर्यमण्डल की भाँति, परम व्योम में चिन्मय प्रकाश द्वारा सब ओर व्याप्त है, ऐसे भगवान् विष्णु के उस परम धाम को विद्वान् उपासक सदा ही देखता है। साधना में जाग्रत रहने वाला निष्काम उपासक ब्राह्मण वहाँ पहुँचकर उस परम धाम को ओर भी

उद्दीप्त किये रहते हैं, जिसे विष्णु का परस्पर करते हैं, जो निष्काम उपासक है ,वही इस परम फल का भागी है।

इस प्रकार औपनिषदिक चिन्तन से स्पष्ट होता है कि उपनिषद् केवल ब्रह्मविद्या के ही प्रतिपादक न होकर ऐहिकामुष्मिक उत्पत्ति के भी आधायक हैं। इनके मार्ग का अनुसरण कर मनुष्य संसार एवं मुक्ति दोनों प्राप्त कर सकता है। भोगासक्त मनुष्यों से जो सर्वथा भिन्न है, मनुष्य शरीर का महत्त्व समझ लेने के कारण जिनके अन्तःकरण में परमात्मा का तत्त्व जानने की और परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा जग उठी है वे चाहे वनवासी वानप्रस्थ हों, शान्त स्वभाव वाले विद्वान् सदाचारी गृहस्थ हों या भिक्षा से निर्वाह करने वाले निस्पृह ब्रह्मचारी अथवा संन्यासी हो वे तो निरन्तर तप एवं श्रद्धा का ही सेवन करते हैं अर्थात् अपने-अपने वर्णाश्रम तथा परिस्थितियों के अनुसार जिस समय जो कर्तव्य होता है उसका शास्त्राज्ञा के अनुसार बिना किसी प्रकार की कामना के पालन किया करते हैं एवं संयमपूर्वक दशदयाग्नि साधनों से सपन्न होकर परम श्रद्धा के साथ परमेश्वर को जानने के साधनों में लगे रहते हैं इसीलिए तम एवं रजोगुण के विकारों से सर्वथा शून्य निर्मल सत्वगुण में स्थित वे सज्जन सूर्यलोक में होते हुए वहाँ चले जाते हैं जहाँ उनके परम प्राप्य अमृत स्वरूप नित्य अभिवाशी परम पुरुष पुरुषोत्तम निवास करते हैं। जैसा कि मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है –

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः।
सूयद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।।

मुण्डकोपनिषद् द्वितीय खण्ड मन्त्र ११

जीवो न ब्रह्म इति वेदान्तसिद्धान्तः

डॉ. हरिनारायण तिवारी
उपाचार्यः, व्याकरण विभागः,
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थानम्,
जम्मू परिसरः

शुकरहस्योपनिषदि चत्वारि महावाक्यानि श्रूयन्ते। तानि च इमानि–१. 'ॐ प्रज्ञानं ब्रह्म'। २. 'ॐ अहं ब्रह्मास्मि'। ३. 'ॐ तत्त्वमसि'। ४. 'ॐ अयमात्मा ब्रह्म'। अत्र तृतीयं महावाक्यम् 'ॐ तत्त्वमसि' उपदेशवाक्यमस्ति। द्वितीयं च 'ॐ अहं ब्रह्मास्मि' इत्युनभवमहावाक्यमस्ति इति वदन्ति साम्प्रदायिकाः। 'ॐ अहं ब्रह्मास्मि' इति द्वितीयमहावाक्येन जीवब्रह्मणोरद्वैतं प्रतिपाद्यते।

तथैव मुण्डकोपनिषदि तृतीयमुण्डके—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

(मु.उ.३.२.१)

इति प्रथममन्त्रादारभ्य

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेत् भूतिकामः।

(मु.उ.३.२.१०)

इत्येतत्पर्यन्तं दशभिर्मन्त्रैः जीवब्रह्मणोर्द्वैतप्रतिपादका मन्त्राः सन्ति। एवं मुण्डकोपनिषदि तृतीयमुण्डके दशभिर्मन्त्रैर्जीवब्रह्मणोर्भेद उक्तोऽस्ति।

एवमेवात्रैव मुण्डके द्वितीयखण्डे—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।

(मु.उ.३.२.८)

इत्येतेन मन्त्रेणापि जीब्रह्मणोर्भेद एव उक्तोऽस्ति, नाऽभेदः। एवं श्रुतौ क्वचिदभेदः क्वचिच्च भेदः, इति श्रुत्वा नितरां संशय उत्पद्यते यदत्र कः सिद्धान्त इति?

अत्र विषये आधुनिकैः 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' इति कथितम्। जीवो ब्रह्म भवति न

वेत्यत्र वेदान्ता आलोडिताः। तत्र प्रथमाध्याये तृतीये पादे भगवान् बादरायणः त्रिचत्वारिंशता सूत्रैः जीवस्य ब्रह्मत्वं खण्डयति। तत्रादिमं सूत्रं **'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्'** (ब्र.सू.१.३.१) इति। एतेन **द्युभ्वाद्यायतनम्**=अर्थात् उपनिषत्सु स्वर्गस्य पृथिव्यादेश्च आधारः य उक्तः स परं ब्रह्म परमात्मा एवास्ति, यतो हि **स्वशब्दात्** = तत्र परमात्मबोध-कस्य आत्मशब्दस्य प्रयोगोऽस्ति। तथाच श्रुतिः —

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

(मु.उ. २.२.४)

अस्याः श्रुतेरयमर्थोऽस्ति **प्रणवः** = प्रणवपदवाच्यं परं ब्रह्म परमात्मा एव धनुः, 'असति बाधके सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति' इति न्यायादत्रार्थे 'एव' शब्दस्य प्रयोगः। अत्रैव ब्रह्मसूत्रेषु **ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्** = परमपुरुषः परमात्मा एव ईक्षतिक्रियायाः कर्म नान्यः, अतः स एव त्रिमात्रासम्पन्न ओङ्कारः प्रणवः, स एव ओमित्येतैरक्षरैश्चिन्तनीयः इत्यर्थक 'ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः' (ब्र.सू. १.३.१३) इति सूत्रेण उक्तं यत् प्रणवपदवाच्यं परं ब्रह्मैव, नान्य इति। एवंविधं प्रणवपदवाच्यं परं ब्रह्म परमात्मा एव धनुः, आत्मा हि बाणः, **ब्रह्म**= परमात्मा एव तल्लक्ष्यमुच्यते। **अप्रमत्तेन** = प्रमादरहितेन जनेन **वेद्धव्यम्** = प्राप्तव्यमस्ति **शरवत्**= बाणवत् **तन्मयः** = तस्माल्लँक्ष्ये परमात्मनि तन्मयो भवेत्। अत्र कश्चन जीवः मुमुक्षूणां तथा प्राप्तव्यो न भवतीत्येव सत्यम्।

एवमेवान्यत्रापि श्रुतौ—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।।

(मु.उ.२.२.५)

अस्याः श्रुतेरयमर्थः 'यस्मिन् स्वर्गं पृथिवी, उभयोरन्तरं यदन्तरिक्षं सर्वैः प्राणैः सह मनः ओतं= सूत्रेषु मणिरिव ग्रथितमस्ति तमेव एकमात्मानं जानथ, अन्या वाचः विमुञ्चथ, एषः अमृतस्य पन्थाः।

उपनिषत्सु स्वर्गस्य पृथिव्यादेश्च आधारः य उक्तः स जीवो भवितुं नार्हति।

एवमेव द्वितीये सूत्रे 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' (ब्र.सू. १.३.२) इत्येतेनापि सूत्रेण बादरायणो वदति यद् **मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्** = स सर्वाधारः परमात्मा मुक्तपुरुषाणां प्राप्तव्यो भवति। कश्चन विशिष्टोऽपि जीवः मुक्तपुरुषाणां प्राप्तव्यो न भवतीति लोके तथैव दृष्टम्। यदि कश्चन 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यनुभवेत् तथापि मुक्तात्मानः किं वा मुमुक्षवः तं भक्त्या अथवा मोक्षकामनया न भजन्ते, अपि तु परमात्मानमेव भजन्ते।

एवमेव तृतीयसूत्रे भगवान् बादरायणः 'नानुमानमतच्छब्दात्' (ब्र.सू. १.३.३) इत्येतेनापि जीवब्राह्मणोर्भेदमेव दर्शयति। अस्यार्थः अनुमानम्=अनुमानकल्पितं प्रधानं

न=द्युलोकस्य पृथिव्यादेश्च आधारो भवितुं नार्हतिः, यतो हि अस्मिन् प्रकरणे **अतच्छब्दात्** = तस्य प्रतिपादकः कश्चन शब्दो नास्ति।

एवमेव चतुर्थे सूत्रे भगवान् बादरायणः प्राणिनो जीवस्याऽपि सर्वाधारत्वं खण्डयन्नाह 'प्राणभृच्च' (ब्र.सू.१.३.४) इति। पूर्वस्मात् सूत्रादत्र 'न' इति पदमनुवर्त्तते। अस्यार्थः प्राणभृच्च = जीवोऽपि द्युलोकस्य पृथिव्यादेश्चाधारो भवितुं नार्हति। यतो हि अस्मिन् प्रकरणे तस्य वाचकः, कश्चन शब्दो नास्ति। अन्यत्र आत्मशब्दा जीवात्मस्य वाचकोऽपि अत्र प्रकरणे आत्मशब्दो जीवात्मवाचको नास्ति यतो हि अस्मिन् प्रकरणे मुण्डकोप-निषदि—

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपमृतं यद्विभाति।।

(मु.उ.२.२.७)

अस्या अर्थः— यतो हि अयं परमात्मा सर्वेषां प्राणानां शरीराणाञ्च नेता, **मनोमयः**= समेषां मनस्सु व्याप्यत्वाद् मनोमयः **हृदय सन्निधाय** = अन्नेव हृदयकमले आश्रितः **अन्ने**= अन्नमये स्थूलशरीरे प्रतिष्ठितोऽस्ति। यद् आनन्दरूपम् **अमृतम्** = अविनाशि परं ब्रह्म **विभाति** = सर्वत्र प्रकाशितं भवति, **धीराः** = बुद्धिमन्तो मनुष्या विज्ञानेन तत् परं ब्रह्म **परिपश्यन्ति** = प्रत्यक्षं कुर्वन्ति।

अस्य हेत्वन्तरं ददद् भगवान् बादरायणः पञ्चमे सूत्रे 'भेदव्यपदेशात्' (ब्र.सू. १.३.५) इत्याह। अस्यार्थः **भेदव्यपदेशात्** = अस्मिन् प्रकरणे जीवब्रह्मणोर्भेद उक्तोऽस्ति, अतः प्राणधारी जीवः सर्वस्याधारो भवितुं नार्हति। यतो हि अत्रैव मुण्डकोपनिषदि—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः।।

(मु.उ.२.२.५)

अस्या अर्थः— यस्मिन् परमात्मनि **द्यौः** =द्युलोकः पृथिवी एवम् **अन्तरिक्षम्**= पृथिवीस्वर्गयोर्मध्ये यो भागः, स च, सर्वैः प्राणैः सह मनः **ओतं**= ग्रथितमस्ति, तमेव **एकमात्मानं** = परमात्मानं जानथ, अन्या वाचो विमुञ्च, एषः अमृतस्य **सेतुः**= पन्थाः। एतेनापि ज्ञायते यद् जीवाद् भिन्नस्तस्य ज्ञाता परमात्माऽस्तीति।

अमुमेव विषयं प्रतिपादयन् भगवान् बादरायणः षष्ठं सूत्रमवतारयति— 'प्रकरणाद्' (ब्र.सू.१.३.६) इति। अस्यार्थ एवं भवति यद्—

अस्मिन् प्रकरणे सर्वत्र ब्रह्मप्रतिपादका एव मन्त्राः सन्ति, न कश्चन एवंविधो मन्त्रोऽस्ति यः प्रधानस्य जीवस्य वा द्युलोकस्य पृथिव्यादेश्चाधारं बोधयेत्। तत्र सर्वे मन्त्रा ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं बोधयन्तः जीवस्य कृते ब्रह्मणः प्राप्तव्यत्वं प्रतिपादयन्ति। तद्यथा—

प्रणवो धेनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्।।

(मु.उ.२.२.४)

एतेनापि ज्ञायते यद् ब्रह्मणः जीवात्मा भिन्न इति। जीवो ब्रह्म न भवतीति। जीवब्रह्मणोर्भेदं प्रतिपादयन् सप्तमं सूत्रं ब्रूते **'स्थित्यदनाभ्यां च'** (ब्र.सू. १.३.७) इति। अस्यार्थ एवं भवति—

स्थित्यदनाभ्याम्= एकस्य परमात्मनः शरीरे साक्षिरूपेण स्थितिः एवमस्य जीवस्य सुखदुःखप्रदस्य विषयस्य उपभोक्ता मन्त्रो वदति। एतेनापि ज्ञायते यज्जीवब्रह्मणोर्भेदोऽस्ति। तथ च श्रुतिः—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

(मु.उ. ३.२.१)

एवमेव उभयोर्भेदं प्रतिपादयन् भगवान् बादरायणः 'भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्' (ब्र.सू. १.३.८) इति वदति। अस्यार्थः **भूमा** = अस्मिन् प्रकरणे उक्तः भूमा = सर्वापेक्षया बृहद् ब्रह्मैवास्ति। यतो हि तस्य **सम्प्रसादाद्** = प्राणशब्दवाच्यजीवात्मनोऽपि **अधि**= बृहत्त्वम् **उपदेशात्** = कथितमस्ति। अत्र सूत्रे 'भूमा' इति शब्दः परमात्मनः कृते प्रयुक्तोऽस्ति।

अत्राष्टमे **'धर्मोपपत्तेश्च'** (ब्र.सू. १.३.९) इति सूत्रं वदति यद् **धर्मोपपत्तेः** = अस्मिन् प्रकरणे भूम्नो यो धर्म्म उक्तोऽस्ति स धर्म्मो ब्रह्मणि एवं सुसङ्गतो भवति न जीवेः अतोऽप्यत्र भूमा परमात्मा एवास्ति, न जीव इति। तद् यथा—

'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि' (छा.उ. ७.२४.१)

एवमेव दशमे मन्त्रे **'अक्षरमम्बरान्तधृतेः'** (ब्र.सू. १.३.१०)। अस्यार्थः **अक्षरम्**= अस्मिन् प्रकरणे अक्षरशब्दः परमात्मवचनोऽस्ति यतो हि **अम्बरान्तधृतेः** = आकाशपर्यन्तं सर्वस्य जगतः धारकत्वमुक्तमस्ति। यद् यथा—

'सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य! दिवा यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिन् तदोतं च प्रोतं चेति' (बृ.उ.३.८.६) इति मन्त्रे याज्ञवल्क्यमुद्दिश्य गार्गी जिज्ञासते एतदिति।

अत्रामुं प्रश्नं समादधातुकामो याज्ञवल्क्यो भासते यद्—

'एतद्वै तदक्षरं गार्गि! ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलम् अनण्वह्रस्वम् अदीर्घम् अलोहितम् अस्नेहम्...' इत्यादि (बृ.उ. ३.८.७)। अर्थात् हे गार्गि! तत्तत्त्वं ब्रह्मविदः 'अक्षरम्' इति वदन्ति। यन्न स्थूलं, न सूक्ष्मं, न ह्रस्वः, न बृहद्, न रक्तं, न पीतमित्यादि'। एवमनेन मन्त्रो स परमात्मा आकाशपर्यन्त सर्वस्य धारयिता उक्तोऽस्ति। अतोऽत्र अक्षरपदेन परब्रह्म परमात्मा एवोक्तोऽस्ति।

यदि कश्चित् कारणमेव कार्यं धारयति, इति मन्वानः, एवं वदेत् यत् प्रकृतेर्जगत्कारणत्वमस्ति। अतः प्रकृतिरेव आकाशपर्यन्तं सर्वं जगत् धारयतिः, अतः तस्य मते अक्षरशब्दः प्रकृतिवचनोऽस्ति। यस्य इयं शङ्का वर्तते, तां निराकुर्वन्नग्रिमे सूत्रे सर्वस्य प्रशासकत्वं प्रतिपादयन् भगवान् बादरायणो ब्रूते यत्— **'सा च प्रशासनात्'** (१.३.११)।

सा = आकाशपर्यन्तं सर्वस्य धारणरूपा या क्रिया भवति सा क्रिया परमेश्वरस्यैवास्ति। यतो हि **प्रशासनात्** = अक्षरं सर्वं शास्ति इत्येव श्रुतौ उक्तम्। तथा हि—

'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि! द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत...इत्यादि'। (बृ.उ. ३.८.९) अर्थात् अस्यैव प्रशासने सूर्यः चन्द्रश्च विधृतौ तिष्ठतः। एवं द्युलोकः पृथिवी निमेषः मुहूर्तम् अहोरात्रः इत्यादिनाम्ना ज्ञातव्यः कालः, एतत् सर्वं विशेषेण धारयति। एतस्यैव प्रशासने सर्वा नद्यः पर्वताद् निःसृताः प्रवहन्तीति। अत्यन्तं समर्थोऽपि जीवस्तथा कर्तुं न प्रभवतीति कृत्वा ब्रह्मणः जीवो भिन्न इति।

एवमेव द्वितीयाध्याये प्रथमे पादे भगवान् बादरायणः **'उपसंहारदर्शनादिति चेन्न क्षीरवद्धि'** (ब्र.सू. २.१.२४) इति सूत्रे ब्रह्मणः सर्वस्य कारणत्वं प्रतिपादयति। अस्यार्थः **चेत्** = यदि कश्चन एवं वदेच्चेत् **उपसंहारदर्शनात्** = लोके एवं दृश्यते यत् कर्ता घटादिकार्याणि निर्मातुकामः मृत्तिकादिसाधनसामग्री गृह्णाति। परन्तु ब्रह्मणः सविधे कश्चित् साधन सामग्री नास्ति अतः एव न = तद् ब्रह्म जगत्कारणं भवितुं नार्हतीति प्रश्ने उत्तरयति– **हि**= यतो हि **क्षीरवत्** = दुग्धमिव अन्यानि साधनानि नापेक्षते। अर्थात् यथा लोके एवं दृश्यते यत् कश्चित् कर्ता वस्त्रादीनि कार्याणि निर्मातुं तत्कारणं सूत्रादिकं गृह्णाति। साधनं विना कार्योत्पत्तिर्न दृश्यते। परं श्रुतौ परं ब्रह्म अद्वितीयं निराकारं निष्क्रियं च कथितमस्ति। तस्य सविधे किञ्चिदपि साधनं नास्ति, अतः तद् विचित्रमिदं जगद्रचयितुं कथं प्रभवतीति जिज्ञासायां क्षीरवत् तस्य कारणत्वमिति व्यासेन कथितम्। यथा क्षीरं साधनान्तरं विनैव दधिरूपेण परिणमते तथैव परमात्मापि स्वाभाविकशक्त्या जगद्रूपेण परिणमते। यथा वा लूता तन्तुनिर्माणे साधनान्तरं न संगृह्णाति, तथैव परमात्मापि विना साधनान्तरं जगद्रचयति। तथा च श्रुतिः—

परास्य शक्तिः विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवलक्रिया च।

(श्वेता ६.८)

अस्या अर्थः— तस्य परेश्वरस्य ज्ञानं बलं क्रिया च स्वाभाविकी नानाविधा भवति। जीवेषु यज्ज्ञानं बलं क्रिया वा तत्प्रयत्नेन लभ्यं, न तु स्वाभाविकी।

एवमेव जगत्कारणत्वेन जगद्रूपे परिणतेऽपि तस्मिन् कश्चन विकारो नास्तीति प्रतिपादयन् सूत्रमवतारयति– **'श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्'** (ब्र.सू. २.१.२७) इति। अस्यार्थः

तु= किन्तु अयं दोषो नास्ति, यतो हि **श्रुतेः** = वेदादिदं सिद्ध्यति यद् ब्रह्म जगतः कारणमपि निर्विकारमेव भवति। कुत इति जिज्ञासायां **शब्दमूलत्वात्** = अत्र वेद एवं

प्रमाणम्। वेदो यथा तत्स्वरूपं वर्णयति तथैवाङ्गीकर्तव्यं, नान्यदिति। तद्यथा श्रुतिः—

'स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः'।

(श्वेता. ६.१६)

'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्'।

(श्वेता. ६.१९)

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पुरुषः।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।

(छा.उ. ३.१२.६)

अमुमेव पक्षं भगवान् बादरायणः युक्त्यापि द्रढयति— **'आत्मनि चैव विचित्राश्च हि'** (ब्र.सू. २.१.२९) इति सूत्रेण। अस्यार्थः—पूर्वस्मिन् सूत्रे ब्रह्मणि केवलं श्रुतिप्रमाण-मुक्तं, तदस्त्येव। परन्तु तदतिरिच्य युक्त्यापि इदमेवायाति यत् निरवयवब्रह्मणो विचित्रजगतः सृष्टिरसङ्गता नास्ति। यतो हि जीवात्मनोऽपि विचित्रा रचना दृश्यते। एवमेव कामधेनुसकाशाद् विचित्रा सृष्टिः पुराणेषु श्रूयते। तद्वद् ब्रह्मणोऽपि विचित्रा सृष्टिर्जायते इति निश्चप्रचम्। तद्यथा विष्णुपुराणे मैत्रेयो जिज्ञासते—

निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते।।

(वि.पु. १.३.१)

अर्थात् हे पराशर मुने! यद् ब्रह्म निर्गुणमप्रमेयं शुद्धं अमलात्म वर्तते तत् सृष्ट्यादि-कार्यस्यं कर्तृ कथं भवतीति जिज्ञासायां प्रश्नमिममुत्तरयन् पराशरो भाषते—

'शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ! पावकस्य यथोष्णता।।

(वि.पु. १.३.२-३)

हे तपस्विसु श्रेष्ठ मैत्रेय मुने! समेषां पदार्थानां शक्तयोऽचिन्त्यज्ञानस्य विषया भवन्ति। अर्थात् साधारणो जनो ज्ञातुं न प्रभवति। अग्नेरुष्णता इव ब्रह्मणः सर्गादिरचनारूपाः शक्तयः स्वाभाविक्यः सन्ति।

अथ च यदि केचन अद्वैतप्रतिपादका मन्त्रा मिलन्ति तर्हि ते गौणा इति मन्तव्यं, न तु मुख्या इति सिद्धान्तः। अथ च यदि कश्चन एवमनुभवति यदहं ब्रह्मास्मि तर्हि तच्चरणाद् गङ्गा न निःसरति, अपि तु भगवतश्चरणादेव, न तन्नाभेः कमलमुत्पद्यते यत्र ब्रह्मा समुद्भूय जगद् रचयति, अपि तु भगवतो नाभेरेव, तस्मात् जीवाद् भिन्नः परमात्मा समाराध्यः सर्वैर्जीवैरिति शम्।

उपनिषत्-संवाद के अन्तर्गत यम और नचिकेता संवाद

डॉ. ठाकुरदत्त जोशी
सेवानिवृत्त सहआचार्य, संस्कृत विभाग,
जयनारायणव्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

हिन्दू धर्म के क्रम विकास का इतिहास तीन भागों में विभक्त है—

१. कर्मप्रधान वैदिक युग २. ज्ञानप्रधान औपनिषदिक युग तथा
३. भक्तिप्रधान पौराणिक युग, संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक में कर्म-मार्ग तथा उपनिषदों में ज्ञान मार्ग की विवेचना की गई है। उक्त संवाद भी ज्ञानमार्ग का एक अङ्ग है।

उपनिषदों में दुरूह विषय को बोझिल होने से बचाने के लिए तथा विषय की रोचकता को बनाये रखने के लिए संवाद शैली का अवलम्बन लिया गया है। प्रस्तुत संवाद में नचिकेता द्वारा पूछे गये तीन प्रश्नों में से अन्तिम आत्मविषयक प्रश्न अपना विशेष स्थान रखता है। इसमें मृत्यु के बाद जीवात्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है। उत्तर में कहा गया है कि 'जीवात्मा अमर है, वह शरीर के साथ नष्ट नहीं होता, बल्कि अपने द्वारा किए गए शुभाशुभ कर्मों के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार की योनियों में चक्कर काटता रहता है। केवल निष्कामभाव से किए गए कर्मों के फलस्वरूप ही मुक्ति सम्भव है। अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाता है।' अब इसी विषय को रोचक रूप से निम्नलिखित संवाद द्वारा और अधिक स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

विश्वजित यज्ञ में नचिकेता के पिता उद्दालक द्वारा ब्राह्मणों को जिस समय, मृत्यु के मुख में पहुँची हुई गौएँ दान में दी जा रही थीं तो उस समय पुत्र नचिकेता के मन में विचार आया कि इस प्रकार के दान से पिता जी को लाभ के स्थान पर हानि ही होगी।[1]

ऐसी आस्तिक्य बुद्धि के उत्पन्न होने पर नचिकेता ने अपने पिता से कहा— "आप मुझे किसे दे रहे हैं? ऋषि चुप रहे नचिकेता के द्वारा दूसरी बार पूछने पर भी ऋषि चुप रहे, फिर वही प्रश्न उसने तीसरी बार दोहराया, तो उन्हें क्रोध आया। फलस्वरूप उन्होंने कहा—

१पीतोदकाते जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः। अनन्दा नामते लोकाँस्तान् स गच्छति ता ददत्।। कठो.१.१.३

'तुम्हें मैं मृत्यु को देता हूँ।'[२]

इस वचन को सुनकर कर्तव्यशील नचिकेता जब यम के यहाँ पहुँचा तो वे कहीं बाहर गए हुए थे और नचिकेता वहाँ पर तीन दिन अन्न-जल ग्रहण किये बिना ही भूखा-प्यासा पड़ा रहा। लौटने पर यमराज को सारी वस्तुस्थिति का पता चला, तो वे दुःखी हुए। उन्होंने तुरन्त नचिकेता का आतिथ्य सत्कार करके कहा— 'ब्राह्मणदेवता! आप नमस्कारादि सत्कार के योग्य मेरे माननीय अतिथि हैं, कहाँ तो मुझे चाहिए था कि मैं आपकी यथायोग्य पूजा सेवा करता, आपको सन्तुष्ट करता और कहाँ मेरे प्रमाद से आप निरन्तर तीन दिनों से भूख से सन्तप्त हो रहे हैं। आपको नमस्कार है, आप अब अपनी इच्छानुसार मुझ से तीन वर माङ्ग लीजिए।'[३]

यम के वचन को सुनकर अपने पिता को सुख पहुँचाने की अभिलाषा से नचिकेता बोला— 'मृत्युदेव! मेरे पिता, जो क्रोध के आवेश में मुझे आपके पास भेजकर अब अशान्त और दुःखी हो रहे हैं, मेरे प्रति क्रोध रहित, शान्तचित्त और सर्वथा सन्तुष्ट हो जाएँ। आपसे अनुमति पाकर जब मैं घर लौटूँ, तब वे मुझे अपने पुत्र नचिकेता के रूप में ही पहिचान कर मेरे साथ पूर्ववत् स्नेह से आचरण करें। यह मेरा पहला वर है।[४]

उत्तर में यमराज ने नचिकेता से कहा— 'तुमको मृत्यु के मुख से छूटकर घर लौटा हुआ देखकर मेरी प्रेरणा से तुम्हारे पिता बहुत प्रसन्न होङ्गे, उनका दुःख और क्रोध शान्त हो जायेगा, तुम्हें पाकर अब वे जीवनभर सुख की नींद सोएँगे।[५]

इसके पश्चात् नचिकेता अपने दूसरे वर के सम्बन्ध में कहने लगा— देव! स्वर्गलोक में सब प्रकार का सुख है, वहाँ पर किसी प्रकार का कोई दुःख या भय नहीं है। पर यह स्वर्ग अग्नि-विज्ञान (यक्ष) को जाने बिना प्राप्त नहीं हो सकता है। अतः आप कृपा करके मुझको अग्निविद्या का उपदेश कीजिए। जिसे जानकर मनुष्य स्वर्गलोक में रहकर अमृतत्त्व को प्राप्त होते हैं।[६]

दूसरे वर के सम्बन्ध में यमराज ने उत्तर दिया— नचिकेता! यह अग्निविद्या अनन्त, विनाशरहित लोकों की प्राप्ति कराने वाली है, पर यह अत्यन्त गोपनीय है, ऐसा कह कर यमराज ने स्वर्ग की साधनभूत अग्नि-विद्या का रहस्य नचिकेता को समझाया। अग्नि के

---

३ स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यतीति। द्वितीयं तृतीयं तं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति।
कठोपनिषद् १.१.४

४ शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवेदत् प्रतीतः एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।। कठोपनिषद् १-१-१०

५ यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणित्प्रसृष्टः।
सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्।। कठोपनिषद् १-१-११

६ स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्रं त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदतेस्वर्गलोके।। कठोपनिषद् १-१-१०।

लिए कुण्ड-निर्माणादि में किस आकार की, कैसी और कितनी ईंटें चाहिए एवं अग्नि का चयन किस प्रकार किया जाना चाहिए— यह सब भलीभाँति समझा दिया।[७]

तीक्ष्णबुद्धि नचिकेता ने उसे उसी प्रकार ज्यों का त्यों सुना दिया। यमराज ने प्रसन्न होकर एक वर और दे दिया कि 'यह अग्नि तुम्हारे नचिकेता नाम से प्रसिद्ध होगी।[८]

अब नचिकेता ने अपना तीसरा वर माङ्गा— भगवन्! मृत मनुष्य के सम्बन्ध में यह एक बड़ा भ्रम फैला हुआ है। कुछ लोग तो कहते हैं कि मृत्यु के अनन्तर भी आत्मा (जीवात्मा) का अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं कि नहीं रहता है। अतः आप मुझको बतावें कि मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा की क्या गति होती है?[९]

इस प्रश्न को सुनकर यमराज भी चक्कर में पड़ गये और कहने लगे— 'हे नचिकेता! यह आत्मतत्त्व का विषय बड़ा सूक्ष्म है। इसे देवता भी नहीं जान पाए। अतः इसके स्थान पर कुछ और वर माङ्ग लो।[१०]

पर नचिकेता घबराया नहीं और फिर कहने लगा— हे मृत्यो! यह विषय सूक्ष्म होने तथा देवताओं को भी अज्ञात होने के कारण, बड़े महत्त्व का है। इसलिए आप मुझे इसी का उपदेश दीजिए।[११]

यमराज नचिकेता को प्रलोभन देते हुए फुसलाने लगे और कहने लगे— 'नचिकेता! तुम बड़े भोले-भाले हो, क्या करोगे इस वर को लेकर? तुम विशाल भोग-सामग्रियों को ग्रहण करो। हाथी, घोड़े सुवर्ण रथ, रमणियाँ तथा साम्राज्य माङ्ग लो और इस पृथ्वी पर चिरकाल पर्यन्त सुख-ऐश्वर्य को माङ्ग लो और इस पृथ्वी पर चिरकाल पर्यन्त सुख-ऐश्वर्य भोगो, पर इस हठ को छोड़ दो।[१२]

---

७ प्रते ब्रवीमि तदु मे निबोध। स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्।।

८ (क) तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण।। कठोपनिषद् १-१-१६
(ख) लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै। या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि त्वत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः। कठोपनिषद् १-१-१४, १५

९ येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः।। कठोपनिषद् १-१-२०

१० देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीदति मा सृजैनम्।। कठोपनिषद् १-१-२१

११ देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्यः एतस्य कश्चित्।। कठोपनिषद् १-१-२२

१२ एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि।।
ये ये कामाः दुर्लभाः मर्त्यलोके सर्वान् कामान् छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमाः सरामा सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः।। कठोपनिषद् १-१-२४,२५

पर नचिकेता टस से मस नहीं हुआ आर उसी प्रकार हठ पूर्वक कहने लगा— 'हे यमराज! जिन भोग वस्तुओं की महिमा गाई है, वे सब क्षण भङ्गुर हैं। इनके संयोग से प्राप्त होने वाला सुख वास्तविक नहीं है, वह तो परिणामतः दुःख ही है। अतः मैं यह सब नहीं चाहता, मुझे तो आप उसी आत्मतत्त्व अर्थात् मृत्यु के उपरान्त जीवात्मा के अस्तित्व के होने या न होने के सम्बन्ध में कहिए।[१३]

नचिकेता के इस दृढ़निश्चय को जानकर यमराज प्रसन्न हो गए तथा कहने लगे— 'नचिकेता! प्रायः लोगों की रुचि प्रेयमार्ग (भोग्य पदार्थों) में ही होती है, पर तुम्हारी रुचि प्रेय मार्ग में न होकर के श्रेय मार्ग (आध्यात्मिक मार्ग) की ओर है। अतः तुम मेरे उपदेश के अधिकारी हो, क्योंकि इस रहस्य के बात का वही अधिकारी है अर्थात् चावल और जल की भाँति जिसके ज्ञान और कर्म एकमय हो रहे हैं, इसलिए अब मैं तुम्हें तीसरे वर के सम्बन्ध में बतलाता हूँ, क्योंकि तुमने मेरे द्वारा दिये गये अनेक सुखभोग के प्रलोभनों की उपेक्षा कर दी। अतः तुम अवश्य ही परमात्म तत्त्व का श्रवण करने के सर्वोत्तम अधिकारी हो।[१४] सुनो— आत्मा (जीवात्मा) न तो उत्पन्न होता है और न ही मरता है। वह आज है, नित्य है, शरीर के नष्ट होने पर उसका नाश नहीं होता।[१५]

जो यह समझता है कि वह किसी का विनाश कर देता है, या जो कोई यह समझता है कि इसका विनाश हो जाता है वे दोनों अज्ञानी हैं। वास्तव में न यह किसी को मारता है, न मरता है।[१६]

शरीर में रहते हुए का भी कोई शरीर नहीं, अनित्य शरीर में निवास करता हुआ भी नित्य है,जो बुद्धिमान् इस रहस्य को समझ लेता है, वह शोक मुक्त हो जाता है।[१७]

शरीर रथ के समान है। इस रथ का सारथि बुद्धि है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं और मन घोड़ों को वश में करने वाली लगाम है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धात्मक विषय मार्ग हैं, आत्मा रथी है और वही भोक्ता है।[१८]

---

१३ यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते।। कठोपनिषद् १-१-२९

१४ दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सितं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त।। कठोपनिषद् १-२-४

१५ न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न ब्रभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। कठोपनिषद् १-२-१९

१६ हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तो न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते। कठोपनिषद् १-२-१९

१७ अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।। कठोपनिषद् १-२-२२

१८ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। कठोपनिषद् १-३-३, ४

जिस रथी का सारथि विज्ञान सम्पन्न हो, वह रथी अपनी यात्रा पूर्ण करके उस परम पद को पा लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।[१९] परन्तु इसके विपरीत जिसका सारथि विज्ञान–सम्पन्न नहीं, लगाम के निर्बल होने से घोड़े, जिसके वश में नहीं, वह यात्रा पूर्ण नहीं कर सकता है। वह इस संसार में ही जन्म–मरण के बन्धन में पड़ा रहता है।[२०]

इसी भाव को आगे स्पष्ट करते हुए यम नचिकेता से कहते हैं— 'हे नचिकेता! मैं तुझे बताता हूँ कि मृत्यु के बाद क्या होता है?[२१] जीवात्मा अपने पुण्य–पापमय कर्मों के अनुसार भिन्न–भिन्न योनियों में शरीर ग्रहण करता है।[२२]

जब मनुष्य के अन्तःकरण में स्थित सभी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं, हृदय की सभी गाठें खुल जाती हैं, तब मनुष्य अमृत हो जाता है और शरीर को धारण किए हुए ही मुक्ति अर्थात् जीवन्मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।[२३]

(छान्दोग्योपनिषद् ६–१४–२ में कहा गया है कि जीवन्मुक्ति उतने काल तक ही रहती है, जब तक उस का देह नहीं छूटता है, देह को छूट जाने पर वह मनुष्य विदेह मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।)

---

१९ यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा। तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः।।६।।
यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते।।
विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान् नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।। कठोपनिषद् १–३–६, ८, ९

२० यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टात्मा इव सारथेः।।
यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति।। कठोपनिषद् १–३–५, ७

२१ हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम्।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम।। कठोपनिषद् २,२–६

२२ योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।। कठोपनिषद् २–२–७

२३ यथा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येताद्धयनुशासनम्।।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।। कठोपनिषद् २–३–१४

उपनिषद् में ब्रह्म का युग्म रूप

डॉ. दीपा माथुर
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
डॉ. भीमराव अम्बेडकर राज. महाविद्यालय
श्री गङ्गानगर (राज.)

उपनिषदों में ब्रह्म का स्वरूप विवेचन अलग-अलग अधिकारी जनों के हिसाब से अनेक रूपों में किया गया है, वे साकार रूप भी हैं और निराकार रूप भी। साकार स्वरूप में स्त्री-पुरुष के रूप में उनकी उभयात्मक छाया संस्कृत वाङ्मय में अनेक रूपों में मिलती है। पुराणों में तो इनके युगल स्वरूप का बहुशः चित्रण हुआ है। सीता और राम, राधा और कृष्ण, शिव-पार्वती, ब्रह्म-सावित्री, लक्ष्मी-विष्णु के आख्यानों से पुराण साहित्य भरा पड़ा है। वस्तुतः राधा और कृष्ण, सीता और राम एक रूप ही है। युगल रूप का प्रयोजन तो लीला मात्र तक सीमित है।

भारत एक धर्म निरपेक्ष देश के नाम से जाना जाता है यह कहना सर्वथा उचित है। भारत के आर्य सनातन धर्म में जितने भी उपासक सम्प्रदाय हैं, वे सभी भिन्न-भिन्न नामों से तथा भिन्न-भिन्न विधानों से एक ही ईश्वर की उपासना करते हैं। कोई तो ईश्वर की इस शक्ति को स्वीकार करते हैं तथा अन्य कोई नहीं करते। श्री भगवान् के इस शक्ति समन्वित रूप को ही युग्म स्वरूप कहा गया है। साकार वादी भक्त इसे अलग-अलग नामों द्वारा पुकारते हैं यथा सीता-राम, राधा-कृष्ण, उमा-महेश इत्यादि परन्तु निराकारवादी उपासक भगवान् को एक ही रूप सर्वशक्तिमान् के नाम से जानते हैं, पूजते हैं, लेकिन महाकाली, दुर्गा, तारा, सरस्वती, सीता, राधा, लक्ष्मी आदि आदि स्वरूप एक ही भगवत्स्वरूप शक्ति के हैं, जो लीला वैचित्र्य की सिद्धि के लिए विभिन्न रूपों में अपने-अपने स्थान में नित्य विराजमान है। यह शक्ति नित्य शक्तिमान् के साथ है और शक्ति है इसी से वह शक्तिमान् है और इसीलिये यह नित्य युग्म स्वरूप है। किन्तु यह युगल स्वरूप वैसा नहीं है, जैसे दो परस्पर-निरपेक्ष सम्पूर्ण स्वतन्त्र व्यक्ति या पदार्थ किसी एक स्थान पर स्थित हों। ये वस्तुतः एक होकर ही अलग-अलग दिखाई देते हैं।

इनमें से एक का त्याग कर देने पर दूसरे के अस्तित्व का परिचय नहीं मिलता। वस्तु और उसकी शक्ति, तत्त्व और उसका प्रकाश, विशेष्य और विशेषण, सूर्य और उसका तेज, अग्नि तथा उसका वाहकत्व इनमें जिस प्रकार का नित्य युगल भाव है, वैसा ही युगल भाव ब्रह्म में भी स्थित है। जो नित्य दो होकर भी एक ही है और नित्य एक होकर भी दो है, जो भिन्न होकर भी अभिन्न है जो स्वरूपतः एक होकर भी द्वैधभाव के पारस्परिक सम्बन्ध के द्वारा ही अपना परिचय देते हैं और स्वयं को प्रकट करते हैं। यह एक ऐसा रहस्यमय परम विलक्षण तत्त्व है कि दो अयुत सिद्ध रूपों में ही जिसके स्वरूप का प्रकाश होता है, जिसका परिचय प्राप्त होता है और जिसकी उपलब्धि होती है।

वेदों का अन्तिम भाग कहे जाने वाले उपनिषदों में ही इस युगल स्वरूप का प्रथम और स्पष्ट परिचय प्राप्त किया जा सकता है। उपनिषद् जिस परम तत्त्व का वर्णन करते हैं उसके मुख्यतया दो स्वरूप है— एक 'सर्वातीत' और दूसरा 'सर्वकारणात्मक'। सर्वकारणात्मक स्वरूप के द्वारा ही सर्वातीत का सन्धान प्राप्त होता है और सर्वातीत स्वरूप ही सर्वकारणात्मक स्वरूप का आश्रय है। सर्वातीत स्वरूप को त्याग दिया जाए तो जगत् की कार्य-कारण शृंखला टूट ही जायेगी, उसमें अप्रतिष्ठा और अनवस्था का दोष आ जाएगा। फिर जगत् के किसी मूल का पता न लगे और सर्वकारणात्मक स्वरूप को न माना जाए तो सर्वातीत की सत्ता कही नहीं मिले। वस्तुतः ब्रह्मा की अद्वैतपूर्ण सत्ता इन दोनों स्वरूपों को लेकर ही विद्यमान है, उपनिषद् के दिव्य दृष्टि सम्पन्न ऋषियों ने जहाँ विश्व के चरम और परम तत्त्व एक, अद्वितीय, देशकाल अवस्था परिणाम से सर्वथा अनवच्छिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप को देखा, वहीं उन्होंने उस अद्वैत परब्रह्म को ही उसकी अपनी ही विचित्र अचिन्त्य शक्ति के द्वारा अपने को अनन्त विचित्र रूपों में प्रकट भी देखा और यह भी देखा कि यही समस्त देशों, समस्त कालों, समस्त अवस्थाओं और समस्त परिणामों के भीतर छिपा हुआ अपने स्वतन्त्र सच्चिदानन्दमय स्वरूप की अपनी नित्य सत्ता, चेतना और आनन्द की मनोहर झाँकी करा रहा है। ऋषि-मुनियों ने जहाँ देश काल-अवस्था परिणाम से परिच्छिन्न अपूर्ण पदार्थों को 'यह वह नहीं है, यह वह नहीं है' (नेति-नति) कहकर और उनसे विरागी होकर यह अनुभव किया कि— 'वह परमतत्त्व ऐसा है जो न कभी देखा जा सकता है, न ग्रहण किया जा सकता है, न उसका कोई गोत्र है, न उसका कोई वर्ण है, न उसके चक्षु-कर्ण और हाथ-पैर आदि है। वह न अन्दर प्रज्ञावाला है, न बाहर प्रज्ञा वाला है, न उभय प्रकार की प्रज्ञा वाला है, न प्रज्ञान धन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है, वह न देखने में आता है, न उससे कोई व्यवहार (वर्णन) किया जा सकता है, न वह पकड़ में आता है न कोई लक्षण है, जिसके सम्बन्ध में न चित्त से कुछ सोचा जा सकता है और न ही वाणी से कुछ कहा जा सकता है और जो आत्मप्रत्यय का

सार है, प्रपञ्च से रहित है, शान्त, शिव और अद्वैत है—

यत्तददेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रौत्रं तदपाणिपादम्।

मुण्डक-१/१/६

नान्तःप्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं नोभयतः प्रज्ञं च प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
दृष्टव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं
प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतम्।

माण्डू-७

किसी भी दृश्य, ग्राह्य, कथन करने योग्य, चिन्तन करने योग्य और धारणा में लाने योग्य पदार्थ के साथ उसका कोई भी सम्बन्ध या सादृश्य नहीं है। इसी के साथ, वहीं, उसी क्षण उन्होंने उसी देश-कालातीत, अवस्था-परिणाम शून्य, इन्द्रिय-मन-बुद्धि के अगोचर शान्त शिव अनन्त एक मात्र सत्तास्वरूप अक्षर परमात्मा को ही सर्वकाल में और समस्त देशों में नित्य विराजित देखा और कहा कि 'धीर साधक पुरुष उस नित्य पूर्ण, सर्वव्यापक, अत्यन्त सूक्ष्म, अविनाशी और समस्त भूतों के कारण परमात्मा को देखते हैं—

नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः।।

मुण्डक - १/१/६

उन्होंने यह भी अनुभव किया कि जब वह द्रष्टा उस सबके ईश्वर, ब्रह्मा के भी आदिकारण सम्पूर्ण विश्व के सृष्टा, दिव्य प्रकाश स्वरूप परम पुरुष को देख लेता है, तब वह निर्मल हृदय महात्मा पाप-पुण्य से छूटकर परम साम्य को प्राप्त हो जाता है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।।

मुण्डक - ३/१/३

यहाँ तक कि उन्होंने ध्यान योग में स्थित होकर परमदेव परमात्मा की उस दिव्य अचिन्तय स्वरूपभूत शक्ति का भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया जो अपने ही गुणों से छिपी हुई है। तब उन्होंने यह निर्णय किया कि काल से लेकर आत्मा तक सम्पूर्ण कारणों का स्वामी प्रेरक सबका परम कारण एकमात्र परमात्मा ही है—

ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः।।

श्वेता-१/३

ऋषियों ने यह अनुभव किया कि वह सर्वातीत परमात्मा ही सर्वकारक-कारण, सर्वगत सब में अनुस्यूत और सब का अन्तर्यामी है। वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म, भेदरहित,

परिणामशून्य, अद्वय परमतत्त्व ही चराचर भूतमात्र की योनि है, एवम् अनन्त विचित्र पदार्थों का वही एकमात्र अभिन्न निमित्तोपादान कारण है। उन्होंने अपनी निर्भ्रान्त निर्मल दृष्टि से यह देखा कि जो विश्वातीत तत्त्व है, वही विश्वकृत है, वही विश्ववित् है और वही सम्पूर्ण विश्व है। विश्व में उसी की अनन्त सत्ता का, अनन्त ऐश्वर्य का, अनन्त शक्ति का एवं अनन्त ज्ञान का प्रकाश है। विश्व-सर्जन की लीला करके विश्व के समस्त वैचित्र्य को, विश्व में विकसित अखिल ऐश्वर्य, ज्ञान और शक्ति को आलिङ्गन किए हुए ही वह नित्य विश्व के ऊर्ध्व में विराजमान है। उपनिषद् के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने अपनी सर्वकालव्यापिनी दिव्य दृष्टि से देखकर कहा— सौम्य! इस नाम रूपात्मक विश्व की सृष्टि से पूर्व एक अद्वितीय सत् ही था—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

छान्दोग्य-६/२/१

परन्तु इसी के साथ तुरन्त ही मुक्तकण्ठ से यह भी कह दिया कि उस सत् परमात्मा ने ईक्षण किया— इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति।

छान्दोग्य-६/२/३

यहाँ बहुतों को यह बात समझ में नहीं आती कि जो सबसे अतीत है, वही 'सर्वरूप' कैसे हो सकता है, परन्तु औपनिषद दृष्टि से इसमें कोई भी विरोध या असामञ्जस्य नहीं है। भगवान् का नित्य एक रहना, नित्य बहुत से रूपों में अपने आस्वादन की कामना करना और नित्य बहुत से रूपों में अपने को स्वयं को प्रकट करना एवं सम्भोग करना— यह सब उनके एक नित्य स्वरूप के ही अन्तर्गत है। कामना, ईक्षण और आस्वादन ये सभी उनकी निरविच्छिन्न पूर्ण चेतना के क्षेत्र में समान अर्थ ही रखते हैं। भगवान् वस्तुतः न तो एक अवस्था से किसी दूसरी अवस्था विशेष में जाने की कामना ही करते हैं और न ही उनकी सहज नित्य स्वरूप स्थिति में कभी कोई परिवर्तन ही होता है। उनके बहुत रूपों में प्रकट होने का यह अर्थ कतई नहीं है कि वे एकत्व की आस्था में बहुतत्त्व की अवस्था में अथवा अद्वैत स्थिति से द्वैतस्थिति में चलकर जाते हैं। उनकी सत्ता तथा स्वरूप पर काल का कोई प्रभाव नहीं है और इसीलिये विश्व के प्रकट होने से पूर्व की या पीछे की अवस्था में जो अन्तर दिखाई देता है, वह उनकी सत्ता और स्वरूप का स्पर्श भी नहीं कर पाता। अवस्था भेद की कल्पना तो जड़ जगत् में है। स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निवृत्ति और प्रवृत्ति, विरति और भोग, साधन और सिद्धि, कामना और परिणाम, भूत और भविष्य, दूर और समीप एवं एक तथा अनेक ये सभी भेद जड़-जगत् के सिकुड़े धरातल में ही है। विशुद्ध पूर्ण सच्चिदानन्द सत्ता से सर्वथा भेदशून्य है। वह विशुद्ध अभेद

भूमि है। वहाँ स्थिति और गति, अव्यक्त और व्यक्त, निष्क्रियता और सक्रियता में अभेद है। इसी प्रकार एक और बहुत, साधना और सिद्धि, कामना और भोग, भूत-भविष्य-वर्तमान तथा दूर एवं निकट भी अभेदरूप ही है। इस अभेद भूमि में चैतन्यघन पूर्ण परमात्मा परस्पर विरोधी धर्मों का आलिङ्गन किये नित्य विराजमान है। वे चलते हैं और नहीं चलते, वे दूर भी हैं निकट भी है, वे सबके भीतर भी और सबके बाहर भी हैं—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः। ईश-५

वे अपने विश्वातीत रूप में स्थित रहते हुए ही अपने वैचित्र्यप्रसविनी कर्मशीला अचिन्त्य शक्ति के द्वारा विश्व का सृजन करके अनादि अनन्तकाल उसी के द्वारा अपने विश्वातीत स्वरूप की उपलब्धि और उसका सम्भोग करते रहते हैं। उपनिषद् में जो आया है कि वह ब्रह्म पहले अकेला था, वह रमण नहीं करता था। इसी कारण आज भी एकाकी पुरुष रमण नहीं करता। उसने दूसरे की इच्छा की... अपने को ही एक से दो कर दिया... वे पति-पत्नी हो गये।....

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीयमैच्छत्...स
इममेवात्मानं द्वेधापातयत्तः पतिश्च पत्नी चाभवताम्।...बृहदा-१/४/३

इसका आशय नहीं कि इससे पूर्व वे अकेले थे और अकेलेपन में रमण का अभाव प्रतीत होने के कारण वे युगल हो गये क्योंकि काल परम्परा क्रम से अवस्था भेद को प्राप्त हो जाना ब्रह्म के लिए सम्भव नहीं है। वे नित्य युगल हैं और इस नित्य युगल तत्व में ही उनका पूर्ण एकत्व है। उनका अपने स्वरूप में ही नित्य अपने ही साथ नित्य रमण अपनी अनन्त ज्ञान, अनन्त ऐवर्श्य तथा अनन्त माधुर्य का लगातार आस्वादन चल रहा है। उनके इस स्वरूपगत आत्म मैथुन, आत्म रमण और आत्मास्वादन से ही अनादि-अनन्तकाल अनादि देशों में अनन्त विचित्रतामण्डित, अनन्त रससमन्वित विश्व के सृजन, पालन और संहार का लीला प्रवाह चल रहा है। इस युगल रूप में ही ब्रह्म के अद्वैतस्वरूप का परमोत्कृष्ट परिचय प्राप्त होता है अतएव श्रीउमा-महेश, श्रीलक्ष्मी-नारायण, श्रीसीता-राम, श्रीराधा-कृष्ण आदि युगल स्वरूप नित्य, सत्य और प्रकारान्तर में उपनिषद्-प्रतिपादित हैं। उपनिषद् ने एक साथ सर्वातीत और सर्वकारणरूप में, स्थितिशील और गतिशीलरूप में, निष्क्रिय और सक्रिय रूप में, अव्यक्त और व्यक्त रूप में एवं सच्चिदानन्दघन पुरुष और विश्व जननी नारी रूप में इसी युगल स्वरूप का विवेचन किया है।

फिर भी विशुद्ध तत्वमय चैतन्य राज्य में प्राकृत पुरुष और नारी के सदृश देहेन्द्रियादिगत भेद एवं उसके अनकूल किसी लौकिक सम्बन्ध की सम्भावना नहीं है, फिर भी जब अप्राकृत तत्त्व की प्राकृत मनबुद्धि एवं इन्द्रियों के द्वारा उपासना करनी पड़ती है, तब

प्राकृत उपमा और प्राकृत संज्ञा देनी ही पड़ती है। प्राकृत पुरुष और प्राकृत नारी व उनके प्रगाढ़ सम्बन्ध का सहारा लेकर ही परम तत्त्व के स्वरूपगत युगल-भाव को समझने का प्रयास करना पड़ता है। वस्तुतः पुरुष रूप में ब्रह्म का सर्वातीत निर्विकार निष्क्रिय भाव है, और नारी रूप में उन्हीं की सर्वकारणात्मिका अनन्त लीला वैचित्र्यमयी स्वरूप शक्ति का सक्रिय भाव है। पुरुष मूर्ति में भगवान् विश्वातीत हैं, एक हैं और सर्वथा निष्क्रिय हैं, एवं नारीमूर्ति में वे ही विश्वजननी, बहुप्रसविनी लीला विलासिनी रूप में प्रकाशित हैं। अपने इस नारी भाव के संयोग से ही वे परम पुरुष ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता हैं, नारी भाव के सहयोग से ही उसके स्वरूपगत, स्वभावगत अनन्त ऐश्वर्य, अनन्त वीर्य, अनन्त सौन्दर्य और आनन्द माधुर्य का प्रकाश है, इसी में उनकी भगवत्ता का परिचय है। पुरुष रूप से वे नित्य निरन्तर अपने नारी रूप का आस्वादन करते हैं और नारी रूप से अपने को ही आप अनन्त प्रकारों में लीला रूप में प्रकट करके नित्य चिद्रूप में उसकी उपलब्धि और सम्भोग करते हैं— इसीलिये ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् है।

सच्चिदानन्दमयी अनन्त वैचित्र्यप्रसविनी लीला-विलासिनी महाशक्ति ब्रह्म की स्वरूपभूता है, ब्रह्म के विश्वातीत, देश कालातीत अपरिणामी सच्चिदानन्दस्वरूप के साथ नित्य मिथुनीभूता है। ब्रह्म की सर्वपरिच्छेद रहित सत्ता, चेतनता और आनन्द को अगणित स्तरों के सत्-पदार्थरूप में, असंख्य प्रकार की चेतना तथा ज्ञान के रूप में एवं असंख्य प्रकार के रस-आनन्द के रूप में विलासित करके उनको आस्वादन के योग्य बना देना इस महाशक्ति का कार्य है। स्वरूपगत महाशक्ति इस प्रकार अनादि-अनन्तकाल ब्रह्म के स्वरूपगत चित्त की सेवा करती रहती है। यह नारी भाव उस पुरुष भाव से सर्वथा अभिन्न है। इस प्रकार उभयभाव से अभिन्न होकर ही भिन्न रूप में परस्पर आलिङ्गन किये बिना एक-दूसरे का प्रकाश, सेवा और आस्वादन करते हुए एक-दूसरे को आनन्द रस में आप्लावित करते हुए नित्य-निरन्तर ब्रह्म के पूर्ण स्वरूप का परिचय दे रहे हैं। परम पुरुष और उनकी महाशक्ति-भगवान् और उनकी प्रियतमा भगवती भिन्नाभिन्नरूप से एक ही ब्रह्मस्वरूप में स्वरूपतः प्रतिष्ठित है। उपनिषदों ने ब्रह्मा के इसी स्वरूप का और उनकी नित्य लीला का विविध दार्शनिक शब्दों में परिचय दिया है और इसी स्वरूप को जानने, समझने, उपलब्ध करने और सम्भोग करने की विविध प्रक्रियाओं, विधाओं तथा साधनाओं का अनुभवी ऋषियों ने अपनी दिव्य वाणी से जनसाधारण के लिए गुणगान किया है।

उपनिषद् वाङ्मय में वाक्तत्त्व का स्वरूप

डॉ. महेशचन्द्र
(जी.एफ.आई.सी.पी.आर. नई दिल्ली)
संकृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

भारतीय मनीषा के प्राणस्वरूप उपनिषद् ग्रन्थों की महनीयता विश्व-विदित है। हम जानते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य की अभिलाषा सुख और शान्ति प्राप्त करने की है। इसी सुख-शान्ति की खोज में अक्षय सुख-शान्ति प्राप्त करने के लिए उपनिषद् ग्रन्थों का प्राकट्य हुआ है। उपनिषद् अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या को कहते हैं। वेद का अन्तिम भाग होने से इसे वेदान्त भी कहा जाता है और वेदान्त सम्बन्धी श्रुति-संग्रह-ग्रन्थों के लिये भी उपनिषच्छब्द का प्रयोग होता है।

उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड है। यह वह चिरप्रदीप्त व ज्ञानदीपक है जो सृष्टि के आदि से प्रकाश देता चला आ रहा है और लयपर्यन्त पूर्ववत् प्रकाशित होता रहेगा। इसके प्रकाश में वह अमरत्व है, जिसने सनातनधर्म के मूल का सिञ्चन किया है। यह जगत्कल्याणकारी भारत की अपनी निधि है, जिसके सम्मुख विश्व का प्रत्येक स्वाभिमानी सभ्य राष्ट्र श्रद्धा से नतमस्तक रहा है और सदा रहेगा। अपौरुषेय वेद का अन्तिम अध्यायरूप यह उपनिषद्, ज्ञान का आदिस्रोत और विद्या का अक्षय भण्डार है। वेद-विद्या के चरम सिद्धान्त -**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।**[1] का प्रतिपादन कर उपनिषद् जीव को अल्पज्ञान से अनन्त ज्ञान की ओर, अल्पसत्ता और सीमित सामर्थ्य से, अनन्त सत्ता और अनन्त शक्ति की ओर, जगद्दुःखों से अनन्तानन्द की और जन्म-मृत्यु-बन्धन से अनन्त स्वातन्त्र्यमय शाश्वत शान्ति की ओर ले जाती है।

उपनिषद् ग्रन्थों में वाक्तत्त्व का प्रस्फुटन अत्यन्त अनिवार्य है क्योंकि वाक्तत्त्व के बिना जगत् शून्य है और जीवन गतिशून्य। संसार के समस्त व्यवहार वाक्तत्त्व पर ही निर्भर हैं। इस वाक्तत्त्व को ही व्यवहार में वाणी के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। संसार की समस्त संस्कृतियाँ तथा सभ्यताएँ वाक्तत्त्व के बोध में ही फलती-फूलती हैं। वाक्तत्त्व का स्वरूप सत्यं, शिवं, सुन्दरं का अभिव्यञ्जक है। वाक्तत्त्व के सन्दर्भ में ब्रह्मविद्या

१ त्रिपाद्विभूतिमहाना. ३/३

प्रधान उपनिषद् ग्रन्थों में अनेक युक्तियुक्त विचार प्रस्तुत हुए हैं।

उपनिषत्-कालीन वाक् के स्वरूप की पीठिका वेदों में ही तैयार हो गयी थी और उसी समय इसे रहस्य की कोटि में डाल दिया गया था। जल में, थल में, औषधियों में- सबमें दैवी सत्ता को परखने वाले वैदिक ऋषि वाक् को अनुकरणमूलक या मनोराग-व्यञ्जक कैसे मान सकते थे? ऋग्वेद के अनुसार वाक् को देवों ने पैदा किया -

देवीं वाचमजनयन्त देवाः।[२]

इस वाक् के चार विभाग हैं - **'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि।'**[३]

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने वाक् के इन चार रूपों का नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात के रूप में ग्रहण किया है। वाक् के परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप का संकेत भी इसी मन्त्र में माना जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में चार प्रकार के विभाग को दूसरे रूपों में भी व्यक्त किया गया है।[४] ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १२५वें सूक्त की द्रष्टा 'वाक्' नाम की एक विदुषी है। वह अम्भृण महर्षि की पुत्री थी। उसने स्वयं अपनी (वाक् की) स्तुति परमात्मा के रूप में की है। इस सूक्त में वाक् के अलौकिक रूप की झलक है। पर साथ ही वैदिक ऋषियों के वाक् के लौकिक रूप की उपेक्षा नहीं की है। वाक् में निष्णात मनीषियों की प्रचुर महिमा गायी गयी है। 'वाक् को कोई देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। पर कुछ लोग वाक् को निकट से जानते हैं और उनके सामने वाक् अपना रहस्य वैसे ही खोल देती है जैसे कोई सुसज्जित, उत्कण्ठित पत्नी अपने-आपको अपने पति के सामने प्रस्तुत करती है।'[५]

'जिस तरह चलनी से सत्तू को शुद्ध करते हैं, उसी तरह जो विद्वान् ज्ञान से वाणी को शुद्ध कर उसका प्रयोग करते हैं, वे लोक में मित्र होते हैं, मित्र का सुख पाते हैं, उनकी वाणी में कल्याणमयी रमणीयता रहती है।' (इस मन्त्र के तृतीय पाद की व्याख्या पतञ्जली, दुर्गाचार्य, सायण और नागेश ने भिन्न-भिन्न रूप से की है, जिसे उनके ग्रन्थों में देखना चाहिये।)

वेदों में वाक् के जो स्वरूप मिलते हैं, वे उपनिषदों में विकसित रूप में दिखाई पड़ते हैं। वैदिक कवियों के हृदय में जो भावना उठी वह शब्द के रूप में प्रस्फुटित हुई। वहाँ बनावट नहीं अतः हर किसी वस्तु के परीक्षण की इच्छा का अभाव है। उनकी अधिकांश समस्याएँ द्वन्द्वमय जीवन के बाह्यरूप से सम्बन्ध रखती हैं, सत्य की और उनकी पहुँच बहुत प्रतिभा ज्ञान के द्वारा है। औपनिषदिक ऋषियों के सामने बाह्य जीवन की समस्याएँ

---

२ ऋक्संहिता, निरुक्त ११/२९ में उद्धृत
३ ऋक्संहिता १/१६४/४५
४ निरुक्त १३/९
५ ऋक्संहिता १०/१६४/४५

नहीं थीं, उनका मुख्य उद्देश्य सत्य की खोज था। अत: उनकी विचार परम्परा में तारतम्यता का सौष्ठव है। उनकी रहस्यानुभूति में तर्क की छाया दिखाई देती है। उन्होंने जीवन को गति देने वाले अन्न, प्राण, मन आदि जो कुछ हैं उन सबके यथार्थ की बारी-बारी से समीक्षा की है। उपनिषदों के वाक् के स्वरूप का निर्देश भी इसी समीक्षा का फल है। वृहद् रूप से उपनिषद्कालीन वाक् शब्द की व्युत्पत्ति वही है जो वेद में दिखाई देती है। अर्थात् वाक् वह है जो बोली जाये-**वाक् कस्माद्, वचे:**[६] जिस शब्द को वाक् कहते हैं - **य: कश्च शब्दो वागेव सा**[७] तथा **'वाक् सन्धि:, जिह्वा सन्धानम्'**[८] यह वाक्य वाक् और जिह्वा के सम्बन्ध का स्पष्ट सङ्केत प्रकट कर रहे हैं। उपनिषद् के ऋषियों ने इस जिह्वा व्यापार के पीछे छिपी हुए प्राणशक्ति और मानसिक शक्ति की ओर का भी सङ्केत किया है। जिनका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन बाद के उपनिषदों और तान्त्रिक ग्रन्थों में बीज, बिन्दु, नाद आदि के रूप में और व्याकरण दर्शन में स्फोट के रूप में किया गया है।

यह वाक् लोक यात्रा में अद्वितीय सहायक है। जनक ने याज्ञवल्क्य के समक्ष अपनी शङ्का प्रकट करते हुए कहा- जब सूर्य अस्त हो जाता है, चन्द्रमा की चाँदनी भी नहीं रहती, जब आग भी बुझी रहती है उस समय मानव को प्रकाश देने वाली कौनसी वस्तु है? महर्षि याज्ञवल्क्य राजा जनक की शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि वह वाक् है। वाक् ही पुरुष का प्रकाशक है। यदि वाक् की सृष्टि न होती तो धर्म-अधर्म का ज्ञान न होता, सत्य और झूठ का भान न होता, कौन साधु और कौन असाधु है, कौन सहृदय है और कौन अनुभूति शून्य है- इसकी जानकारी न होती। वाक् ही इन सबको प्रकाशित करती है। वाक् की उपासना करनी चाहिए।' ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद का ज्ञान वाक् से ही होता है। इतिहास, पुराण इत्यादि अनेक विद्याएँ वाक् से ही जानी जाती हैं। उपनिषद्-श्लोक, सूत्र-व्याख्यान और अनुव्याख्यान वाक् के ही विषय हैं। जो कुछ हवन किया गया, खाया गया, पिया गया-ये सभी वाक् से ही ज्ञात होते हैं। इस लोक का, परलोक का सम्पूर्ण भूतों का ज्ञान वाक्तत्त्व से ही होता है। ज्ञान का एकमात्र अधिष्ठान वाक् है। यथा- **सर्वेषां वेदानां वागेवायतनम्।**[९]

उपनिषदों में वाक् और विचार के परस्पर सम्बन्ध की भी व्यंजना है। बिना भाषा के विचार सम्भव है कि नहीं, यह एक विवादात्मक प्रश्न है। भाषा विज्ञान के भाषा की उत्पत्तिविषयक कुछ मत भाषा और विचार के परस्पर सम्बन्ध पर ही आश्रित हैं। हेस और मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वान इसी मत के समर्थन हैं।

६ निरुक्त २/२२/२
७ बृहदारण्यक-उपनिषद् ३/५/३
८ तैत्तिरीय उपनिषद् १/३/५
९ बृहदारण्यक उपनिषद् २/४/११

प्राचीन आचार्यों में भर्तृहरि का भी यही मत है। संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्द के बिना जाना जा सके।[१०] पतञ्जली के **'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे'** और कालिदास के **'वागर्थाविव संपृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये, जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।'** में भी वाक् और विचार के नित्य सम्बन्ध की अभिव्यक्ति है। उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर यदि उपनिषदों में देखा जाय तो समाधानस्वरूप दो पहलू दिखाई देंगे। पहला यह कि विचार अथवा ज्ञान वाक् की सहायता के बिना भी सम्भव है। ज्ञान इस कोटि का भी हो सकता है, जो वाक् से परे हो। जब उपनिषद् के ऋषि यह उद्घोषित करते हैं। कि **'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्'** मैं उस परम पुरुष को जानता हूँ और दूसरे क्षण यह कहते हैं कि **'नैव वाचा स न मनसा'**[११] वह न तो वाणी से न मन से जाना जा सकता है, तो इससे स्पष्ट है कि ज्ञान की गहराई तक वाणी की पहुँच नहीं है। यह भी कहा गया है–

वाग्वै मनसो ह्सीयसी। अपरिमित रमिव हि मनः। परिमिततरेव वाक्।[१२]

अर्थात् वाक् विचार से हल्की है। विचार असीम–सा है, जबकि वाक् सीमित–सी है। समाधान का दूसरा पहलू यह है कि वाक् और विचार का उल्लेख उपनिषदों में दिखाई देता है – **न मनसा वाचं मिथुनं समभवत्।**[१३] एक स्थान पर कहा गया है कि वाक् धेनु है, प्राण इसका ऋषभ है और मन (विचार) इसका वत्स है।

वाक् और विचार के परस्पर सहयोग की अनिवार्यता देखकर कहा गया है कि– **वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्।**[१४]

उपनिषद् वाक् और विचार के सम्बन्ध को उनके असम्बन्ध को और वाक् के मूल में स्थित मानसिक क्रिया को अच्छी तरह प्रकट करते हैं।

उपनिषदों में वाक् के कलापक्ष की भी अभिव्यञ्जना प्रतिपादित की गई है। वाक् स्वयं एक प्रकार की अभिव्यक्ति संवेदनशील हो उठती है, जब वाक् आह्लादकता, माधुर्यभाव या सत्त्वोद्रेक को जगाने में समर्थ होती है, उसका कलात्मक रूप प्रस्फुटित होता है, जिसके भीतर रस और बाहर सौन्दर्य दिखाई देता है। वाक् की सौन्दर्य मीमांसा को उपस्थापित करते हुए कहा गया है कि **वाच ऋक् रसः, ऋचः साम रसः साम उद्गीथो रसः।।**[१६]

वाक् का रस सौन्दर्य है तथा ऋक् का रस साम (लय–नाद–सौन्दर्य या समरसता)

---

१० वाक्यपदीयम् १/१२४
११ कठोपनिषद् ६/१३
१२ शतपथब्राह्मण १/३/६
१३ बृहदारण्यकोपनिषद् १/२/४
१४ बृहदारण्यकोपनिषद् ५/८/१
१५ ऐतरेय उपनिषद्, अन्तिम अंश
१६ छान्दोग्योपनिषद् १/१/२

है। साम का रस उद्गीथ है। उद्गीथ सामवेद का द्वितीय भाग है। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्गीथ से प्रणव को ग्रहण किया गया है। भाव यह है कि वाक् का सौन्दर्य छन्द का परिधान पाकर चमक उठता है। तब वाक्, ऋक्, छन्द, श्लोक अथवा कविता के नाम से पुकारी जाती है। कविता वाक् का निष्पन्द है। गीतों में एक समरसता (एक सन्तुलन) दिखाई देती है, जिससे उनका सौन्दर्य कविता के क्षेत्र में बढ़ जाता है। सामगान में केवल स्वरों का ही सामञ्जस्य नहीं लाया जाता, अपितु बाहर के नाद-सौन्दर्य का भीतर की प्राणशक्ति के साथ ऐक्य स्थापित करना पड़ता है। कविता के बाह्य और आभ्यन्तरिक गुणों का गीतों में स्वभावत: समन्वय हो जाता है। गीत कविता के शृंगार है तथा उद्गीथ गीतों का परिपाक है। यह साम गीत के आह्लादक स्वरूप का द्योतक है। आह्लादक में माधुर्य और माधुर्य में रस होता है। रस का ही नाम आनन्द है। अत: वाक् के कलापक्ष की विश्रान्ति आनन्द में ही होती है। उपर्युक्त तथ्य वाक् के भौतिक स्वरूप को सामने रखकर कहा गया है। उपनिषदों में वाक् की आधिदैविक व्याख्या मिलती है। वाक् ही यज्ञ होता है, वही अग्नि है, वही मुक्ति है, वही अतिमुक्ति है। वह दैवी वाक् है, जिसे जो कहा जाय हो जाता है वाक् ब्रह्म का चतुर्थ पाद है।

उपनिषद् के ऋषियों ने अधिक गहराई में जाते हुए वाक् के उस स्वरूप के भी दर्शन किये हैं, जिसे हम रहस्यात्मक कह सकते हैं। यहाँ वाक् न तो साधारण बोलचाल की वस्तु है और न ज्ञान का साधन है। वह साधारण, असाधारण दोनों से परे है। वह सूक्ष्म है, नित्य है, अनन्त है। सम्पूर्ण विश्व का विकास वाक् से हुआ है। बृहदारण्यकोपनिषद् में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वाक् के द्वारा सृष्टि की रचना हुई है। यथा—

स तया वाचा तेनात्मना इदं सर्वमसृजत्।

श्रुति भी वाक् की सृष्टि की पोषक है। यथा - **वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे।** आचार्य शंकर जैसे दार्शनिक भी इस मत का अनुमोदन करते हैं। हम सभी इस बात को जानते हैं कि मनुष्य जो कुछ करता है, उसके वाचक शब्द उसके मन में पहले आते हैं, बाद में वह उस कार्य को प्रतिपादित करता है। इसी तरह सृष्टि रचने के पूर्व प्रजापति के मन में भी वैदिक शब्दों का आभास हुआ तथा बाद में उन शब्दों के अनुरूप ही उन्होंने सृष्टि रचना की।[१७]

वाक् के रहस्यात्मक स्वरूप का निर्देशक प्रणव है। प्रणव वाक् का मूल तत्त्व है। वाक् का सम्पूर्ण वैभव प्रणव का ही विलास है। यही उद्गीथ है, यही प्रणव है। जो प्रणव है वही ओम् है। ओंकार ही भूत, वर्तमान और भविष्य है और जो इन तीनों कालों से परे है, वह भी ओम् ही है। उपनिषद् के ऋषियों को यह कहने में सन्देह नहीं होता कि वाक् ही

---

१७ शङ्करभाष्य १/३/१८

परम ब्रह्म है। **वाग् वै सम्राट् परमं ब्रह्म।**[१८]

पं. मोतीलाल शास्त्री ने 'वाक्' के सन्दर्भ में तात्त्विक स्पष्टीकरण करते हुए शतपथ ब्राह्मण के हिन्दी विज्ञान भाष्य के प्रथम काण्डान्तर्गत लिखा है – **'अथो वागेवेदं सर्वम्'** (यह वाक् ही सब कुछ है)[१९] **'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'** (इसी वाक् में सम्पूर्ण भुवन गुंथे हुए है)[२०] श्रुति में पढ़े हुए इस वाक् शब्द को मन और प्राण का भी उपलक्षण समझना चाहिए। क्योंकि यह वाक्, प्राण, एवं मन के बिना कभी नहीं रहती।

यह स्पष्ट रूप से वर्णित है कि नामरूपकर्म्म को परिच्छिन्न करने वाले आयतन का नाम ही छन्द है। नामरूपकर्म्म ही मनःप्राणवाक् हैं। ऐसी अवस्था में **'वाक्परिमाणं छन्दः'** यह छन्दोलक्षण तब समन्वित हो सकता है, जब वाक् से तीनों का ग्रहण किया जाय। **'वाक्परिमाणं छन्दः'** इस लक्षण द्वारा 'वाक् का मन प्राणगर्भित वाक् दूसरे शब्दों में नामरूप कर्म्म का जो परिमाण है, वयोनाध है, उसी का नाम छन्द है'। आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, तीनों ही प्रपञ्च वाङ्मय हैं। सातों लोक वाङ्मय हैं। देवता, मनुष्य, पशु, गन्धर्व आदि सबका स्वरूप इसी वाक् के आधार पर प्रतिष्ठित है। इसी वाग्विज्ञान को दृष्टि में रखकर वेदभगवान् कहते हैं–

वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे, वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी।।[२१]

जिस वाक् का माहात्म्य **'वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता'** इन शब्दों से प्रकट किया जा रहा है, वह सर्वप्रपञ्चमूलभूता, सर्वत्र व्याप्त रहने वाली वाक् शब्द और अर्थ भेद से दो प्रकार की है। एक ही वाक् के शब्द प्रपञ्च और अर्थप्रपञ्च, ये दो भेद हैं। शब्दवाक् एवं अर्थवाक्, दो के अतिरिक्त तीसरी वाक् की सर्वथा अनुपपत्ति ही समझनी चाहिए। शब्दवाक् 'शब्द' नाम से प्रसिद्ध है, एवं अर्थवाक् 'अर्थ' नाम से प्रसिद्ध है। शब्द और अर्थ, दोनों पार्वती ओर परमेश्वर (शिव) की भांति अभिन्न हैं, संसार में जितने भी पदार्थ दिखाई पड़ रहे हैं, वे सब शब्दमय हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँचों के अतिरिक्त कोई छठा पदार्थ ही नहीं है। इन पाँचों में शब्द प्रतिष्ठित है। पाषाण, ढेला, पुस्तक, टेबिल आदि किसी भी पार्थिव पिण्ड पर हाथ मारें तो उसी समय शब्द उत्पन्न होगा। **'संयोग–विभाग–शब्देभ्यः–शब्दोत्पत्तिः'**[२२] इस वैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार शब्द की उत्पत्ति के, वस्तु का संयोग, विभाग और शब्द, ये तीन ही कारण हैं।

---

१८ बृहदारण्यक उपनिषद् ४/१/२
१९ शतपथ ब्राह्मण ६.३.१.१९
२० तैतरीयब्राह्मण २.८.८
२१ तैतरीयब्राह्मण २.८.८.४
२२ वैशेषिकदर्शन २.२.३१

एक वस्तु का, किंवा हस्तादि का 'आघातयुक्त संयोग' होता है, तो वही शब्द धाराक्रम से वीचीतरङ्गन्याय से उत्तरोत्तर नवीन नवीन शब्द प्रगट कर हमारी श्रोत्रेन्द्रिय के समीप पहुँचा देता है। इस धाराक्रम से श्रोत्रेन्द्रिय पर आया हुआ जो शब्द है, वह शब्दजन्य है।

वाक् का यह रहस्यात्मक रूप अवश्य ही दैनिक व्यवहार के वाक् से भिन्न है। परन्तु विचार करने पर प्रतीत होता है कि वाक् को जो यह उच्चतम स्थान प्रदान किया गया है, वह साधार है। इस गतिशील संसार में किसी भी पदार्थ का सत्य जगत् के किसी दूसरे पदार्थ द्वारा ठीक जाना नहीं जा सकता, क्योंकि वह मापक पदार्थ स्वयं गतिशील है। अन्त में हमें वहाँ तक जाना पड़ेगा, जहाँ से सभी गतिशील पदार्थों को तथा जगत् को गति मिलती है। वह अवश्य ही जगत् से तटस्थ होता है तथा स्थिर होता है एवं गति देने के कारण उसका एक सम्बन्ध हो जाता है और इस सम्बन्ध के सहारे प्रत्येक गतिशील पदार्थ उस स्थिर बिन्दु से अपना सम्बन्ध जोड़ सकते हैं। जगत् से तटस्थ होने का अभिप्राय यह नहीं कि जगत् की कोई सीमा है और स्थिर बिन्दु उससे कहीं परे है। गतिशीलता ही जगत् है और उसमें जो तटस्थ है, वही स्थिर बिन्दु है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि परिवर्तनशील पदार्थ में कुछ इस प्रकार हैं, जो अपरिवर्तनशील हैं। यही अपरिवर्तनशीलता उसका स्थिर बिन्दु है। चाहे कोई इसे शक्ति, चित्त या ब्रह्म कहे, इससे उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। हम यह भी देख सकते हैं कि इस परिवर्तनशील वस्तु और स्थिर बिन्दु में कोई तात्त्विक भेद नहीं है। केवल इतना ही है कि एक अपने शुद्ध रूप में है और दूसरा विकृत रूप में। यदि उसकी विकृति को परिशुद्ध किया जाए तो एक ही शुद्ध रूप रह जायेगा। अभी तक इस चिरप्रतिपादित सिद्धान्त को केवल दार्शनिकों की परिकल्पना समझा जाता था, परन्तु भौतिक विज्ञान यह सिद्ध कर रहा है कि भौतिक पदार्थ को शक्ति के रूप में परिणत किया जा सकता है। अणु बम इस परिवर्तन का प्रत्यक्ष प्रमाण है। साथ ही यह भी ध्यान देने की बात है कि वह स्थिर बिन्दु या व शक्ति जो प्रत्येक पदार्थ में अपरिवर्तनीय और विनाशी है भिन्न-भिन्न नहीं हो सकती। भिन्न-भिन्न पदार्थो की शक्तियों में मात्रा का अन्तर हो सकता है, परन्तु स्वभाव का भेद नहीं हो सकता। यह सब ब्रह्म है। ब्रह्म के पीछे एक दृढ़ सिद्धान्त है और इसी दृष्टि से वाक् भी ब्रह्म है। वाक् सूक्ष्म ब्रह्म से भिन्न अलग वस्तु के रूप में हो ही नहीं सकता। स्थूल जगत् ब्रह्म का विवर्त है। यही स्थूल जगत् वाक् का विकार है, क्योंकि रूप और नाम दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उनमें कोई भेद नहीं। अतः वाक् और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि उपनिषदों में जहाँ जीव और जगत् सम्बन्धी अनेक गूढ़ तथ्यों का विवेचन प्रतिपादित किया गया है वहाँ वाक् पर भी अत्यन्त सूक्ष्म रूप से प्रकाश डाला गया है। विचारशैली की भिन्नता द्रष्टव्य होने के कारण और वाक् का मुख्य

विषय न होने के कारण किसी एक स्थान पर वाक् की क्रमबद्ध गवेषणा नहीं मिलती। फिर भी यत्र-तत्र जो विचार दिखाई देते हैं उन्हीं के सहारे हम वाक् को देख रहे हैं कि उपनिषदों में वाक् के प्राय: प्रत्येक अङ्ग पर सूक्ष्म रूप से दृष्टि डाली गई है। लोक जीवन में वाक् का जितना महत्त्व उपनिषद् के ऋषियों ने कहा उससे अधिक कोई क्या कह सकता है। उसके लिए वाक् केवल जिह्वा व्यापार न होकर अन्तरात्मा की पुकार है, वह दैवी है। आज का भौतिक विज्ञान ध्वनि के अनेकानेक व्यापक रहस्यों का उद्घाटन कर प्रतिदिन नया-नया आविष्कार कर रहा है। भाषा विज्ञान वाक् के नित्य नये विश्लेषण में निरत है। परन्तु उपनिषदों में वाक् का स्वरूप है उसकी महत्ता ज्यों कि त्यों है। वाक् की उपासना होती आ रही है और होती रहेगी -

विन्देयं देवतां वाचममृतामात्मनः कलाम्। (भवभूति)

हम आत्मा की कला स्वरूप शाश्वत दैवी वाक् को पावें।

इस प्रकार हमारे साक्षात्कृतधर्मा मनीषियों, आचार्यों तथा विद्वानों ने वेद उपनिषद् आदि के आधार पर वाक् के दार्शनिक स्वरूप का सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन कर उसकी सर्वश्रेष्ठता को प्रतिपादित करने का श्लाघनीय कार्य करके हमें उस पर अग्रसर होने के लिए पाथेय प्रदान किया है। आवश्यकता है, धैर्य, निष्ठा एवं ईमानदारीपूर्वक इस चिन्तन को आत्मसात् करके उस पर निरन्तर गतिशील होने की, जिससे हमारे ज्ञान-विज्ञान के आलोक से यह देश पुनः विश्वगुरु के रूप में प्रतिष्ठित हो सके।

उपनिषदों में मूल्यपरक शिक्षा तथा वर्तमान समय में उसकी उपादेयता

डॉ. चन्दा कुमारी
प्रगत संस्कृत अध्ययन केन्द्र,
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, जोधपुर

उप ब्रह्म सामीप्यं निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया सा उपनिषद् अर्थात् जिसके द्वारा ब्रह्म की समीपता निश्चित रूप से प्राप्त हो उसे उपनिषद् कहा जाता है। **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** तथा **'तत्त्वमसि'** आदि वाक्यों के द्वारा ब्रह्म तथा जीव की एकता का कथन करने के साथ-साथ ब्रह्म की गूढ़ता, आत्मा की अखण्डता, कर्म पुनर्जन्म, विश्व की माया, प्रकृति पुरुष और परमात्मा का विवेक तथा नैतिक तत्त्वों के उपदेश आदि के कारण उपनिषदों का व्यापक महत्त्व सभी तत्त्वदर्शी महर्षियों एवं मनीषियों ने एक स्वर से स्वीकार किया है। ब्लूमफील्ड के अनुसार नास्तिक बुद्धवाद को मिलाकर हिन्दू दर्शन का कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण रूप नहीं है जिसका कुल रूप उपनिषदों में निहित न हो। उपनिषद् समस्त मानव तथा प्राणियों का हित करना चाहते हैं यही कारण है कि जीवन के उदात्त मानवमूल्यों की अभिव्यक्ति प्रत्येक उपनिषद् करता है अर्थात् उपनिषदों में ऐसे मौलिक विचार एवं उपदेश भरे पड़े हैं जो आज भी मानव की दार्शनिक जिज्ञासा को शान्त करने तथा सत्य का दर्शन कराने में समर्थ हैं।

शिक्षा मनुष्य के अभ्युदय के लिए होती है। यह अभ्युदय लौकिक जीवन तथा पालौकिक जीवन दोनों के लिए होता है। शिक्षा की प्रक्रिया मनुष्य के जन्म-जन्मान्तर से चलती रहती है। शिक्षा ही वह सीढ़ी है जिस पर चढ़कर मनुष्य-मनुष्य बनता है अर्थात् वह सभ्य सुसंस्कृत होकर पूर्णत्व को प्राप्त करता है। इसके माध्यम से मनुष्य अपनी बुद्धि को प्रखर बनाकर जीवन के अनेकानेक क्षेत्रों में समुचित मार्ग का अनुसरण करके अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। भारतीय चिन्तन परम्परा में शिक्षा का उद्देश्य अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना है किन्तु वैश्वीकरण के इस युग में मानवीय मूल्यों का क्षरण शिक्षाविदों के लिए गम्भीर चिन्ता का विषय बना हुआ है।

प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य उपनिषदों में प्रतिपादित मूल्यपरक शिक्षा का विवेचन

करना है जो आज के मूल्यपरक शिक्षा के कार्यक्रम को सफल बनाने में सक्षम हैं।

मूल्यपरक शिक्षा – मूल्यपरक शिक्षा से तात्पर्य उस शिक्षा से है जिस शिक्षा से या जिसमें हमारे नैतिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक मूल्यों का सामञ्जस्य हो। इसमें विविध विषयों को मूल्यपरक बनाकर उसके माध्यम से विभिन्न छात्रों के व्यक्तित्व को समाहित करने पर बल दिया जाता है जिससे उनका सन्तुलित एवं सर्वतोमुखी विकास हो सके। मूल्यपरक शिक्षा की यह अवधारणा अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि प्रत्येक समाज व धर्म के कुछ स्थापित मूल्य होते हैं जिनके निर्वाह की अपेक्षा हर व्यक्ति से की जाती है और परम्परा के रूप में इसे ही धार्मिक शिक्षा या नैतिक शिक्षा के नाम से जाना जाता है। मूल्य शब्द अंग्रेजी शब्द वेल्यू का समानार्थी है जिसका अर्थ है योग्यता या महत्त्व। मूल्य को संस्कृत भाषा में इष्ट कहते हैं जिसका अभिप्राय है इच्छित वस्तु। इस आधार पर कह सकते हैं। कि मूल्य वे मानदण्ड हैं जिनके द्वारा लक्ष्यों का चयन किया जाता है। मूल्य आदर्श और यथार्थ के मध्य संयोजक भूमिका का निर्वाह करते हैं। मूल्य शिक्षा को दो अर्थो में प्रयुक्त किया जाता है–

१. मूल्यों की शिक्षा। २. मूल्य समाहित या मूल्यपरक शिक्षा।

प्रथम के अन्तर्गत हम नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा, इतिहास, भूगोल आदि की शिक्षा की भाँति देना चाहते हैं तथा द्वितीय में सभी विषयों में मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से मूल्य समाहित करके उक्त मूल्यों के विकास पर बल दिया जाता है। इस प्रकार मूल्यपरक शिक्षा के निम्नलिखित तत्त्व हैं–

१. विश्वबन्धुत्व की भावना २. सह–अस्तित्व
३. शाश्वत मूल्य–सत्य, धर्म, शांति, प्रेम, अहिंसा ४. पंथनिरपेक्षता

आधुनिककाल में इन मूल्यों को जानने के लिए उपनिषदों का अनुशीलन आवश्यक है, क्योंकि उपनिषदों के नैतिक सिद्धान्त शाश्वत ज्ञान तथा सद्कर्म या सत्याचरण की दिशा की तरफ उन्मुख करते हैं। और कर्म उत्कृष्ट वही होता है जो जीवन के लक्ष्यों की पूर्ति कर सकता हो उपनिषदों में मानव के लिए इन शिक्षाओं का निरूपण विस्तृत रूप में किया गया है।

१. **छान्दोग्योपनिषद्** – यह सामवेद के तवलकार शाखा के अन्तर्गत है। इसके तृतीय अध्याय में आङ्गिरस द्वारा कृष्ण को दी गई अध्यात्मिक शिक्षा के अन्तर्गत सद्गुणों की सूची मिलती है। यथा– मनुष्य के तप, दान, अहिंसा, सत्य ये प्रधान गुण हैं। तथा इसी के साथ मनुष्य के पाँच महापापों का भी वर्णन प्राप्त होता हैं – १. धन का अपहरण, २. सुरापान, ३. परायी स्त्री पर दृष्टि, ४. ब्रह्मचारी की हत्या ५. ...और इन आचरणों में सहयोग। अर्थात् यहाँ उपदेश दिया गया है कि मनुष्यों को अच्छे कर्म करने चाहिए।

पुनः वर्णन है कि - **तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ यह इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा।** अर्थात् इस संसार में जो उत्तम आचरण करते हैं वे निश्चित रूप से उत्तमयोनि को प्राप्त करते हैं तथा जो नीच कर्म करते हैं वे कुत्ते, सुअर तथा चाण्डाल आदि योनि को प्राप्त करते हैं और भी नाना प्रकार के दुःखों का अनुभव करते हैं।

२. **तैत्तिरीयोपनिषद्** - इस उपनिषद् में नीतिबोध का प्रतिपादन विशेष रूप से उपलब्ध होता है। तैत्तिरीयोपनिषद् की शिक्षावल्ली में आचार्य द्वारा स्नातक को दिए गए उपदेश हैं। जो आदर्श जीवन निर्माण के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। आचार्य वेद का अध्ययन कराने के पश्चात् अन्तेवासी को जिस तरह का उपदेश देते हैं ऐसा उपदेश, ऐसी शिक्षा विश्व के किसी भी साहित्य में उपलब्ध नहीं होती है - **सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः, आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः सत्यान्न प्रमदितव्यम् धर्मान्न प्रमदितव्यम्।** इस उपदेश का सार्वकालिक महत्त्व है। इस बात से हमें सकारात्मक ज्ञान मिलता है क्योंकि यह त्रिकाल सत्य है कि जिस प्रकार के हमारे मनोभाव होते हैं उन मनोभावों का प्रभाव हमारे आस-पास के वातावरण पर होता है। हम सिर्फ समाज से लें नहीं उसे दें भी जैसे पर्यावरण प्रदूषण आज की बहुत बड़ी समस्या बनी हुई है क्योंकि हम प्राकृतिक साधनों का केवल उपयोग किए जा रहे हैं। पुनः बताया गया है कि जब विद्यार्थी विद्या को प्राप्त करके समाज में प्रवेश करता है तब समावर्तन समारोह में विशिष्ट रूप से सारगर्भित नैतिक शिक्षा दी जाती है। समाज की दृष्टि में जो कार्य उचित है अर्थात् निन्दनीय नहीं है जिससे समाज में किसी को भी नुकसान नहीं पहुँचता हो वैसा ही आचरण करना चाहिए, जो ज्ञानी हैं वो सदा सम्माननीय हैं- **यान्यनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि। यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। श्रद्धया देयम्। अश्रद्धयाऽदेयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।** इस उपनिषद् में सत्य ही सर्वश्रेष्ठ है क्योंकि प्रत्येक कार्य सत्यभाषण और सत्यभावपूर्वक किए जाने पर ही यथार्थ रूप से सम्पन्न होता है। जो कर्म किए जाएँ अपने कर्त्तव्यपालन में सदा दृढ़ रहना चाहिए और प्रत्येक क्रिया में सत्यभाव और सत्य भाषण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। मानव जिस प्रकार की भावना करता है वैसा ही बन जाता है। उसके संकल्प में यह आश्यर्चजनक शक्ति है। जो मानव स्वयं में जैसी भावना के अनुसार गुण न आकर अभिमान आ गया तो पतन भी हो सकता है। अतः तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है— **अहं वृक्षस्य रेरिवा। कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव। ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि। द्रविणं सवर्चसम्। सुमेधा अमृतोक्षितः। इति त्रिशंकार्वेदानुवचनम्।**

३. **कठोपनिषद्** – कठोपनिषद् में यमराज तथा नचिकेता के वार्तालाप के माध्यम से अनेक नैतिक शिक्षाएँ प्राप्त होती है। यथा **'आशाप्रतीक्षे संगतं सुनृतां चेष्टापूर्ते ....'** के माध्यम द्वारा बताया गया है कि अतिथि सत्कार करने से शीघ्र फलों की प्राप्ति होती है। पुनः **'शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्यात् वीतमन्युर्गोतमो...'** के द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि क्रोध में व्यक्ति कार्य का अकार्य कर जाता है। अतः ऐसा काम नहीं करना चाहिए कि भविष्य ही खराब हो जाए। गीता में भी इस विषय में कहा गया है–

क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।

फिर बताया गया है कि इन्द्रियरूपी बलवान् और दुर्धर्ष घोड़े आपातरमणीय विषयों से युक्त संसाररूपी हरी–हरी घास के जङ्गल की ओर दौड़ना चाहते हैं। किन्तु बुद्धिरूपी सारथी मन रूपी लगाम को खींचकर उन्हें अपने वश में कर लेता है। बुद्धि से रहित इन्द्रियाँ उच्छृङ्खल हो जाती हैं अतः हमें सदैव विवेक तथा बुद्धि से सोच समझ कर काम करना चाहिए। मनुष्य के जीवन में हमेशा दो मार्ग उपस्थित होते हैं श्रेय तथा प्रेय। इन दोनों में हमें उचित का चुनाव करना चाहिए भले वह कठिन हो किन्तु वह सत्य मार्ग होता है तथा गलत काम करने से रोकता है। और जब श्रेय मार्ग का वरण कर लिया जाता है तब वही कर्म स्वतः ही कर्मयोग में बदल जाता है।

४. **प्रश्नोपनिषद्** – शरीर के विकास के लिए अन्न का अत्यधिक महत्त्व है। इसलिए अन्न का निरादर नहीं करना चाहिए और अधिक से अधिक अन्न उत्पादन का प्रयत्न करना चाहिए। सभी प्राणियों का आहार रूप अन्न ही प्रजापति है क्योंकि इसी से सृष्टि का निर्माण होता है।

प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है – **'अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति।'** यही बात तैत्तिरीयोपनिषद् में भी कही गई है – **'अन्नं बहु कुर्वीत'**।

५. **ईशावास्योपनिषद्** – इस उपनिषद् में हमें यह संदेश मिलता है कि किसी भी वस्तु के प्रति बहुत ज्यादा आसक्त नहीं होना चाहिए। तथा साथ ही प्राणी के साथ सम्मानपूर्वक व्यवहार करना चाहिए। दुष्कर्म से दूर रहना चहिए। जिस प्रकार पुलिस तथा न्यायाधीश की उपस्थिति में चोर चोरी नहीं करता उसी प्रकार मनुष्यों को भी यह ज्ञात होना चाहिए कि गलत कर्म करने वाले को परमात्मा हमेशा देखते रहते हैं। इस संसार में सुख देने वाले अनेक पदार्थ हैं परंतु उनका सात्विक उपयोग करना चाहिए। न उनका संग्रह करना चाहिए न ही उन पर स्वामित्व करना चाहिए। अपने उपयोग मात्र लेकर शेष भाग दूसरे के लिए छोड़ देना चाहिए। इसके साथ हम स्वास्थ्य के नियमों का पालन करते हुए दीर्घजीवी बनें।

मनुष्यों को कर्म तथा कर्त्तव्य के मार्ग पर आगे बढ़ते रहना चाहिए। अर्थात् कर्म ही एकमात्र सरल एवं श्रेष्ठ मार्ग है तथा यह कर्म निष्काम होना चाहिए। साथ ही यह उपनिषद् आत्महत्या को पाप बताता है। और इसके साथ ही यह विचार देता है कि किसी से घृणा या द्वेष नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार इन शिक्षाओं में व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्कर्ष का श्रेष्ठतम आदर्श उपस्थित किया गया है। समाज की सभी समस्याओं का हल इसमें सन्निहित है। यदि लोग इस आदर्श को अपने जीवन में अपना लें तो इस धरती पर ही स्वर्ग बन सकता है। एक दूसरे को भगवान् का रूप मानकर सद्व्यवहार करना चाहिए फिर कोई शोक संताप का कारण ही नहीं रहेगा। सुसंस्कृत मनुष्य का यही आदर्श हो सकता है। तो इस प्रकार आदर्श जीवन व्यतीत करने के लिए तथा सच्चे अर्थ में मनुष्य बनने के लिए यह उत्कृष्ट शिक्षा है।

६. **बृहदारण्यकोपनिषद्**— मनुष्य जैसा कर्म करता है वह वैसा ही फल भोगता है। वह सत्कर्म से पुण्यात्मा तथा दुष्कर्म से पापी बनता है। दान तथा दया दोनों मनुष्य के प्रधान गुण हैं। इन दोनों गुणों के सामञ्जस्य से ही मनुष्य जीवन की सही दिशा में बढता है। उदाहरणतया याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी ने कहा है— जो वस्तुएँ मुझे अमरता नहीं दे सकती उन्हें लेकर मैं क्या करूँगी। यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की दिखने वाली वस्तुएँ हमें सत्य तथा ज्ञान के पथ से विमुख करती हैं अतः हमें लोभ का त्याग करना चाहिए। अच्छे आचरण से ही मनुष्य स्वस्थ शरीर तथा योग्य पद को प्राप्त करता है।

७. **मुण्डकोपनिषद्**— यह उपनिषद् बताता है कि सत्य ही मनुष्य के लिए आश्रय है क्योंकि दुष्कर्मों के त्याग तथा सत्कर्मों के अनुष्ठान से लोक में प्रतिष्ठा मिलती है। अतः कहा गया है – **'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पंथा विततो देवयानः।'** पुनः श्रद्धा के बारे में कहा गया है – **'तपः श्रद्धेये ह्युपवसन्यरण्ये।'** अतः सत्य तथा अच्छे विचार की ही संसार में विजय होती है। क्योंकि श्रद्धा तथा सद्विचार द्वारा जिन ऋषियों की कामना सफल हुई है उन्होंने अवश्य ही सत्यलोक को प्राप्त किया है। उन्होंने **वसुधैव कुटुम्बकं** ऐसी भावना रखकर श्रद्धा से सत्य कर्म तथा कर्त्तव्य किया था जिससे संसार विकास की ओर बढ़ता गया। श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी कहा गया है कि सदाचरण नितान्त आवश्यक है।

८. **केनोपनिषद्**— इस उपनिषद् में ब्रह्मज्ञान का प्रतिष्ठा का मूल पद, दम तथा कर्म मानते हैं– **'तस्यै तपो दमः कर्मेति।'** यहाँ उमा हैमवती प्रकरण से आचार के विषय में शिक्षा मिलती है कि साधक को ज्ञान का दम्भ नहीं करना चाहिए वियज का अहङ्कार नहीं करना चाहिए। इस अहम् भाव को समाप्त कर देने पर ही वस्तुतः समाज में शांति कायम हो सकती है। इस अहङ्कार के विषय में छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा गया है– **आहारशुद्धौ**

सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रंथीनां विप्रमोक्षः। मनुष्य को शरीर मन एवं वाणी से कुशल नहीं होना चाहिए। इस उपनिषद् के भाष्य में शङ्कराचार्य ने लिखा है – **'सत्यमिति अमायिता अकौटिल्यं वांचनः कायानाम्।'** वस्तुतः समस्त ज्ञान मानव के अन्तर में अवस्थित होता है केवल उसे प्रबोधन की आवश्यकता होती है और यह प्रबोधन तभी हो सकता है जब मनुष्य अहङ्कार का त्याग करे तथा सदाचरण का पालन सत्यभाषण तथा किसी को कष्ट न देकर तथा लोभ रहित हो जाए।

निष्कर्ष – इस प्रकार उपनिषद् प्रतिपादित यह शिक्षा सार्वकालिक तथा सर्वसामयिक है। इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती है। उपनिषद् द्वारा बताए गये ये ज्ञान भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। आज जबकि शिक्षा के विषय में भारतभर में निरन्तर विचार विमर्श और प्रयोगों का क्रम चल रहा है। संविधान की समवर्ति सूची में सम्मिलित होने के कारण केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सभी स्तरों पर शिक्षा में गुणात्मक परिवर्तन लाने के प्रयत्न हो रहे हैं। केवल सूचनात्मक ज्ञान ही जरूरी नहीं है अपितु आचार तथा व्यवहार के प्रशस्त मार्ग का परिज्ञान तथा परिपालन भी आवश्यक है। उपनिषदों की शिक्षा का आधार आचार है तथा जीवन में आचार युक्त विचार अमूल्य है। आज का विज्ञान सर्वसम्मत रूप से इस तथ्य को स्वीकार करता है कि एक दिन में मनुष्य के मन में लगभग ६० हजार विचार आते हैं और विचार बार-बार दस्तक देते रहते हैं तथा पुनः-पुनः आवृत्ति करने वाले विचारों में उन विचारों की प्रमुखता होती है जो चिन्ता का कारण होते हैं अतः हमारे मन में श्रेष्ठ विचार रखने चाहिए। इसी कारण से उपनिषद् के मूल्यों पर आधारित शिक्षा केवल भूख की तृप्ति को नहीं बताती है वरन् आदर्श जीवन के लिए मार्ग प्रशस्त करती है। आज के समय में जब यह सुनने को मिलता है कि संस्कार आचरण यह सब व्यर्थ की बाते हैं तो यह आधुनिक शिक्षा में जो कमी है उसकी तरफ इशारा करती है। इस भौतिक जगत् में मनुष्य केवल अपने आप को देखता है तथा स्वयं के उपभोग में ही लीन रहता है यही आधुनिक शिक्षा का प्रभाव है। और वहीं वैदिक मूल्यों या उपनिषद् पर आधारित शिक्षा मनुष्य का अज्ञान समाप्त कर उसे कल्याणकारी मार्ग की तरफ ले जाती है। उपर्युक्त कहे गए उपनिषद् के मूल्य आधारित शिक्षा के द्वारा छात्र अपने शरीर, मस्तिष्क और बुद्धि तथा व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करके अपने को इस योग्य बना लेता है कि वह एक गृहस्थ के रूप में समाज के प्रति अपने दायित्वों को पूर्ण करने में सक्षम हो सके। इस शिक्षा के द्वारा वह अपनी तो उन्नति कर ही सकता है तथा साथ के साथ समाज के सख के वृद्धि का भी ध्यान करेगा। आधुनिक शिक्षाविद् जॉन रास्किन का कहना है कि शिक्षा का तात्पर्य जानना नहीं अपितु व्यवहार की शिक्षा देना है। तथा रीड कथन है कि – "Education is a part of life and clearly questions about values in education of values in life, life

values are embodied in educational practice." यद्यपि सरकार मूल्यपरकशिक्षा के लिए प्रयत्नशील है जैसे राष्ट्रीय आयोग ने १९६४.६६ में ही नैतिक एवं मूल्य शिक्षा दोनों को जानने के लिए प्रस्ताव पारित किया है तथा १९८६ में भी राष्ट्रीय शिक्षा नीति में मूल्य परक शिक्षा पर बल दिया गया है। फिर इञ्जीनियरिङ्ग में मूल्यशिक्षा के लिए आईआईटी दिल्ली में एक राष्ट्रीय केंद्र की स्थापना की गई। सभी व्यावसायिक संस्थान भी अपने शिक्षा के कार्यक्रम में मूल्य-शिक्षा को शामिल कर रहे हैं। किन्तु इतने सारे प्रयासों के बाद भी कहीं कमी तो है स्वयं मानव संसाधन विकास मंत्रालय की स्थायी संसदीय समिति ने सन् १९९९ में विचार व्यक्त किया कि "खेद की बात है कि पिछले चार दशक में जो समन्वित प्रयास किए गए उनका परिणाम पूर्ण रूप से सामने नहीं आया। हमारी शिक्षा को मूल्यपरक बनाने के लिए सुनिश्चित योजनाएँ और रणनीतियाँ बनाने का कार्य हो रहा है। स्वामी विवेकानन्द के अनुसार भी शिक्षा और अभ्यास का उद्देश्य मानव निर्माण ही है। सारे प्रशिक्षणों का ध्येय मानव का विकास करना ही है। तो आज मूल्यपरक शिक्षा के कार्यक्रम को सफल बनाने के लिए सार्वभौमिक रूप से स्वीकार प्राथमिक मूल्य, सत्य, निश्छल आचरण, प्रेम, निष्ठा, शान्ति और अहिंसा पर आधृत होना चाहिए, क्योंकि यही शिक्षा विश्व में व्याप्त असामञ्जस्य को दूर करके सन्तुलन तथा समन्वय लाने का सामर्थ्य रखती है। इनके लिए उपनिषदों के मूल्यपरक शिक्षा का ग्रहण आवश्यक है जिससे हमें पता चले कि शिक्षा का अर्थ सूचनाओं का एकत्रीकरण नहीं, अपितु मन और हृदय को प्रबोधित करना है और इस शिक्षा के द्वारा हम 'इदन्न मम' की भावना से विश्व के कल्याण के लिए कर्म करें।

उपनिषदों का अभ्युदय : निःश्रेयसात्मक स्वरूप – एक दृष्टिकोण

डॉ. सुमिता व्यास
अतिथि व्याख्याता, संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर (राज.)

वैदिक विचारधारा में चरित्रशुद्धि और कृत्याकृत्य विवेक को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है, जिन कर्मों की वेद ने अभ्युदय व निःश्रेयस की दृष्टि से प्रासङ्गिकता सिद्ध की है। उन कर्मविशेष की करणीयता या अकरणीयता का निर्णय उसके स्वरूप के आधार पर होना चाहिए न कि कर्त्ता के अतिरिक्त किसी शक्ति की इच्छा पर। जिस कर्म से अभ्युदय-इहलोक और परलोक में कल्याण और मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है।

'यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः'

भारतीय विचारकों व दर्शन के स्रोतों के अनुसार मनुष्य के समस्त दुःखों का मूल अविद्या-अज्ञान है। जहाँ विद्या है, वहीं विवेक है। अतः वह ज्ञान की गवेषणा करता है। ज्ञान का क्षेत्र अनन्त है, जिस किसी पदार्थ की सत्ता है, वह ज्ञान का विषय है। लोक में विद्यमान प्रत्येक पदार्थ को जानना एक आवश्यक कार्य है तथा इसको जानने हेतु शास्त्रों का अनुशीलन महत्त्वपूर्ण है। लोक में ज्ञेय की दृष्टि से छोटे-छोटे जीव का वही स्थान है, जो किसी सामर्थ्यवान् व्यक्ति का है। विभिन्न विद्वानों ने अविद्या और ज्ञाता तथा ज्ञेय के स्वरूप का विभिन्न प्रकार से वर्णन किया है जिसका पूर्ण विश्लेषण शङ्कर द्वारा वर्णित अद्वैतवाद है। इसके अन्तर्गत जगत् के मिथ्यात्त्व का स्वरूप बताया गया है वहाँ तात्पर्य यह नहीं है कि जगत् असत् है। रस्सी (रज्जु) में सर्प की प्रतीति होने पर सर्प तो मिथ्या, पर रस्सी (रज्जु) सत्य है। अतः जगत् रूप से असत्य किन्तु ब्रह्म रूप से सत्य है। औपनिषदिक दर्शन में 'पुनर्जन्म' सिद्धान्त का बहुत बड़ा स्थान है। मनुष्य लोक में जिस प्रकार के कर्म करता है, उसका प्रतिफल उसे पुनः लोक में ही प्राप्त होता है। वेदोपनिषदादि ग्रन्थों में जो विधि-निषेधात्मक वाक्य प्राप्त होते हैं वे वाक्य आदेश वाक्य यथा-पिता के वाक्य पुत्र के लिए, जो पुत्र के कल्याणार्थ होते हैं। देव व ऋषि भी नीचे से ऊपर उठे हैं, ज्ञान की वृद्धि ने उन्हें उच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है। शास्त्रों के अनुशीलन से मनुष्य लोक व लोकोत्तर दृष्टि से

ज्ञान प्राप्त करता हुआ शास्त्रों के औचित्य को स्वयम् अनुभव करता हुआ उस स्तर पर पहुँचता है, जब वह स्वयम् उपदेष्टा बन जाता है और वह मन व शरीर से लोकोपकारक कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है यह उसकी स्वाभाविकी वृत्ति हो जाती है। अविद्या का विनाश विद्या से हो सकता है। मोक्षानुभूति अर्थात् ब्रह्म साक्षात्कार समाधि से होता है और समाधि के लिए अभ्यास व वैराग्य की अपेक्षा है। विक्षिप्त चित्त यहाँ-वहाँ भटकता है स्थिर सत्य का अनुभव चित्त के वासनारहित होने पर ही हो सकता है कठोपनिषद् के अनुसार—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामो येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवति।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि कर्म वासनाओं की तृप्ति के लिए न हो, पर उपशम के लिए हो। लोक में व्यक्ति के लिए कर्त्तव्य की प्रेरणा की दृष्टि से ईशावास्य-उपनिषद् विशेषरूप से कर्त्तव्यशास्त्र का उद्गम माना जा सकता है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।

ईशावास्योपनिषद् का यह मन्त्र लोक में लोभवृत्ति पर अङ्कुश लगाता है। यह दण्ड विधान स्वरूप न होकर आत्म-संयम की दृष्टि को विकसित करता है तथा त्याग की भावना रखते हुए जगत् में व भोगों में आवश्यकतानुरूप प्रवृत्त करता है लोभयुक्त करके नहीं। जैसा कि द्वितीय मन्त्र से स्पष्ट है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

इस प्रकार मनुष्य लोभरहित होकर लोक में कर्म करते हुए रहे जिससे सुख, दुःख, आशा-भय आदि के संस्कार उसको लिप्त न कर सकें। इस प्रकार लोकोपकारक भाव से लोक में रहने के लिए मनुष्य कामना करे— **पश्येम शरदः शतं, जीवेम शरदः शत शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्।।**

मनुष्य अपनी सभी इन्द्रियों के पूर्ण सामर्थ्य की साथ शतायु होने की कामना करता है जिससे वह सतत ज्ञान-साधना कर सके तथा अदीन रहे। व्यक्ति भोगासक्त होने पर ही किसी के समक्ष दीन होता है, अतः समाज में भोगासक्ति के प्रति विरक्ति हो तभी अदीनता आ सकती है इस प्रकार की कामना यहाँ मन्त्र में की गई है।

कठोपनिषद् की द्वितीय वल्ली में परम पुरुषार्थ के सम्बन्ध में एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है-

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः तयोः। श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते (कठ १/२/९)

दो मार्ग श्रेय व प्रेय हैं, श्रेय का चयन कल्याणपरक है तथा प्रेय का चयनकर्त्ता पुरुषार्थ से विपरीत मार्ग पर प्रवृत्त होता है। इसी प्रकार पतञ्जलि के योग-दर्शन में

लोकोपकारक वाक्य प्राप्त होते हैं—

मैत्रीकरुणामुदितापेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयेषु भावनातश्चित्त-प्रसादनम्।।

चित्त का प्रसाद प्राप्त करने के लिए सुख के प्रति मैत्री का अर्थात् संसार में सुख की मात्रा बढ़ाने का दुःख के प्रति करुणा का अर्थात् संसार में दुःख की मात्रा घटाने का, पुण्य के प्रति मुदिता का अर्थात् संसार में पुण्य की मात्रा बढ़ाने का और अपुण्य के प्रति उपेक्षा का, अर्थात् दुराचारी से द्वेष न करते हुए दुराचार को दूर करने का सतत अभ्यास करना होगा। अपनी शारीरिक व बौद्धिक विभूतियों को इस प्रयास में लगाना ही त्याग है। कठोपनिषद् की द्वितीय वल्ली कहती है–

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैन-माप्नुयात्।। (कठ् १/२/२४)

जो दुश्चरित से विरत नहीं हुआ है, जिसकी इन्द्रियाँ वश में नहीं है जिसका चित्त समाधि में स्थिर नहीं है, उसको सत् पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता।

केनोपनिषद् (खण्ड ४ मन्त्र २) में कहा हैं— **तस्मै तयो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि सत्यमायतनम्** उपनिषद् के ऋषियों ने लोक की दृष्टि से प्रस्तुत ज्ञान में कर्म का क्षेत्र कभी भी मनुष्य तक सीमित नहीं किया। इस जगत् में ब्रह्म से लेकर सूक्ष्म जीवाणुओं तक जितने भी स्वरूप हैं; उन सबसे हमारा सम्बन्ध है। उन सबका हमारे ऊपर ऋण है, उन सबके प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग से ही हमारा कल्याण हो रहा है। अतः उन सब के प्रति हमारा कुछ न कुछ कर्त्तव्य है, यद्यपि हम उन सबको नहीं पहचानते हैं जो निरन्तर हमारा उपकार कर रहे हैं और न उन सबकी किसी प्रकार की सेवा कर सकते हैं तथापि इस बात का अनुभव भी हमारे चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करता है। यह समाज में न केवल मानवों में पारस्परिक द्वेष को समाप्त करवाता है, अपितु मनुष्य का सम्पूर्ण प्रकृति व प्राणी जगत् के प्रति भी कल्याण का भाव उत्पन्न करता है। मनुष्य में पदे–पदे दूसरों का ऋणी होने का भाव जाग्रत होता है।

बृहदारण्यक उपनिषद् के पहले अध्याय के चौथे ब्राह्मण का सोलहवाँ मन्त्र लोकोपकारिता का इस प्रकार वर्णन करता है–

अथो अयं वा आत्मा सर्वेषां भूतानां लोकः स यज्जुहोति यद्यजते तेन देवानां लोकोऽयं यदनुब्रूते तेन ऋषीणामथ यत्पितृभ्यो निपृणाति यत्प्रजामिच्छते तेन पितृणामथ यन्मनुष्यान्वासयते यदेभ्योऽशनं ददाति तेन मनुष्याणामथ यत्पशुभ्यस्तृणोदकं विन्दति तेन पशूनां यदस्य गृहेषुश्वापदा वया ँ स्यापिपीलिकाभ्य उपजीवन्ति तेन तेषां लोका यथा ह वै स्वाय लोकायारिष्टिमिच्छेदेवं हैवविदे सर्वाणि भूतान्यशिष्टिमिच्छन्ति।

कर्म में लगा हुआ यह आत्मा सब प्राणियों का लोक अर्थात् आश्रय है। अपने यज्ञ व

पूजन से वह देवों का लोक होता है (अर्थात् देव लोक का निर्माण करता है) अपने अध्ययन और अनुशिक्षण में ऋषियों का, पितरों के लिए बलि अर्थात् श्रद्धापूर्वक त्याग देने व सन्तान द्वारा पितरों का, मनुष्यों को भोजन आदि देने से मनुष्यों का, तृणोदक देने से पशुओं को, पशुओं को भोजन आदि देने से पशुओं का तथा उन कुत्तों, विहङ्गमों, चींटी आदि छोटे प्राणियों का लोक होता है (या उनके लिए योग्य लोक का निर्माण करता है)

इस प्रकार वह सबका भला चाहता है, सब उसका भला चाहते हैं फलतः **बहुजन हिताय बहुजन सुखाय** का सूत्र स्वतः सिद्ध होता है। उपनिषदों में लोकसंग्रहानुसार सत्कर्मों की सूची देने का प्रयत्न नहीं किया गया है तथापि आचार्यों ने सत्य व ब्रह्मचर्य मेव 'तत्' जिसको यज्ञ कहते हैं वह ब्रह्मचर्य ही है। इसी प्रकार ऋषि ने मुण्डकोपनिषद् में कहा है-

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः येनाक्रमयन्तयृषयो ह्याप्तकामा यदा तत्सत्यस्य परमं निधानम्।। (३११-१५-६) इस आत्मा को सत्यज्ञान तप व ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

सत्य की ही विजय होती है असत्य की नहीं। वह देवयान मार्ग है- **सत्य प्रिया हि देवाः।** किसी भी कर्म की सिद्धि इस बात पर निर्भर करती है कि उसके करने में कितनी सत्यता है। इसलिए ऋषियों का आदेश था कि यज्ञात्मक कार्यों के आरम्भ में यह सङ्कल्प किया जाय। **'इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि'** यह मैं असत्य को छोड़कर सत्य को ग्रहण करता हूँ। इस प्रकार के वाक्यों के अर्थ पर मनन करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि औपनिषदिक दर्शन में सदाचरण का लौकिक व पारलौकिक दोनों दृष्टियों से महत्त्व है। उपनिषदों में वे सिद्धान्त रूप से दिए हुए हैं, जिनके आधार पर कोई भी विचारशील मनुष्य अपने लिए कर्त्तव्य का निश्चय कर सकता है। इस प्रकार तपःपूत मनुष्य अपने लिए तो निःश्रेयस का मार्ग ढूंढ ही लेता है। उसके व्यक्तित्व के प्रकाश में मानव समाज भी अभ्युदय के रथ पर आरूढ़ हो सकता है।

ब्राह्मणों व उपनिषदों में आर्य जाति के प्रसिद्ध चार विभागों का वर्णन मिलता है। शतपथ ब्राह्मण ५/५/४/९ में कहा है— **चत्वारो वै वर्णाः। ब्राह्मणा राजन्य वैश्यः शूद्रः।** अर्थात् वर्ण चार ही हैं। मैत्रायणी संहिता ४/४/६— **चत्वारो वै पुरुषा ब्राह्मणो राजन्यो वैश्यः शूद्रः।** मनुष्यों में ब्राह्मण क्यों श्रेष्ठ माना गया है। इस विषय पर शतपथ ब्राह्मण ५/१/५/२ में कहा हैं— **ब्रह्म हि ब्राह्मणः।** अर्थात् वेद ही ब्राह्मण है। वेद आर्य जाति का सबसे बड़ा कोश है। उस कोश की जो कोई रक्षा करता है। वह आर्यों के लिए अत्यन्त मान्य होता था। ब्राह्मण वेद को कण्ठस्थ रखता व कण्ठस्थ कराता था। शतपथ

ब्राह्मण १२/२/१/५ में ब्राह्मणों के त्याज्य कर्मों के लिए लिखा है- **अशिव इव वाऽस्य भक्षो यत्सुराः ब्राह्मणस्य** अर्थात् अकल्याणकारी भोजन के समान ही यह सुरा है जिसका सेवन ब्राह्मणों को नहीं करना चाहिए। ब्राह्मण को ब्रह्मवर्चस-वेद के तेज वाला बनना चाहिए। **तत् ह्येव ब्राह्मणेनैष्टव्य यद् ब्रह्मवर्चसी स्यादिति** (श. ब्रा.१/९/३/१६) ब्राह्मणों को ज्ञानशक्ति से सम्पन्न बलवान् होना चाहिए— **एतानि वै ब्रह्मण आयुधानि यद्यज्ञायुधानि।** (ऐ.ब्रा. ६/१/६)। ऐतरेय ब्राह्मण ८/२२ में लिखा है— क्षत्र हि राष्ट्रम्। अर्थात् बलरूप का अस्तित्व ही राज्य है। बलहीन जातियाँ राष्ट्र को ठीक नहीं रख सकती। गोपथ ब्राह्मण ६/७ में लिखा है- **तस्मादु क्षत्रियो भूयिष्ठं हि पशूनामीष्टे।** (ऐतरेय ब्राह्मण ८/९) में लिखा है- **तद्यत्र ब्राह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धं तदीरवदाहास्मिन् वीरो जायते।** अर्थात् जहाँ ज्ञानशक्ति के आश्रय में बलशक्ति काम करती है वही राष्ट्र सम्पत्तिशाली होता है। इस कथन का स्पष्ट उद्देश्य है कि बल को बुद्धि के अधीन रहना चाहिए। ज्ञानवान् द्वारा बलवान् का मार्गदर्शन होना चाहिए, क्योंकि समाज की सुरक्षा व्यवस्था तथा सुचारुता ज्ञान पर निर्भर है जिसका निर्देश शास्त्र ही करते हैं। वेदादि शास्त्रों में लोक कल्याण को मोक्ष के समान महत्त्व देते हुए अनेक स्थानों पर उल्लेख किया है कि लोक कल्याणार्थ भुजबल व ज्ञानबल को परस्पर मिलकर काम करना चाहिए। जो आधुनिक विचारक प्राचीन दिव्य आर्य जाति को ब्राह्मणों के आधिपत्य के नीचे दबा हुआ समझते हैं, उन्होंने आर्य जाति के भाव को नहीं समझा। आर्य लोग विद्याबल को सब बलों से श्रेष्ठ मानते थे। ब्राह्मण में वह बल सम्पूर्ण रूप से पाया जाता है। इसलिए क्षात्रबल को ब्राह्मणों के साथ मिल कर ही काम करना चाहिए।

यो वै राजा ब्राह्मणादबलीयानमित्रेभ्यो वै सर्वः बलीयान्भवति

श.ब्रा.५/४/४/१५

जो राजा ब्राह्मण से निर्बल है वह शत्रुओं से बलवान् होता है। अर्थात् विद्वान् ब्राह्मणों के मन्त्री आदि पदों को सुशोभित न करने पर राजा के शत्रु बढ़ जाते हैं। वैश्यों के लिए (ऐतरेय ब्राह्मण ८/२६) लिखा है— **राष्ट्राणि वै विशः** अर्थात् वैश्य ही राष्ट्र है। वैश्य के धन कमाने पर ही राज्य में सब वर्णों का काम चलता है। आर्य सभ्यता में शूद्र उसी को कहा गया है जो यत्न करने पर भी पढ़-लिख न सके, मूर्ख का मूर्ख ही रहे। ऐसे व्यक्तियों के काम तो दूसरों की सेवा और उदरपूर्ति ही है। इसीलिए ब्राह्मण कहता है- **'तस्मात्पादावनेज्यन्नातिवर्द्धतेपतो हिसृष्टः।'**

(६/१/११ ताण्ड्य ब्राह्मण)

जो अज्ञानी है वह श्रम से ही अपना जीवन-निर्वाह कर सकता है इसलिए शास्त्र कहता है-

१. **तपो वै शूद्रः** (श. ब्रा. १३/६/२/१० २. **असुर्य्यः शूद्रः।** तै सं. १/२/६/७

अर्थात् श्रम रूप ही शूद्र है। ज्ञानहीन ही शूद्र है। ऐसे मूर्ख के समक्ष वेद पाठ करना व्यर्थ है। अज्ञानी होने के कारण शूद्र को यज्ञ में अधिकार नहीं है।

'तस्माच्छूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तः'

शास्त्रों के विषयवस्तु से ज्ञात होता है कि यह चारों वर्ण साधारणतया जन्म से ही माने जाते थे। ब्राह्मण अपने पुत्र को ब्राह्मण ही बनाना चाहता था पर जन्म से वर्ण एक कड़ा नियम न था। तप से, ज्ञान से, घोर परिश्रम से, एक अब्राह्मण भी ब्राह्मण बन सकता था। इसी प्रकार विद्या-गुणहीन एक ब्राह्मण भी नाममात्र का ही ब्राह्मण रह जाता है। इस का उदाहरण मिलता है-

१. मध्यमाः सरस्वत्यां (कौ. ब्रा. १२/३)

२. ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ते कवषमैलूषं सोमादनयन दास्याः पुत्रः कितवोऽब्राह्मणः कथं नो मध्ये दीक्षिष्येति।....स बहिर्धन्वोदूढह पिपासया वित्त एतदपोनप्त्रीयमपश्यत्, प्र देवता ब्राह्मणे गातरेत इति। ऐ. ब्रा. २/१३/१

ऋषि जन सरस्वती नदी के तट पर यज्ञ करते थे, उन्होंने **'कवष ऐलूष'** को सोम से दूर कर दिया। दासी का पुत्र अब्राह्मण किस प्रकार हमारे मध्य में दीक्षित हुआ है। वह बाहर जङ्गल में गया पिपासा से संतृप्त। उस ने यह अपोनप्त्र देवता वाला सूक्त देखा— **प्र देवत्रा ब्रह्मणे गातुरेतु** (ऋग्वेद १०/३०)

अतः एक दासी पुत्र भी मन्त्रद्रष्टा ऋषि बन गया। तब ऋषियों ने वेदार्थ द्रष्टा ब्राह्मण मानकर पुनः अपने यज्ञ में बुलाया।

शास्त्रों में अभिमान को बड़ा बुरा कर्म माना है। इसलिए शतपथ ब्राह्मण में कहा है- **तस्मान्नातिमन्येत पराभवस्य हैतन्मुखं यदतितमानः।** यह अभिमान अधः पतन का द्वारं है **अभिमानस्य अंश अपि नरंभ्रंशयति।**

इस प्रकार धर्म का साक्षात्कार किये हुए हमारे ऋषियों-महर्षियों के वे तपः पूत चिन्तन एवं अनुभवात्मक ज्ञान जो शास्त्र रूप में निबद्ध हैं, पदे-पदे हमारा उत्कृष्ट मार्गदर्शन करते हैं तथा वे इस प्रकार का दिव्य पाथेय प्रदान करते हैं जिससे मनुष्य का ऐहलौकिक एवं पारलौकिक किं वा अभ्युदय एवं निःश्रेयसरूप सन्तुलित विकास हो सकता है। आवश्यकता है धृति, निष्ठा एवं ईमानदारीपूर्वक उस मार्ग पर अग्रसर होने की,जो कि निश्चित रूप से सत्यं शिवं सुन्दरम् के रूप में योगक्षेम कारक है।

उपनिषद् : एक दार्शनिक चिन्तन

डॉ. श्यामलाल
व्याख्याता, संस्कृत विभाग, चौ.ब.रा.गौ.
राजकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
श्रीगङ्गानगर

उपनिषद्यते–प्राप्यते ब्रह्मात्मभावोऽनया इति उपनिषद्।

अर्थात् जिससे ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सके, वह उपनिषद् कहलाती है। उपनिषदों में प्रमुखतया ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मविद्या का ही विवेचन तथा वर्णन किया हुआ है, जिससे उपनिषद् को अध्यात्मविद्या भी कहते हैं। ब्रह्म के प्रतिपादक वेद के शिरोभाग अथवा अन्त में होने से इन्हें वेदान्त या उत्तरमीमांसा भी कहा जाता है। ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान और ब्रह्मविद्या ये सब समानार्थक शब्द हैं। वेद के अङ्गभूत संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक में से ही ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक भागों को पृथक् कर उनको 'उपनिषद्' नाम दिया गया है।

अमरकोषकार उपनिषद् शब्द का अर्थ – **'धर्मे रहस्युपनिषत् स्यात्'** लिखते हैं, इसके मतानुसार 'उपनिषत्' शब्द गूढ़ धर्म एवं रहस्य के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड है। यह चिरप्रदीप्त वह ज्ञानदीपक है जो सृष्टि के आदि से प्रकाश देता चला आ रहा है। और लयपर्यन्त पूर्ववत् प्रकाशित रहेगा। इसके प्रकाश में वह अमरत्व है, जिसने सनातन धर्म के मूल का सिञ्चन किया है। यह जगत्कल्याणकारी भारत की अपनी निधि है, जिसके सम्मुख विश्व का प्रत्येक स्वाभिमानी सभ्य राष्ट्र श्रद्धा से नतमस्तक रहा है और सदैव रहेगा। अपौरुषेय वेद का अन्तिम अध्याय रूप यह उपनिषद् ज्ञान का आदिस्रोत और विद्या का अक्षय भण्डार है। वेद विद्या के चरम सिद्धान्त –

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन्।[1]

का प्रतिपादन कर उपनिषद् जीव को अल्पज्ञान से अनन्तज्ञान की ओर, अल्पसत्ता और सीमित सामर्थ्य से अनन्त सत्ता और अनन्त शक्ति की ओर, जगद्दुःखों से अनन्तानन्द की ओर और जन्म–मृत्यु बन्धन से अनन्त स्वातन्त्र्यमय शाश्वती शान्ति की ओर ले जाती है।

वेदों के कर्मकाण्ड भाग की तो गीता में अप्रशंसा सी की है परन्तु उपनिषदों से ही तो

---

१ त्रिपद्विभूतिमहाना ३/३

गीता की उत्पत्ति हुई है-वह उपनिषद् रूपी गायों का दूध है और जैसा कि गीता के प्रत्येक अध्याय को समाप्त करने वाले शब्दों से सूचित है, गीता स्वयं भी एक उपनिषद् है। उपनिषदों के अनेक मन्त्र प्राय: ज्यों-के-त्यों गीता में गुम्फित हैं।

अशाश्वत, जड़, परस्वरूप, सांसारिक पदार्थों को छोड़कर शाश्वत, विज्ञानघन, आनन्दमय निजस्वरूप आत्मा को पहचानने का और उससे तन्मय हो जाने का जो दिव्य और सनातन ज्ञान आदिम काल में उद्भूत-अवतरित-हुआ था, वह उपनिषदों में निहित है। उपनिषदों का लक्ष्य है- **'आत्मानं विद्धि'** आत्मा को अपने-आपको जानो, पहचानो। जो इस आत्मा को नहीं जानते और उसके स्वरूप से विमुख रहते हैं, वे आत्मघाती हैं, उनकी अधोगति होती है -

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृता:।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:।।[२]

आत्मज्ञान ही विद्या है और शेष अविद्या। अविद्या से मोहजनक विनश्वर लौकिक सुख भले ही प्राप्त हो जायें, परन्तु अनन्त और वास्तविक आनन्द (अमृतत्व) तो विद्या से ही उपलब्ध हो सकता है। जो विद्या से रहित है, वह न तो स्वयं कल्याण-पथ पर चल सकता है और न दूसरों का ही मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है-

अविद्यायामन्तरे वर्तमाना स्वयं धीरा: पण्डितम्मन्यमाना:।
दन्द्रम्यमाणा: परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:।।[३]

किन्तु विद्या वही सुफल दे सकती है जो सच्ची और हार्दिक हो ; मिथ्या या कपटपूर्ण होने पर तो वह विद्या (या विद्याभास) अविद्या से भी अधिक अनर्थकारिणी हो जाती है -

अन्धंतम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्याया ँरता:।।[४]

विद्या श्रेय है और अविद्या प्रेय है। प्रेय से श्रेय अधिक उपादेय है। जो विद्या और अविद्या की भिन्न-भिन्न सिद्धियों को समझता है और अपने उच्चतर एवं एकमात्र लक्ष्य आत्मोपलब्धि से च्युत नहीं होता, वह दोनों का सदुपयोग करके लाभ उठा सकता है अर्थात् अविद्या से मृत्यु अर्थात् लौकिक कष्टों को दूर करके और इस प्रकार अपेक्षाकृत सुखपूर्वक विद्या का साधन करके अमृतत्व को प्राप्त कर सकता है।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।[५]

परन्तु यथार्थ और एकमात्र उद्देश्य तो अमृतत्व की प्राप्ति ही रखनी चाहिए और अन्य सब कामनाओं को हेय ही समझना चाहिए।

---

२ ईशावास्योपनिषद् ६३
३ कठोपनिषद् १/२/५
४ ईशावास्योपनिषद् ६६
५ ईशावास्योपनिषद् १४

उपनिषद् सनातन दार्शनिक ज्ञान के मूल स्रोत हैं। वे केवल प्रखरतम बुद्धि के ही परिणाम नहीं है, अपितु प्राचीन ऋषियों की अनुभूति के फल हैं। अनेक बुद्धिजीवी आज भी वेदादि शास्त्रानुमोदित महर्षियों के द्वारा संसेवित प्राचीनतम मार्ग का विशेषतया समादर करते हैं। महर्षि लोग लौकिक विषयों के विज्ञान की अपेक्षा परम पुरुषार्थ के साधन पारमार्थिक आत्मज्ञान को अत्यन्त उत्कृष्ट मानते थे। इसी के द्वारा उन्होंने सम्पूर्ण स्वर्गादि लोकों पर विजय प्राप्त कर परम पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त किया था। अपनी अत्यन्त विवेकशील बुद्धि के द्वारा प्राप्त तेज से परम कल्याण के पथ पर अग्रसर हुए थे। इस बात को पाश्चात्य देशों के विद्वान् भी आश्चर्यचकित चित्त से मुक्तकण्ठ हो स्वीकार करते हैं इस प्रकार का आत्मज्ञानजनित गौरव, जो हम भारतीयों को प्राप्त हो सका था, हमारे उपनिषद् ग्रन्थों के अनुशीलन से ही सम्भव हुआ था।

अतएव आत्मा के एकत्त्व का प्रतिपादन करना, भेद को औपाधिक बतलाना, जीवात्मा और परमात्मा में भी वास्तविक भेद का अभाव बतलाना, आत्मा की सच्चिदानन्द-एकरसरूपता का अनुभव कराना- आदि सब कुछ उपनिषद् के कार्य हैं। इसी में समस्त उपनिषदों का विशेषत: 'ईशावास्य' से लेकर 'कैवल्य' पर्यन्त बारह उपनिषदों का परम तात्पर्य है। आचार्य शङ्कर भगवत्पाद ने भी अपने भाष्य में इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त किया है -

सैन्धवघनवद् अनन्तरमब्राह्यमेकरसं ब्रह्मेति विज्ञानं सर्वस्यामुपनिषदि प्रतिपिपादयिषितोऽर्थः। ..... तथा सर्वशाखोपनिषत्सु च ब्रह्मैकत्वविज्ञानं निश्चितोऽर्थः।।[६]

अर्थात् 'ब्रह्म नमक के डले के समान अन्तररहित अर्थात् व्यवधानशून्य अविच्छिन्न है, वह बाह्यभेद से रहित है अर्थात् बाहर से कुछ और भीतर से कुछ ऐसा नहीं है तथा सर्वदा एकरस है। सम्पूर्ण उपनिषद् में इसी विज्ञान का प्रतिपादन करना अभीष्ट है।.....

इसी प्रकार सम्पूर्ण शाखाओं की उपनिषदों में भी 'ब्रह्म की एकता का विज्ञान' ही सिद्धान्तभूत अर्थ है।

इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम्।[७]

अर्थात् 'सारी उपनिषदें आत्मा की एकता का ही प्रतिपादन करने वाली हैं; यही मानना अभीष्ट है।'

इस विषय में अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा की एकता तथा सब जीवों की परस्पर एकता के प्रतिपादन में और आत्मा अखण्डानन्दरूप, चिन्मय एवं एकरस है- इस तथ्य के वर्णन में इन सभी उपनिषदों का कण्ठस्वर एक है। इस विषय को लेकर उनमें तनिक भी

---

६ बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.१०
७ मुण्डकोपनिषद् १।१३

मतभेद नहीं है। यह बात नीचे उद्धृत किये हुए वचनों से स्पष्टत: जानी जा सकती है-

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।।[८]

अर्थात् जो सब भूतों को आत्मा में ही देखता है तथा सब भूतों में आत्मा को ही देखता है वह इस सर्वात्मभाव के दर्शन के कारण किसी से भी घृणा नहीं करता।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते।।[९]

अर्थात् 'जो वाणी के द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता। जिसके द्वारा वाणी अभिव्यक्त होती है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो। अज्ञानीजन जिस देश-कालादि से परिच्छिन्न वस्तु की उपासना करते हैं, यह ब्रह्म नहीं है।'

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा, एकं रूपं बहुधा य: करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।[१०]

अर्थात् 'जो एक, सबको अपने वश में रखने वाला और सब प्राणियों का अन्तरात्मा है तथा जो अपने एक रूप को ही नाना रूपों में व्यक्त करता है- अपनी बुद्धि में स्थित उस आत्मदेव को जो धीर अर्थात् विवेकी पुरुष देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, दूसरों को नहीं।' यथा-

परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य। स सर्वज्ञ: सर्वो भवति।[११]

अर्थात् 'हे सोम्य! वह जो निश्चयपूर्वक उस तपोविहीन, शरीररहित, लोहितादि गुणों से शून्य शुद्ध एवं अविनाशी पुरुष (आत्मा) को जानता है, वह उस परम अक्षरब्रह्म को ही प्राप्त होता है, वह सर्वज्ञ और सर्वरूप हो जाता है।'

हिरण्ये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्।
यच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदु:।।[१२]

अर्थात् 'वह निर्मल तथा निष्कल अर्थात् अवयवरहित ब्रह्म हिरण्मय अर्थात् ज्योतिर्मय परमकोश में स्थित है। वह शुद्ध तथा समस्त ज्योतिर्मय पदार्थों का भी प्रकाशक है और वही परम तत्त्व है, जिसे आत्मज्ञानी जानते हैं।

अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्त शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय:।[१३]

'वह दृष्टि का विषय नहीं, व्यवहार का विषय नहीं, उसे हाथों द्वारा ग्रहण नहीं किया

---

८ ईशोपनिषद् ६
९ केन. १/४
१० कठोपनिषद् २/२/१२
११ प्रश्नोपनिषद् ४/१०
१२ मुण्डकोपनिषद् २/२/९

जा सकता। उसकी परिभाषा नहीं हो सकती। वह अचिन्त्य है, अनिर्वचनीय है, जाग्रतादि सभी अवस्थाओं में एकात्म प्रत्यय रूप है, प्रपञ्चकृत धर्मों का वहाँ अभाव है, वह शान्त है, शिव है, अद्वैत है–ऐसे परम तत्त्व को ज्ञानीजन परमात्मा का चतुर्थ पाद मानते हैं। वही आत्मा है, वही जानने योग्य है।'

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः।[१४]

'वह जो यह पुरुष में अर्थात् पञ्चकोशात्मक देह में है और वह जो आदित्य में है– वह एक है'।

यत्किञ्चेदं प्राणिजङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं यत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म।[१५]

अर्थात् 'जो कुछ यह जङ्गम जीवसमुदाय है, जो पक्षी है, जो यह स्थावर जगत् है, वह प्रज्ञानेत्र है अर्थात प्रज्ञा में दृष्ट होता है। प्रज्ञान में ही प्रतिष्ठित है। लोक प्रज्ञानेत्र है, प्रज्ञा ही उसकी प्रतिष्ठा है। प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

ऐतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो।[१६]

'हे श्वेतकेतु! एतद्रूप ही यह सब कुछ है, यह सत्य है, यह आत्मा है, वह तुम हो।'

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम्।।[१७]

अर्थात् 'जिसमें पाँच पञ्चजन (गन्धर्व, पितर, देवता, असुर और राक्षस अथवा ब्राह्मणादि वर्ण ओर निषाद) तथा अव्याकृत प्रकाश प्रतिष्ठित है, उस आत्मा को ही मैं अमृत ब्रह्म मानता हूँ। उस ब्रह्मा को जानने वाला मैं अमृत ही हूँ।'

निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्।।[१८]

अर्थात् 'जो कला अर्थात् अवयवरहित है निष्क्रिय है, शांत, निर्दोष और निर्लेप है, जो अमृत का सर्वोत्तम सेतु है और जिसका ईंधन जल चुका है, उस धूमादिशून्य अग्नि के समान दीप्तिमान् है।'

यत्परं ब्रह्म सर्वात्मा विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नित्यं स त्वमेव त्वमेव तत्।।[१९]

अर्थात् 'जो परब्रह्म सबका आत्मा, विश्व का महान् आयतन, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर

---

१३ माण्डू. ७
१४ तैत्तिरीय २।८।५
१५ ऐत. ३।३
१६ छान्दोग्य. ६।८।७
१७ बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४।७
१८ श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।१९
१९ कैवल्य १।१६

और नित्य है; वह तुम्हीं हो, तुम्हीं वह हो।'

उपर्युक्त किञ्चित् वचनों द्वारा दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। इन उपनिषदों में इस प्रकार के अर्थ वाले सैकड़ों वचन हैं, जिनका परमतात्पर्यस्वरूप एक ही अर्थ है- **'एकरस अखण्ड आनन्दस्वरूप ब्रह्म और आत्मा की एकता का निरूपण करना।'**

यद्यपि लोक में एक सौ आठ उपनिषद् प्रचलित हैं और मुक्तिकोपनिषद् में भी उनके नाम ले-लेकर गणना की गई है, तथापि उनमें प्रचलित बारह उपनिषदों की ही प्रधानता तथा सर्वोपादेयता है। इनमें बतलाये हुए अर्थ का ही अधिकांश उपनिषदें अनुवाद करती है। अखण्डैकरस निर्गुण, क्रियाकारक से शून्य, सर्वात्मा, सच्चिदानन्दघन में परम तात्पर्य रखना ही इन द्वादश उपनिषदों की सर्वोत्तमता और सर्वादरणीयता का मुख्य कारण है। वस्तुत: अखण्ड-आनन्दैकरसस्वरूप ब्रह्म ही उपनिषद्-प्रतिपादित तत्त्व है, ऐसा रुति ने ही कहा है।

अत्यन्त गहन, अत्यन्त दुर्लभ, अतिनिगूढ़ आत्मतत्त्व का प्रतिपादन करने से ही उन उपनिषदों को रहस्यात्मक माना गया है तथा उन-उन ग्रन्थों में वैसा कहा भी गया है। तात्पर्य यह है कि रहस्य के अर्थ में 'उपनिषद्' शब्द का प्रयोग प्राय: भिन्न-भिन्न उपनिषद्-ग्रन्थों में देखा गया है। उपनिषदों में नाना प्रकार की जो अनेक आख्यायिकाएँ गुरु-शिष्य-संवादरूप में, विद्वानों के पारस्परिक प्रश्नोत्तर रूप में तथा उपदेश रूप में प्राप्त होती हैं, उन सबका उद्देश्य है ब्रह्म-विद्या की सर्वश्रेष्ठता तथा सर्वापेक्ष अधिक उपादेयता का प्रतिपादन करना। अनित्य वस्तुओं की ओर से पुरुषों में वैराग्य उत्पादन कर ब्रह्मविद्या की ओर स्वत: उन्हें उन्मुख करना उनका लक्ष्य है- अतएव वे आख्यायिकाएँ सत्य हैं या असत्य-इस बात का अधिक आग्रह नहीं करना चाहिए। इसीलिए भिन्न-भिन्न स्थलों पर कहा गया है कि - **'आख्यायिका तु विद्या- ग्रहणविधिप्रदर्शनार्था विधिस्तुत्यर्था च राजसेवितं पानीयमितिवत्। विद्याप्राप्त्युपायप्रदर्शनार्थैवाख्यायिका।'**

आख्यायिका तो विद्याग्रहण की विधि प्रदर्शित करने के लिए तथा विधि की प्रशंसा करने के लिए है। जैसे किसी जल को श्रेष्ठ बताने के लिए यह कह दिया जाये कि यहाँ का पानी तो राजा भी ग्रहण कर चुके हैं। विद्याप्राप्ति का उपाय क्या है, यह दिखलाने के लिए भी आख्यायिका दी जाती है। इसी प्रकार उन उपनिषदों में पञ्चाग्नि-विद्या, संवर्ग-विद्या, प्राणाग्निहोत्र-विद्या आदि विद्याओं में तथा मनुष्य से लेकर ब्रह्मा तक आनन्द के तारतम्य का निर्देश, प्राण आदि की श्रेष्ठता और कनिष्ठता का कथन, जीवन की विश्व, तेजस् और प्राज्ञ इन तीन अवस्थाओं का निरूपण करना और गुरु-शिष्यों के वंश-वर्णन आदि विषयों में भी वही दृष्टि रखनी चाहिए। सर्वदा अनादि अविद्या के विलास में विकसित तथा क्रिया, कारक और फलादि रूप में भासित होने वाले इस मिथ्या प्रपञ्च को विद्या के द्वारा तिरोहित करके नित्य, शुद्ध, बुद्धि, मुक्त, सच्चिदानन्दैकरस अद्वैत ब्रह्म के रूप में अवस्थित होना ही परम पुरुषार्थ है, उसकी प्राप्ति में पुरुष की कृतकृत्यता है- इसके प्रतिपादन के लिए ही उपनिषद् प्रवृत्त होते हैं, यही ज्ञान की पराकाष्ठा उपनिषदों में वर्णित है।

मुण्डकोपनिषद् में अभ्युदय और निःश्रेयस् की अवधारणा

डॉ. सुनीता जैसवाल
विभागाध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
चकिया, चन्दौली (उ.प्र.)

उपनिषद् वेदों के अन्तर्गत आने वाले प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थ हैं और ये ब्रह्मविद्या का उपदेश देते हैं वेदों के ज्ञानकाण्ड का नाम उपनिषद् है। उपनिषद् को 'वेदान्त' या 'आम्नायमस्तक' भी कहा जाता है। उपनिषद् और रहस्य ये दोनों शब्द पर्यायवाची हैं।

वेद के शीर्षस्थानीय भाग का नाम वेदान्त है। परमरहस्यभूत आत्मतत्त्व या ब्रह्म के रहस्य को प्रकट करने वाला ग्रन्थ रहस्य या उपनिषद् ही है।

मुण्डकोपनिषद् एक अथर्ववेदीय उपनिषद् है। यह मुण्डित अर्थात् संन्यासियों के लिए रचित है। इसमें तीन मुण्डक हैं और प्रत्येक मुण्डक दो खण्डों में विभक्त है। इस उपनिषद् में ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है। वेदान्त शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग **'वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्थाः** ३/२/६ इसी उपनिषद् में प्राप्त होता है।[1]

षोडश संस्कारों से संस्क्रियमाण व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य पुरुषार्थचतुष्टय ही है। शरीर में निवास करने वाला जीवात्मा 'पुरुष' कहा जाता है। और उसका अभीष्ट पुरुषार्थ है।

पुरि देहे शेते इति पुरुषः। पुरुषैरर्थ्यते प्रार्थ्यते इति पुरुषार्थः।[2]

पुरुष के चार प्रमुख विभाग है– शरीर, मन, बुद्धि तथा भूतात्मा, इनकी शुद्धि हेतु मनुस्मृति में कहा है कि –

अद्भिर्गात्रणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्द्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति।। (मनुस्मृति)[3]

अर्थात् जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तेज से भूतात्मा (जीवात्मा) तथा ज्ञान से बुद्धि की शुद्धि होती है। जहाँ जल आदि पृथक्–पृथक् चार पदार्थों की आवश्यकता भी होती है। ये चारों आवश्यक पदार्थ हैं– अर्थ, काम, धर्म एवं मोक्ष। शरीर पोषण् के लिए अर्थ, काम, धर्म एवं मोक्ष। शरीर पोषण के लिए अर्थ की, मनस्तुष्टि के लिए काम

की, बुद्धि हेतु धर्म की और जीवात्मा श्रीयुक्त के लिए मोक्ष की आवश्यकता होती है। इस प्रकार पुरुष के अभीष्ट पदार्थ चार हैं – अर्थ, काम, धर्म और मोक्ष।

पुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में धर्म वह तत्त्व है जो अर्थ और काम को मर्यादित करके लोक सुख अभ्युदय तथा मोक्षपरक परलोक सुख अर्थात् निःश्रेयस् की सिद्धि में सहाय है, जैसा कि महर्षि कणाद ने लिखा है –

'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'[४] (वैशेषिक दर्शन)

अर्थात् अभ्युदय का तात्पर्य उतने ही अर्थ तथा काम के सेवन से है जितने के ग्रहण से शरीर मात्रा एवं मनस्तुष्टि का निर्वाह हो जाय तथा अर्थ–काम में आसक्ति उत्पन्न न हो।

अभ्युदय का अर्थ है उन्नति, सम्पन्नता, सौभाग्य, सफलता, ऊँचा उठना, उत्सव, उपक्रम, उत्सव का अवसर, आरम्भ आदि।

परमतत्त्व का यथार्थ ज्ञान ही दर्शन कहलाता है। यह प्रभा अर्थात् ज्ञान संशय, विपर्यय एवं भ्रान्ति से रहित होता है। भारतीय दार्शनिक केवल तत्त्व की बौद्धिक व्याख्या से ही सन्तुष्ट नहीं होता बल्कि वह तत्त्व की अनुभूति भी प्राप्त करना चाहता है।

भारतीय दर्शन में दो प्रकार की अनुभूतियाँ स्वीकार की गई हैं – ऐन्द्रिय तथा अनैन्द्रिय। इन दोनों अनुभूतियों में अनैन्द्रिय अनुभूति जिसे आध्यात्मिक अनुभूति भी कहा जाता है, महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि तत्त्व का साक्षात्कार आध्यात्मिक अनुभूति से ही सम्भव है। आध्यात्मिक अनुभूति बौद्धिक ज्ञान से उच्च होती है, क्योंकि बौद्धिक ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य द्वैत विद्यमान रहता है जबकि आध्यात्मिक ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का भेद नष्ट हो जाता है।

भारतीय दर्शन का परम प्रयोजन अपवर्ग सिद्धि है और यही अपवर्ग जीवन के पुरुषार्थ चतुष्टय में चरम पुरुषार्थ है। परम पुरुषार्थ मोक्ष के सिद्धयर्थ व्यावहारिक साधनों की खोज ही दर्शन है। यह निश्चित तथ्य है कि संसार के समस्त प्राणी आध्यात्मिक आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन त्रिविध तापों से संतप्त हैं। चूँकि दुःख असह्यवेदनीय होता है अतः दुःख विघात से उद्विग्न मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह सुख की प्राप्ति करे। जिसके लिए वह दुःखों के समूल उच्छेद का प्रयत्न करता है। त्रिविध दुःखों के अपघात का यही प्रयत्न दर्शन है तथा ताप पीड़ित मान की इस क्लेशपूर्ण संसार से दुःखत्रय की ऐकान्तिक (निश्चित रूप से) और आत्यन्तिक (सदा के लिए) निवृत्ति की स्थिति ही मोक्ष की स्थिति है जिसे निःश्रेयस् भी कहते हैं।

निःश्रेयस, का अर्थ है नितरां श्रेयः, निःश्रेयसम् अर्थात् पूर्णरूपेण मुक्ति, अधिक कल्याणकारी मार्ग, विद्या का मार्ग, वरीय श्रेष्ठतर, अधिक आनन्ददायक सर्वोत्तम श्रेष्ठतम, अधिक सुखी, सौभाग्यशाली, प्रियतर, सदुण पुण्यकर्म, शुभ, कल्याण, नैतिक गुण, धार्मिक

गुण, आनन्द सौभाग्य, मङ्गल, आशीर्वाद, शुभपरिणाम, शुभावसर मोक्ष, मुक्ति आदि।

कोष ग्रन्थों में 'मोक्ष' शब्द, का मुक्ति, छुटकारा, बचाव, स्वतन्त्रता, उद्धार, परित्राण, मोचन, परममुक्ति, अन्तिम पुरुषार्थ, आत्मा की पुनर्जन्म से मुक्ति, अधःपतन, अवपतन, गिरना, खेलना, ढीला करना, बन्धनमुक्त करना, बिखेरना, फेंकना, निशाना लगाना, परिशोध करना आदि विस्तृत अर्थ सुनिश्चित किया गया है।[५]

अमरकोष के अनुसार—

'मुक्तिः कैवल्यनिर्वाणश्रेयो निःश्रेयसामृतं मोक्षोऽपवर्गः।' (अमरकोष)[६]

अर्थात् मुक्ति, कैवल्य, निर्वाण श्रेयस, निःश्रेयस, अमृत, मोक्ष, अपवर्ग ये मोक्ष के आठ अभिधान हैं।

मुण्डकोपनिषद् में बन्धन अर्थात् दुःखों का मूल कारण, दुःख का स्वरूप, बन्धनग्रस्त जीव का लक्षण, मोक्ष प्राप्ति के विविधोपाय एवं साधन, निःश्रेयस के भेद तथा निःश्रेयस् के स्वरूप का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है।

मुण्डकोपनिषद् में बन्धन का मूल कारण अविद्या को बताते हुए कहा गया है कि अविद्या काम और सकाम कर्म का करण है इसलिए असार और दुःख की जड़ है तथा पुनर्जन्म जरा और मृत्यु तथा भवबन्धन का मूल कारण है।

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेया येऽभिनन्दति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि याक्ति।।[७]

मुण्डकोपनिषद् १/२/७

मुण्डकोपनिषद् में बन्धनग्रस्त जीव को एक ही वृक्ष पर नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वरूप सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा, मायोपाधि ईश्वर के साथ निवास करने वाला बताया गया है तथा जीव को अविद्या, काम, कर्म, राग और वासना के आश्रयभूत लिङ्गदेहरूप उपाधि से युक्त होने के कारण अज्ञानतावश कर्मफल का भोग करने के कारण 'भोक्ता' कहा गया है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।[८]

उक्त मन्त्र 'ऋग्वेद'[९] तथा 'अथर्ववेद'[१०] में भी इसी रूप में आया है।

मुण्डकोपनिषद् में बन्धन का तथा बन्धग्रस्त जीव का स्वरूप वर्णित करते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार अन्धे व्यक्ति के द्वारा ले जाए जाने वाले किसी अन्धे व्यक्ति को लक्ष्य तक नहीं पहुँचा पाता है इधर उधर भटकता रहता है ठीक उसी प्रकार अविद्याग्रस्त मूर्ख व्यक्ति बारम्बार आघात सहते हुए भटकते रहते हैं।

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।।[११]

बन्धनग्रस्त अर्थात् अविद्याग्रस्त जीव को कर्मफलविषयक राग के कारण तत्त्व का ज्ञान नहीं होता है, इसलिए वे दुःखार्त्त होकर कर्मफल क्षीण हो जाने पर स्वर्ग से च्युत हो जाते हैं।

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः।
यत्कर्मिणों न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते।।[१२]

बन्धनग्रस्त महामूढ़ व्यक्ति इष्ट अर्थात् यागादि श्रौतकर्म और पूर्व अर्थात् वापी कूप तडागादि स्मार्तकर्मों को ही सर्वोत्तम पुरुषार्थ का साधन मानते हैं तथा प्रमूढ़-प्रमतावश पुत्र, पशु और बान्धवादि में आसक्त रहते हुए आत्मज्ञान संज्ञक किसी अन्य श्रेय साधन को नहीं मानता है तथा स्वर्ग के उच्च स्थान में अपने सुकृत अर्थात् भोगायतन (पुण्यभोगार्थ प्राप्त शरीर) में कर्मफल का अनुभव अपने अवशिष्ट कर्मानुसार पुनः इसी मर्त्यलोक अथवा इससे निकृष्टतर तिर्यङ् नरकादिरूप लोको या योनियों में प्रवेश करता है—

इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्टे त सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति।।[१३]

मुण्डकोपनिषद् में मोक्ष प्राप्ति के अनेक साधन एवं उपायों का वर्णन प्राप्त होता है। इस उपनिषद् में सर्वप्रथम पराविद्या द्वारा अविद्याग्रन्थि के नाश को मोक्ष का हेतु बताया गया है –

अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।[१४]

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार ब्रह्म और जगत् के अभेदज्ञान तथा ब्रह्मज्ञान के द्वारा अविद्याग्रन्थि के नाश का उपाय बताते हुए कहा गया है –

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद्यो वेद।
निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।।[१५]

ऐहिक और पारलौकिक भोगों की असारता को जानकर उनके प्रति विरक्त एवं संन्यासोन्मुख होकर परमतत्त्व के वास्तविक तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए ब्रह्मनिष्ठ गुरूपसदन का विधान किया गया है–

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।[१६]

मनुष्य में ब्रह्मज्ञान की प्राप्त्यर्थ जिज्ञासा का होना परम आवश्यक है क्योंकि यह आत्मदर्शन का प्रधान साधन है, कठोपनिषद् में भी यह तथ्य वर्णित है –

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।।[१७]

तप अर्थात् आश्रमविहित कर्मों का सेवन, विषयासक्ति से रहित अर्थात् जिनकी इन्द्रियाँ विषयों से निवृत्त हो गई हैं अर्थात् शान्त या इन्द्रिय निग्रह, क्षीणपाप–पापरहित (विरज) तथा श्रद्धा (हिरण्यगर्भादि विषयक विद्या का सेवन) को आत्मज्ञान अर्थात् मोक्ष का साधन बताया गया है–

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।।[१८]

पुनः सत्य, तप, सम्यक्ज्ञान तथा ब्रह्मचर्य को मोक्ष प्राप्ति का साधन बताते हुए कहा गया है –

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।[१९]

प्रकारान्तर से सत्य अर्थात् अनृत को पुनः पृथक् रूप में महत्ता प्रदान करने के लिए मोक्ष का साधन बताया गया है–

सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्।।[२०]

मुण्डकोपनिषद् में प्रसन्नचित्त, गर्व आदि दोषों से रहित तथा शमसम्पन्न अर्थात् बाह्य इन्द्रियों की उपरति से युक्त और सभी ओर से विरक्त हुए शिष्य को ब्रह्मज्ञान का अधिकारी बताया है।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाचतां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्।।[२१]

मुण्डकोपनिषद् में मुमुक्षु के लिए कामनाओं का त्याग अर्थात् निष्कामभाव ही मोक्ष का प्रधान साधन बताया गया है –

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र–तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनत्विहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः।।[२२]

इसके अतिरिक्त चित्त की शुद्धि को आत्मक्षात्कार का असाधारण कारण बताते हुए कहा गया है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रदानेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।।[२३]
एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा।।[२४]

मुण्डकोपनिषद् में मनोनिवेश द्वारा ब्रह्मदिधन का विधान है।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता
लोकिनश्च। तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि।।[२५]

इसके अतिरिक्त उपासना द्वारा ब्रह्मभावानुगत चित्त से ब्रह्मवेधन का निर्देश वर्णित है—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं संधयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि।।[२६]

नि:श्रेयस् की प्राप्ति के लिए मुण्डकोपनिषद् में ओउमकाररूप में ब्रह्म के चिन्तन के विधान वर्णित है –

अरा इव रथनाभौ संहता यत्र नाड्य: स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमान:।
ओमित्येव ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति व: पाराय तमस: परस्तात्।।[२७]

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार शुद्ध बुद्ध–मुक्त स्वरूप सर्वज्ञ, नियामक, मायोपाधिक ईश्वर दर्शन के द्वारा जीव की शोकनिवृत्ति सम्भव है –

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमान:।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोक:।।[२८]

मुण्डकोपनिषद् में बल अथा आत्मनिष्ठाजनितशक्ति सम्पन्नता अप्रमाद (अनाशक्ति), संन्यास और तप को आत्मदर्शन का अतिरिक्त साधन बताया गया है –

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।।[२९]

इस प्रकार विवेकी पुरुष शास्त्र और आचार्य के उपदेश से प्राप्त तथा शम, दम, अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, ध्यान, सर्वत्याग, वैराग्य आदि से उत्पन्न हुए विशेष ज्ञान द्वारा आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है–

मनोमय: प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति।।[३०]

मुण्डकोपनिषद् में दो प्रकार के मोक्ष अर्थात् मुक्ति की मीमांसा हुई है –

१. जीवन मुक्ति, २. विदेह मुक्ति।

जीवन मुक्ति का अर्थ है, जीवनकाल में मोक्ष प्राप्त करना। इसे सशरीर मुक्ति भी कहा जाता है। क्योंकि इस मुक्ति में आत्मा का शरीर से सम्पर्क बना रहता है। जबकि विदेह मुक्ति का अर्थ मृत्यु के उपरान्त शरीरान्त हो जाने पर मोक्ष को प्राप्त करना।

मुण्डकोपनिषद् के अनुसार ब्रह्मवेत्ता अनेक इष्ट वस्तुओं के वियोग जनित शोक–सन्ताप को जीवित रहते हुए ही पार कर लेता है तथा धर्माधर्मसंज्ञक पाप से भी परे हो जाता है, तत्पश्चात् हृदयाविद्याग्रन्थि से विमुक्त होकर अमरत्व को प्राप्त करता है –

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मैव भवति।[३१]

नास्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तो–ऽमृतो भवति। किं च तरति शोकम् .... जीवन्नेवातिक्रान्तो भवति।[३२] **(शाङ्कर भाष्य)**

आत्मवेत्ता पुरुष ऐश्वर्य की तृष्णा से रहित होकर मुमुक्षा से परब्रह्म की निरन्तर उपासना करता है वह शुक्र अर्थात् मनुष्य शरीर के बीज अर्थात् जो शरीर का उपादान कारण है उसका भी अतिक्रमण कर जाता है अर्थात् पुन: योनि में प्रवेश नहीं करता, क्योंकि वह जन्म–मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है –

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः।।[३३]

मुण्डकोपनिषद् में मोक्ष के स्वरूप का भी विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इस उपनिषद् के अनुसार ब्रह्मज्ञ अतिवादी नहीं होता है तथा वह आत्मब्रह्म, आत्मरति और क्रियावान् हो जाता है अर्थात् ज्ञान, ध्यान और वैराग्य सम्पन्न हो जाता है –

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति। विजानन् विद्वान्भवते नातिवादी।[३४]
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदा वरिष्ठः।।[३५]

आत्मदर्शी, ऋषि द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति हो जाने पर ऋषिगण, ज्ञानतृप्त, कृत्यकृत्य, विरक्त और प्रशान्त हो जाते हैं। धीर पुरुष उस सर्वगत ब्रह्म को प्राप्त कर मृत्युकाल में समाहितचित्त हो– सर्वरूप ब्रह्म में ही प्रवेश कर जाते हैं—

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्माना वीतरागाः प्रशान्ताः।
ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति।।[३६]

शुद्धचित्त पुरुष ब्रह्मलोक में देहत्याग करते समय परम अमृत्वभाव को प्राप्त कर सर्वथा मुक्त हो जाता है –

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।।[३७]

मुण्डकोपनिषद् में इसके अतिरिक्त मोक्ष का स्वरूप वर्णित करते हुए कहा गया है कि मोक्ष काल में प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक तथा नाम ये पन्द्रह, कलाएँ – (प्रश्नोपनिषद्),[३८] अपने आश्रयों में स्थित हो जाती हैं, चक्षु आदि इन्द्रियों के अधिष्ठाता समस्त देवगण अपने प्रतिदेवता आदित्यादि में लीन हो जाते हैं तथा उसके सञ्चितादि कर्म विज्ञानय आत्मा आदि अव्यय, अनन्त, अक्षय, अज, अजर, अमृत, अभय, अपूर्ण, अनन्य, अनन्तर, अबाध्य, अद्वय, शिव और शान्त ब्रह्म में एकरूप हो जाते हैं, अर्थात् एकत्वभाव को प्राप्त हो जाते हैं—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा[३९]
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति।।

इस प्रकार मुण्डकोपनिषद् के उपर्युक्त उद्धरणों एवं सन्दर्भों का गहनानुशीलन एवं विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मविद्या को ही एकमात्र अभ्युदय एवं निःश्रेयस का कारण माना गया है तथा इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण पदार्थों को प्रेयस् प्रिय लगने वाले भवचक्र एवं बन्धन में आबद्ध करने वाला बताया गया है।

इसके अतिरिक्त बन्धन के हेतु अविद्या की निवृत्ति, ब्रह्मनिष्ठ गुरु द्वारा पराविद्या का

ज्ञान, गुरूपसदन, ब्रह्मजिज्ञासा, सत्य, तप, श्रद्धा, ब्रह्मचर्य निष्काम, निष्पाप, निरहङ्कार, चित्त की शुद्धि, आत्मनिष्ठाजनित शक्ति, अप्रमाद, संन्यास, ब्रह्मवेधन, ईश्वरदर्शन आदि अभ्युदय एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति के विविध साधनों एवं उपायों को आत्मसात् कर इनके द्वारा जीवन काल में तथा मृत्यूपरान्त दोनों ही स्थितियों में आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक इन त्रिविध दुःखों की ऐकान्तिक व आत्यन्तिक निवृत्ति रूप परमपुरुषार्थ अर्थात् जीवनमुक्ति व विदेह मुक्ति रूप द्विविध अभ्युदय एवं निःश्रेयस् अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति पूर्णरूपेण सर्वथा सम्भव है।

सन्दर्भ सूची

१. मुण्डकोपनिषद् –३/२१६
२. प्राचीन भारतीय संस्कृति – डॉ. वीरेन्द्र कुमार सिंह – पृष्ठ ५३
३. मनुस्मृति – ५/१०९
४. वैशषिक दर्शन १/११२
५. आप्टे संस्कृत हिन्दी शब्दकोष – ८१९
६. अमरकोष – १/५/७
७. मुण्डकोपनिषद् – १/२/७
८. मुण्डकोपनिषद् – १/२/७
९. ऋग्वेद – १/१६४२०
१०. अथर्ववेद –९/१४/२०
११. मुण्डकोपनिषद् –१/२/८
१२. मुण्डकोपनिषद् –१/२/९
१३. मुण्डकोपनिषद् –१/२/१०
१४. मुण्डकोपनिषद् –१/१/५
१५. मुण्डकोपनिषद् –२/१/१०
१६. मुण्डकोपनिषद् –१/२/१२
१७. कठोपनिषद् – १/२/२३
१८. मुण्डकोपनिषद् –३/२/३
१९. मुण्डकोपनिषद् –१/२/११
२०. मुण्डकोपनिषद् –३/१/५
२१. मुण्डकोपनिषद् –३/१/६
२२. मुण्डकोपनिषद् –१/२/१३
२३. मुण्डकोपनिषद् –३/२/२
२४. मुण्डकोपनिषद् –३/१/८
२५. मुण्डकोपनिषद् –३/१/९
२६. मुण्डकोपनिषद् –२/२/२
२७. मुण्डकोपनिषद् –२/२/३
२८. मुण्डकोपनिषद् –३/२/६
२९. मुण्डकोपनिषद् –३/१/२
३०. मुण्डकोपनिषद् –३/२/४
३१. मुण्डकोपनिषद् –२/२/७
३२. मुण्डकोपनिषद् –३/२/९
३३. शाङ्करभाष्य– श्लोक ३/२/९
३४. मुण्डकोपनिषद् –३/२/१
३५. मुण्डकोपनिषद् –३/१/४
३६. मुण्डकोपनिषद् –३/२/५
३७. मुण्डकोपनिषद् –१/२/८
३८. प्रश्नोपनिषद् – छठवाँ
३९. मुण्डकोपनिषद् –३/२/७

पञ्चकोश समीक्षण

डॉ. पूर्णानन्दपूर्ण पंथी
सहआचार्य, संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

कोशनाम तलवार के म्यान का, धन के भण्डार का और कोशकार नामक कीड़े के गृह का है। उनकी भाँति अन्नमयादि पाँच कोश आत्मा को ढकते हैं। इसलिए ये भी कोश कहलाते हैं। ये कोश संख्या में पांच होते हैं: १. अन्नमयकोश, २. प्राणमयकोश, ३. मनोमयकोश, ४. विज्ञानमय कोश, और ५. आनन्दमय कोश।

१. अन्नमयकोश: जो स्थूल-शरीर माता-पिता द्वारा खाये-पीये हुए अन्न-जलादि से बने रज-वीर्य के संयोग से माता के गर्भाशय में उत्पन्न होता है, जन्म के पश्चात् क्षीर अन्न आदि पान कर वृद्धि को प्राप्त होता है और फिर मरण के अनन्तर अन्नमय पृथ्वी में लीन हो जाता है, वही स्थूल शरीर अन्नमय कोश है।[१]

इसी भाव को तैत्तिरीयोपनिषद् के द्वितीय अनुवाक में इस प्रकार वर्णन किया गया है:

अन्माद्वै प्रजाः प्रजायन्ते। याः काश्च पृथिवीँ श्रिताः। अथो अन्नेनैव जीवन्ति। अथैनदपिमन्त्यन्ततः। अन्नँ, हि भूतानां ज्येष्ठम्। तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नंब्रह्मोपासते। अन्नँ हि भूतानां ज्येष्ठम्। अन्नाद्भूतानि जायन्ते। जातान्यन्नेन वर्धन्ते। अद्यतेऽत्ति च भूतानि। तस्मादन्नं तदुच्यत इति।[२]

अर्थात् अन्न से ही प्रजा उत्पन्न होती है। जो कुछ प्रजा पृथिवी को आश्रित करके स्थित है वह अन्न से ही उत्पन्न होती है; फिर वह अन्न से ही जीवित रहती है और अन्त में उसी में लीन हो जाती है, क्योंकि अन्न ही प्राणियों का ज्येष्ठ है। इसी से वह सर्वौषध कहा जाता है। जो लोग 'अन्न ही ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करते हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न प्राप्त करते हैं। अन्न ही प्राणियों में बड़ा है; इसलिए वह सर्वोषध कहलाता है। अन्न से ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्न से ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। अन्न प्राणियों द्वारा खाया जाता है और वह भी उन्हीं को खाता है। इसी से वह 'अन्न'

१ श्री विचार चन्द्रोदय पं. पीताम्बर, लक्ष्मी पुस्तक भण्डार, जोधपुर, पृ. १२५
२ ईशादि नौ उपनिषद्, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृ. ९६८

कहा जाता है।

२. **प्राणमय कोश :–** पाँच कर्मेन्द्रिय सहित पाँच प्राण, प्राणमय कोश कहलाता है। पाँच कर्मेन्द्रिय–वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु। पाँच प्राण–प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान।

१. **प्राणवायु :–** यह वायु हृदय स्थान में रहता है और व्यक्ति यदि वेदविधि अनुसार जीवन व्यतीत करे तो प्रत्येक दिन–रात में २१६०० (इक्कीस हजार छह सौ) श्वास–उच्छ्वास लेने रूप क्रिया करता है।

२. **अपानवायु :–** यह वायु पायु (मलद्वार) स्थान में रहता है और मलादि के उत्सर्ग रूप क्रिया करता है।

३. **समानवायु :–** यह वायु नाभि स्थान में रहता है और जैसे माली कूपजल को अनेक नालियों द्वारा बगीचे में पहुँचाता है, वैसे ही यह समानवायु भोजन किए गये अन्नादि को जठराग्नि में पचाकर रस–रक्त आदि को निकालकर अनेक नाड़ियों द्वारा सर्व शरीर में पहुँचाने रूप क्रिया को करता है।

४. **उदानवायु:** यह वायु कण्ठ स्थान में रहता है, खाये, पीए अन्न–जलादि का विभाग करता है, और स्वप्न, हिचकी, जंभाई, छींक, डकार, उन्मेष, निमेष आदि क्रियाएँ करता है।

५. **व्यानवायु–** यह वायु सर्वांग में रहता है और सब अङ्गों की सन्धियों के फेरने रूप क्रिया करता है।

सद्योजात, वामन, ईशान, तत्पुरुष और अघोर ये क्रमश: इन पाँच प्राणों के पाँच अधिष्ठातृ देवता हैं। ये नाम पञ्चमुखी शिवजी के भी हैं। प्राणादि वायु सारे शरीर में पूर्ण होकर उसको बल देते हैं। और इन्द्रियों को अपने अपने कार्य में प्रवृत्ति रूपी क्रिया के साधन होते हैं। इस कोश का तैत्तिरीयोपनिषद् में भी वर्णन मिलता है–

तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमय:। तेनैष पूर्ण:। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयंपुरुषविध:। तस्य प्राण एव शिर:। व्यानो दक्षिण पक्ष:। अपान उत्तर: पक्ष:। आकाश: (समानसंज्ञकं प्राणस्य वृत्ति:) आत्मा। पृथिवी (अपान) पुच्छं प्रतिष्ठा।

अर्थात् वह यह (प्राणमय कोश) भी पुरुषाकार ही है। उस (अन्नमय) की पुरुषाकारता के अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है। उसका प्राण ही सिर है। व्यान दक्षिण पक्ष है। अपान उत्तर पक्ष है। आकाश आत्मा (मध्यभाग) है और पृथिवी पुच्छ–प्रतिष्ठा है।

निन्द्रा में पुरुष सोया होवे, तब प्राण जागता है। परन्तु कोई स्नेही आवे तो भी उसका सम्मान करता नहीं और चोर आभूषण ले जावे तो उसको भी रोकता नहीं। इसलिए यह

३ श्री विचारचन्द्रोदय, पं. पीतामबर

प्राणवायु घट की तरह जड़ है और चैतन्य रूप आत्मा इससे विलक्षण है।[३]

३. मनोमय कोश: पाँच ज्ञानेन्द्रिय सहित मन, मनोमय कोश है। ज्ञानेन्द्रिय-श्रौत्र, चक्षु, त्वचा, जिह्वा और घ्राण। छठा मन, इन छह के समाहार का नाम मनोमय कोश कहलाता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में इस मनोमय कोश का निम्न प्रकार से वर्णन किया गया है:-

तस्माद्वा एतस्मात्प्राणयामदन्योऽन्तर आत्मा मनोमय:। तेनैष पूर्ण:। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविध:। तस्य यजुरेव शिर:। ऋग्दक्षिण पक्ष:। सामोत्तरपक्ष:। आदेश आत्मा अथर्वाङ्गिरस: पुच्छ: प्रतिष्ठा।

अर्थात् उस इस प्रामणमय कोश से दूसरा इसके भीतर रहने वाला आत्मा मनोमय है। उसके द्वारा यह पूर्ण है। वह यह (मनोमय कोश) भी पुरुषाकार ही है। यजु: ही उसका सिर है; ऋक् दक्षिण पक्ष है, साम उत्तर पक्ष है, आदेश आत्मा है तथा अथर्वाङ्गिरस पुच्छ प्रतिष्ठा है।

विशेष भावार्थ: यजु: आदि शब्दों से यजुर्वेद आदि समझे जाते हैं। परन्तु यहाँ जो उन्हें मनोमय कोष के सिर आदि रूप से बतलाया गया है, उसमें यह शङ्का होती है कि उनका उससे ऐसा क्या सम्बन्ध है जो वे उसके अङ्ग रूप से बतलाये गये हैं? इस वाक्य में भगवान् भाष्यकार ने उसी बात को स्पष्ट किया है। इस का यह तात्पर्य है कि यजु: साम अथवा ऋक् आदि मन्त्रों के उच्चारण में सबसे पहले अन्यान्य शब्दों के उच्चारण के समान मन का ही व्यापार होता है। पहले कण्ठ या तालु आदि स्थानों से जठराग्नि द्वारा प्रेरित वायु का आघात होता है, उससे अस्फुट नाद की उत्पत्ति होती है; फिर क्रमश: स्वर और अकारादि वर्ण अभिव्यक्त होते हैं। वर्णों के संयोग से पद और पदसमूह से वाक्य की रचना होती है। इस प्रकार मानसिक सङ्कल्प और भाव से ही यजु: आदि मन्त्र अभिव्यक्त होकर श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं। अत: मनोवृत्ति से उत्पन्न होने वाले होने के कारण ही यहाँ यजुर्विषयक मनोवृत्ति को 'यजु:' ऋग्विषयक वृत्ति को 'ऋक्' और सामविषयक वृत्ति को 'साम' कहा गया है; तथा इस प्रकार की यजु: वृत्ति ही मनोमय कोश की शीर्ष स्थानीय है।[४]

४. विज्ञानमय कोश- ज्ञानेन्द्रिय सहित बुद्धि विज्ञानमय कोश है। चिदाभास-युक्त बुद्धि सुषुप्ति में विलीन होती है और जाग्रत् में नख के अग्रभाग से लेकर शिखा पर्यन्त शरीर में व्याप्त वर्त्तती हुई कर्त्तारूप है। बुद्धि घट-पटादि की तरह विलय-विकृति आदि अवस्था वाली होने से विनाशी है और आत्मा विलय-विकृति आदि अवस्था से रहित होने से, इससे विलक्षण अविनाशी है।

तैत्तिरीयोपनिषद् में विज्ञानमय कोश का वर्णन इस प्रकार है:

तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्ण:। स वा

४ तैत्तिरीयोपनिषद् से उद्धृत, पृ. ३७८, गीताप्रेस, गोरखपुर

एष पुरुषविध एवं। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यंउत्तरपक्षः। योगआत्मा महः (बुद्धिः) पुच्छं प्रतिष्ठा।[५]

अर्थात् उस इस मनोमय से दूसरा इसका अन्तर-आत्मा विज्ञानमय है। उसके द्वारा यह पूर्ण है वह यह विज्ञानमय भी पुरुषाकार ही है। उसका श्रद्धा ही सिर है। ऋत् दक्षिण पक्ष है। सत्य उत्तर पक्ष है। योग आत्मा (मध्यभाग) है और महत्त्व पुच्छ प्रतिष्ठा है।

मनोमय कोश वेद रूप बतलाया गया है। वेदों के अर्थ विषय में जो निश्चयात्मिका बुद्धि है उसी का नाम विज्ञांन है। और वह अन्तःकरण का अध्यवसाय रूप धर्म है। तन्मय अर्थात् प्रमाण स्वरूप निश्चय विज्ञान से (निश्चयात्मिका बुद्धि से) निष्पन्न होने वाला आत्मा विज्ञानमय है, क्योंकि प्रमाण विज्ञान पूर्वक ही यज्ञादि का विस्तार किया जाता है।

मनोमयो वेदात्मोक्तः। वेदार्थ विषयाबुद्धिर्निश्यात्मिका विज्ञानं तच्चाध्यव-सायलक्षणमन्तः करणस्य धर्मः। तन्मयो निश्चयविज्ञानैः प्रमाणस्वरूपैर्निर्वर्तित आत्मा विज्ञानमयः। प्रामाणविज्ञानपूर्वको ही यज्ञादि स्तायते।

५. **आनन्दमय कोश-** पुण्यकर्म फल के अनुभव काल में कदाचित् बुद्धि की वृत्ति अन्तर्मुख होकर आत्म-स्वरूप भूत आनन्द के प्रतिबिम्ब को अभिव्यक्त करती है; उस प्रतिबिम्बी का भोक्ता चिदाभास है। उसी प्रतिबिम्ब के प्रिय, मोद और प्रमोद नाम हैं और वही वृत्ति, पुण्य कर्मफल के भोग की निवृत्ति हो जाने पर, निद्रा रूप से स्व-स्व व्यष्टि-अज्ञान- में विलीन हो जाती है। यह वृत्ति आनन्दमय कोश है।[६]

१. इष्ट वस्तु के दर्शन से उत्पन्न प्रियवृत्ति जिसका सिर है।
२. इष्ट वस्तु के लाभ से उत्पन्न मोदवृत्ति जिसका एक (दक्षिण=दाहिना) पक्ष है।
३. इष्ट वस्तु के भोग से उत्पन्न प्रमोदवृत्ति जिसका द्वितीय (बाम=बाँया) पक्ष है।
४. बुद्धि या अज्ञान की वृत्ति में आत्मस्वरूप भूत आनन्द का प्रतिबिम्ब जिसका स्वरूप है।
५. बिम्ब-रूप आत्मा का स्वरूपभूत आनन्द जिसका पुच्छ(आधार) है। ऐसा पक्षीरूप भोक्ता आनन्दमय कोश है।

आनन्दमय कोश आकाश में चमकने वाली बिजली, बादल, बुदबुदा आदि पदार्थों की भाँति कदाचित् होने वाला है। इसलिए क्षणिक है और आत्मा सर्वदा स्थित होने से, नित्य है। आनन्दमय कोश कारणदेह रूप है। इसको जानने वाला आत्मा इससे भिन्न है-

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्यप्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा।[७]

---

५ तैतिरीयोपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, पृ. ९८१
६ श्री विचारचन्द्रोदय, पं. पीताम्बर, पृ. १३०
७ तेत्तिरीयोपनिषद् पञ्चम् अनुवाक, गीताप्रेस, गोरखपुर

हिन्दी भावार्थः उस इस विज्ञामय से दूसरा इसका अन्तर्वर्ती आत्मा आनन्दमय है। उस आनन्दमय के द्वारा यह पूर्ण है। वह यह आनन्दमय भी पुरुषाकार ही है। उसका प्रिय ही सिर है; गोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ-प्रतिष्ठा हैं।

'आनन्दमय' इस शब्द से कार्यात्मा की प्रतीति होती है, क्योंकि यहाँ उसी का अधिकार (प्रसङ्ग) है और आनन्द के साथ 'मयट्' प्रत्यय भी यहाँ विकार के अर्थ में देखा गया है; जैसा कि 'अन्नमय' इस शब्द में। अतः आनन्दमय कार्यात्मा है और इस को परमात्मा भी नहीं माना जा सकता क्योंकि यह कार्यवर्ग के अन्तर्गत है।

यहाँ यह शङ्का उत्पन्न होती है कि विद्यमान अन्नमयादि कोश यदि आत्मा नहीं है, तो फिर आत्मा या ब्रह्म कौन है?

इसका उत्तर यह है कि यद्यपि पाँच कोश ही अनुभव में आते हैं, इनसे भिन्न कोई आत्मा अनुभव में नहीं आता यह वार्त्ता सत्य है। तथापि जिस अनुभव से में पाँच कोश जाने जाते हैं, उस अनुभव को कौन निवारण (निवृत्त) करेगा अर्थात् कोई भी नहीं कर सकता। इसलिए पाँचों कोशों का अनुभव रूप जो चैतन्य है वही, उनसे भिन्न आत्मा है।

विशेष भावार्थः स्थूल दृष्टि से दीपक का प्रकाश और आकाश अभिन्न प्रतीत होते हैं, तो भी भिन्न हैं और तप्त लोहे में अग्नि और लोहा अभिन्न प्रतीत होते है, तो भी भिन्न हैं।

ऐसे ही पञ्चकोश और आत्मा अभिन्न प्रतीत होते हैं, तो भी भिन्न हैं। आत्मा पांच परदों के बीच में स्थित है, उन परदो को गुरू के उपदेश से दूर करना होगा।

पञ्चकोशों के ऊपर श्री पं. पीताम्बर जी का एक मनहर छन्द निम्न प्रकार से है-

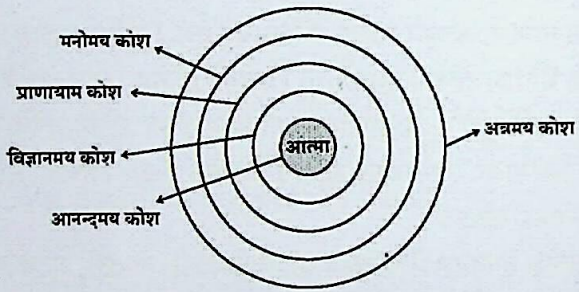

पञ्चकोशातीत मैं हूँ, अन्न प्राण मनोमय
विज्ञान आनन्दमय, पञ्चकोश नातमा।
स्थूलदेह अन्नमय कोश लिङ्गदेह प्राण।
मनरु विज्ञान तीन कोश कहें मातमा।
कारण आनन्दमय कोश में कारज जड
विकारी विनाशी व्याभिचारी ही अनातमा।
अजचित्त अविकारी नित्य व्यभिचारहीन
पीताम्बर अनुभव करता मैं आतमा।।

कठोपनिषद् में वर्णित श्रेयस् एवं प्रेयस् विषयक मूल्य-बोध

डॉ. यादराम मीणा
सहआचार्य, संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर (राज.)

वैदिक-वाङ्मय भारतवर्ष की अमूल्य निधि है। यही वाङ्मय आज भी भारत को गौरव के पद पर आरूढ़ किए हुए है। विषय की दृष्टि से वेदों के तीन विभाग हैं— कर्म, उपासना और ज्ञान। कर्मकाण्ड और उपासना काण्ड का लक्ष्य मानव-मन में उस परम तत्त्व को उपलब्ध कराने के लिए योग्यता का निर्माण करना है। इसीलिए कर्म और उपासना साधन हैं और ज्ञान साध्य। वेद के इस ज्ञानकाण्ड का नाम ही 'उपनिषद्' है। उपनिषद् वेदों के अन्तिम भाग हैं, इसलिये उपनिषदों को 'वेदान्त' भी कहा जाता है। इसकी पुष्टि करते हुए आचार्य सदानन्द जी लिखते हैं कि **'वेदान्तो नाम उपनिषत्प्रमाणं तदुपकारीणि शारीरकसूत्रादिनि।'**[1] इसी सन्दर्भ में डॉ. राधाकृष्णन् का कथन हैं—

The upanishads from the including portion of the vedas and are therefore called the 'vedants or the end of the vedas, a denomination which ruggests that they contain the essence of the vedic teaching.[2]

उपनिषदों में केवल पाण्डित्यपूर्ण दार्शनिक विचार मात्र ही हों, ऐसी बात नहीं है, अपितु यथार्थ लोकसामान्य तथ्य भी हैं, जिनका सम्बन्ध जीवन के अनेक क्षेत्रों से है। ये नैतिक उपदेश समाज के लिए बहुत उपयोगी हैं। इन उपदेशों की दृष्टि से 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की शिक्षावल्ली का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा समाप्ति के बाद आचार्य अपने शिष्य को इस प्रकार उपदेश देता है— **वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति। सत्यं वद। धर्मं चर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः। सत्यान्न प्रमदितव्यम्। धर्मान्न प्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम् भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्।।**[3]

---

१. वेदान्तसार, पृष्ठ २
२. Indian Philosophy - IInd Editions P- 137
३. तैत्तिरीयोपनिषद्-शिक्षावल्ली - ११/१

उपनिषदों का महत्त्व इस बात से ही स्पष्ट हो जाता है कि न केवल हिन्दू ही इनसे प्रभावित हुए अन्य धर्मावलम्बी भी प्रभावित हुए बिना न रह सके। शाहजहाँ का पुत्र 'दाराशिकोह' जब सन् १७४० ई. कश्मीर यात्रा पर गया, तब वह उपनिषदों से इतना प्रभावित हुआ कि उसने अनेक विद्वानों को एकत्र कर उनसे उपनिषदों का ज्ञान प्राप्त किया तथा उनका फारसी में अनुवाद करवाया।[४] पाश्चात्य विद्वान् 'बर्नियर' (फ्रेंच) १७७५ ई. में फारसी अनुवाद को फ्राँस ले गया तथा 'आक्वेटील डूपेरान' ने उनका फ्रेंच और लैटिन भाषा में अनुवाद किया।[५]

'उपनिषद्' शब्द का क्या अर्थ है? इस सम्बन्ध में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। उपनिषद् शब्द की व्युत्पत्ति – 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'षद्लृ' (सद्) धातु से 'क्विप्' प्रत्यय के योग से होती है। 'षद्लृ' (सद्) धातु निम्न तीन अर्थों में प्रयुक्त होती है— १. विशरण (नाश होना) २. गति (प्राप्त होना) अर्थ में, ३. अवसादन (शिथिल करना) अर्थ में। तैत्तिरीयोपनिषद् के भाष्य में शङ्कराचार्य ने तीनों अर्थों के साथ सङ्गति बैठायी है। 'षद्लृ' (सद्) धातु की विशरण अर्थ के साथ सङ्गति बैठाते हुए लिखते हैं।[६] कि १. 'अविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद् विनाशनादित्येन अर्थयोगेन विद्या उपनिषदुच्यते' अर्थात् उपनिषदों के अनुशीलन से अविद्यादि संसार बीज का विनाश होने के कारण ही इस विद्या को उपनिषद् कहते हैं। २. 'षद्लृ' (सद्) धातु की गति (प्राप्त होना) अर्थ के आधार पर— परं ब्रह्म वा गमयतीति ब्रह्म गमयितृत्वेन योगाद् विद्योपनिषद्' अर्थात् ब्रह्म को प्राप्त कराने वाली होने के कारण ब्रह्मविद्या को उपनिषद् कहते हैं। ५. षद्लृ (सद्) धातु का अवसादन (शिथिल करना) अर्थ के आधार पर 'गर्भवासजन्म-जराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरपौनः पुण्येन प्रवृत्तय अवसाद पितृत्वेन उपनिषदित्युच्यते' अर्थात् इनके द्वारा गर्भवास, जन्म एवं वृद्धावस्था आदि के दुःख शिथिल पड़ जाते हैं, इसलिए इन्हें उपनिषद् कहते हैं।

अन्य विद्वान् 'उप' का अर्थ समीप और 'निषद्' का अर्थ बैठना लगाते हैं। शिष्य-गुरु के समीप बैठकर ज्ञान प्राप्त करता था या शङ्काओं का समाधान करवाता था, उसी से ही उपनिषदों का जन्म हुआ, क्योंकि प्रश्नोपनिषद्, कठोपनिषद् एवं छान्दोग्योपनिषद् आदि से स्पष्ट है कि उनमें जिज्ञासुओं द्वारा किए गए प्रश्नों के उत्तर ही मिलते हैं पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर का कथन है कि— ''गुरु के पास सविनय बैठकर शिष्यों का गुरु उपदेश श्रवण ही उपनिषद् से तात्पर्य है।[७]

श्रेयस् एवं प्रेयस् विषयक मूल्य-बोध –

भारत में ऋग्वैदिक युग से ही सृजनधर्मी विवेकी मानव ने उक्त प्रतिभाद्वय द्वारा

---

४ वैदिक साहित्य का इतिहास- डॉ. कृष्णकुमार, पृ. २०४

५ वैदिक साहित्य का इतिहास- डॉ. कृष्णकुमार, पृ. २२४

६ वैदिक साहित्य का इतिहास- डॉ. राममूर्ति शर्मा, पृ. १४०

७ History of Indian Philosophy- S.N. Das Gupta, P. 88

'श्रेयस्' और 'प्रेयस्' की व्यवस्था करना आरम्भ कर दिया था। वैदिक ऋषियों ने न केवल मानव के अपितु समस्त चराचर जगत् के शाश्वत नियम के रूप में 'ऋत्' संज्ञक 'श्रेयस्' की भी व्यवस्था की। साहित्यिक अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि मानव ने मानवीय जीवन के 'श्रेयस्' और 'प्रेयस्' का निर्धारण स्वविवेक के आरम्भ से ही अनिवार्य माना और इसकी अनवरत दृढ़-व्यापक व्यवस्था करते हुए मानव जीवन के लिए एक ओर आत्मिक अभ्युदय हेतु जहाँ 'श्रेयस्' का सृजन किया, तो दूसरी ओर 'प्रेयस्' को भी मानव जीवन के लिये व्यवस्थित करना उतना ही मूल्यवान् माना गया। सत् और असत्, नित्य और अनित्य के विवेक द्वारा ऐहिक जीवन की, उनके भोगों की, उन भोगों के प्रापक संसाधनों और साधनों को भेदक प्रतीति के कारण श्रेयस् और प्रेयस् का भेद लौकिक एवं अलौकिक आचार-दर्शन की पुष्टि से स्पष्ट होने लगा और औपनिषदिक काल तक मानव के आचार संहिता के रूप में प्रतिष्ठित हुआ—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।।[८]

श्रेयस् और प्रेयस् के स्वरूपगत भेद अर्थगाम्भीर्य से युक्त अत्यन्त प्रौढ़ शब्दों में ज्ञान कराते हुए प्रो. गोविन्दचन्द्र पाण्डे लिखते हैं— आत्मज्ञान के द्वारा आत्मावस्थित रूप मुक्ति ही श्रेयस् है। श्रेयस् साधन प्रत्यङ्गमुख, आत्माभिमुख यात्रा है, जो मृत्यु लोक का अतिक्रमण कराती है, जबकि प्रेयस् साधन बहिर्मुख प्रवृत्ति है, जो बार-बार मनुष्य को मृत्यु के मुख में ले जाती है,[९] अर्थात् संसार चक्र में भ्रमण कराने वाले समस्त साधन 'प्रेयस्' के अन्तर्गत समाहित हैं और जन्म-मरण रूप चक्र से मुक्त कराने वाले साधन श्रेयस् के अन्तर्गत आते है। मनुष्य को प्रेयस् भी उसी तरह प्रार्थनीय है, जिस तरह श्रेयस्। भौतिक जीवन के परे शाश्वत् सत्य को देखने और उसे अपना साध्य मानने पर भी संस्कृत वाङ्मय में जीवन को नकारने का दृष्टिकोण विरल ही प्राप्त होता है। आत्मा का स्वरूप प्रकृतितः आनन्दमय है और मुक्ति आप्तकान्ता है। देह और देही दोनों का संयोग-सम्बन्ध इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि देह-देही द्वारा प्रार्थनीय श्रेयस् का साधन है, जबकि वह प्रेयस् का साधन भी है। नित्य-अनित्य के विवेक ने मानव को इतना तो समझा ही दिया कि देही नित्य है और देह अनित्य।[१०]

कठोपनिषद् में वर्णित नचिकेता उपाख्यान की कथा तैत्तिरीय ब्राह्मण की कथा से साम्य रखती है। सम्भवतः कठोपनिषद् का मूल कथानक उसी से लिया गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह कथा ३/११/८ में मिलती है। महाभारत में यह उपाख्यान युधिष्ठिर के भीष्म पितामह से गोदान का क्या फल है? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में भीष्म पितामह द्वारा बताया गया है। इस कथा का मूल उद्देश्य मानव-मात्र का कल्याण बतलाया गया है। यम और नचिकेता

८ कठोपनिषद् १/२/२

९ मूल्य-मीमांसा- प्रो. गोविन्द्रचन्द्र पाण्डे, पृ. ४

१०.(क) नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः – श्रीमद्भगवद्गीता- २/१६, १७, १८, २०,२२
(ख) यतो वा इमाति भूतानि जायन्ते....। तैत्तिरीयोपनिषद् ८/१

के वार्तालाप से यह ज्ञात होता है कि इस संसार में दो प्रकार के सुख मुख्यतः दृष्टिगोचर होते हैं— ऐहलौकिक और पारलौकिक। ऐहलौकिक सुखों को 'प्रेयस्' के अन्तर्गत समाहित किया जाता है तथा पारलौकिक सुखों को 'श्रेयस्' की श्रेणी में रखा जाता है। जब नचिकेता यम के घर तीन दिन तक बिना कुछ खाये-पीये रहता है और यमराज को इस बात का ज्ञान होता है, तो उन्हें बड़ा कष्ट होता है, क्योंकि किसी भी मनुष्य के घर अतिथि भूखा-प्यासा रहता है तो उस अल्प बुद्धि वाले व्यक्ति के सभी पुण्यों द्वारा कमाया हुआ फल नष्ट हो जाता है और उसे इहलोक और परलोक में कहीं भी सुख प्राप्त नहीं होता। यह भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण जीवन मूल्य है जो आदिकाल से ही चला आ रहा है। जब यमराज नचिकेता को तीन दिन भूखे रहने को प्रायश्चित स्वरूप तीन वर देते हैं। इसके फलस्वरूप नचिकेता यमराज से पहले ऐहलौकिक सुख (अर्थात् प्रेयस्) माँगता है—

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे।।[१२]

नचिकेता द्वारा प्रार्थित प्रस्तुत वर प्रेयस् के अन्तर्गत आता है, क्योंकि मनुष्य सर्वप्रथम इहलौकिक या प्रेयस् सुखों की कामना करता है। इसके उपरान्त जब सांसारिक सुखों एवं दुःखों का आस्वाद भोगता है, तब उसके मन में पारलौकिक या श्रेयस् सुखों के प्रति इच्छा जाग्रत होती है। संस्कृत वाङ्मय में इसके अनेक उद्धरण देखने को मिलते हैं। जब नचिकेता यमराज से दूसरा वर माङ्गते हुए कहता है कि— हे यम! जिस स्वर्गलोक में भूख, प्यास, वृद्धावस्था एवं शोक इत्यादि का कोई भी भय नहीं है, उस स्वर्ग की साधनभूत अग्नि के विषय में बतायें।[१३] तो यम नचिकेता को स्वर्ग की साधनभूत अग्नि के विषय में पूर्ण जानकारी प्रदान करते हैं और प्रसन्न होकर कि यह अग्नि संसार में 'नाचिकेतस् अग्नि' के नाम से प्रसिद्ध होगी, आशीर्वाद देते हैं।[१४] जब नचिकेता ने यम से पूछा कि मृत्यु के बाद प्राणी की क्या स्थिति रहती है? वह कहाँ जाता है? प्रश्न किया, तो यमराज नचिकेता को प्रलोभन स्वरूप कहते हैं कि तुम इस तृतीय वर के बदले में मुझसे संसार के अनेक इहलौकिक सुख माङ्ग लो,[१५] परन्तु मृत्यु के विषय में मत पूछो। इन समस्त सुखों को प्रेयस् के अन्तर्गत समाहित किया गया है। जैसे— सौ वर्ष की आयु, पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े, सोना एवं अप्सरा आदि। नचिकेता कहता है कि ये समस्त सुख प्रेयस् हैं। ये मनुष्य को पुनः पुनः मृत्यु के मुख में ले जाते हैं, क्योंकि ये ऐहलौकिक सुख मनुष्य की इन्द्रियों की शक्ति को क्षीण कर देते हैं और ये क्षणभङ्गुर हैं। मानव धन से कभी

---

११ (क) आशाप्रतीक्षे सङ्गतं सुनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूंश्च सर्वान्।
एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्रह्मणो गृहे।।
(ख) मनुस्मृति ३।११९, (ग) उत्तरामचरित ४/पृ. ४८४, ८७ कठोपनिषद्-१/१/८

१२ कठोपनिषद् १/१/९

१३ कठोपनिषद् १/१/१२, १३, १४

१४ कठोपनिषद् १/१/१५, १६

तृप्त नहीं होता और आपके दर्शन से मुझे धन तो मिल ही जायेगा—

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव।।[१६]

नचिकेता द्वारा माँगे वर के प्रलोभन में यमराज द्वारा सांसारिक भोग्य पदार्थों की प्रस्तुति को अस्वीकार करके स्थित-प्रज्ञ नचिकेता श्रेयस् के प्रति दृढ़-प्रतिज्ञ रहता है, क्योंकि प्रेयस् पदार्थ मनुष्य को संसार रूपी सागर में पुनः पुनः धकेलते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा गया है कि 'अशुभ को शुभ में बदल देना ही मानव की श्रेष्ठता है।[१७] शुभ में बदलने का प्रमुख साधन अध्यात्म है, जिसे गीता में ज्ञानयोग, भक्तियोग, एवं कर्म योग कहा गया है।[१८] यह त्रिविध योग ही अध्यात्म का सम्यक् व्याख्यान है। मानव के लिए निःश्रेयस् की उपलब्धि में योगत्रय अत्यधिक सहायक है। आरम्भ से ही भारतीय मेधा मानव के भौतिक एवं अध्यात्मिक अभ्युदय के लिए चिन्तित एवं चिन्तनशील रही है। मानव के कल्याण के लिये मानवीय कर्म का आध्यात्मिक रण आवश्यक माना गया है। गीता में निःश्रेयस् की प्राप्ति हेतु पारमार्थिक, व्यावहारिक और सामाजिक उपदेश दिया गया है। ये तीनों ही उपदेश अध्यात्मभाव से अनुप्राणित हैं। स्थितधीः, स्थितप्रज्ञ, समत्वयोग आदि आध्यात्मिक दृष्टि से मानवीय-निःश्रेयस की उपलब्धि के साधन बतलाये गए हैं।[१९]

जब यम ने अच्छी तरह जान लिया कि नचिकेता वास्तव में ब्रह्मज्ञान अर्थात् श्रेयस् का अधिकारी है, तब उन्होंने संसार के श्रेयस् और प्रेयस् दोनों मार्गों को तत्त्वतः समझाते हुए कहा कि— 'श्रेयस्' मार्ग मोक्ष प्राप्ति का द्वार है, जो इसे अपनाता है, उसका कल्याण होता है तथा दूसरा 'प्रेयस्' भोगों को दिलाने वाला मार्ग है, जो मनुष्य इस पथ को अपनाता है, वह आत्मबोध (मोक्ष) से भटक जाता है। बुद्धिमान् निश्चय ही प्रेयस् की अपेक्षा श्रेयस् का वरण करता है। केवल योग के ज्ञान से रहित मूर्ख पुरुष प्रेयस् मार्ग को चुनता है—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरो अभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।।[२०]

इस प्रकार कठोपनिषद् में दार्शनिक पथ की मीमांसा का जो वर्णन किया गया है, उसमें 'श्रेयस्' और 'प्रेयस्' दोनों मार्गों का उल्लेख करके अन्त में श्रेयस् मार्ग का उपदेश दिया गया है। श्रेयार्थी के लिये भावयित्री प्रतिभामूलक सदाचार परम आवश्यक है। इसलिए श्रेयस् की प्राप्ति हेतु क्षमा, दान, श्रद्धा, तप और सत्याचरण अनेक उपमाओं एवं रूपकों के माध्यम से जीव, जगत् एवं ब्रह्म विषयक गुत्थी को सुलझाया गया है।

१५ कठोपनिषद् १/१/२३
१६ कठोपनिषद् १/१/२७
१७ बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/५
१८ श्रीमद्भगवद्गीता ५/११
१९ कठोपनिषद्
२० वही

कठोपनिषद् में श्रेयःतत्त्व विमर्श

डॉ. श्वेता जैन
अतिथि अध्यापक, संस्कृत-विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय,
जोधपुर

श्रेयः तत्त्व कठोपनिषद् का उत्स है। यह परम तत्त्व ही नचिकेता और यमराज के संवाद का विषय है। तैत्तिरीय ब्राह्मण[1] और महाभारत[2] में नचिकेतोपाख्यान वर्णित है, जिसमें कथा बहुत संक्षिप्त है। कठोपनिषद् में यह कथा बहुत रोचक ढंग से विस्तृत रूप से प्रस्तुत हुई है। कठोपनिषद् में कथा को इस नवीनता के साथ प्रस्तुत कर अध्यात्म-बोध को रुचिकर बनाने के साथ हृदयगम्य बना दिया गया है। नचिकेता पर प्रथम वर ऐहलौकिक इच्छा, दूसरा वर पारलौकिक इच्छा तथा तृतीय वर अलौकिक इच्छा को दर्शाता है। यह क्रम पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। कोई भी मनुष्य पहले इस लोक की चिन्ता करता है, फिर परलोक की, उसे बाद अलोक की। सामान्य रूप से कथाओं में किसी देव को या किसी ऋषि-मुनि को वरदान देते हुए बताया जाता है, किन्तु इस कथा में यमराज को वर देते हुए बताना अपने आप में वैशिष्ट्य है। इस कथा में बालक को नायक के रूप में दिखाना यह बताता है कि अध्यात्म का वय से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। वय की वृद्धि के साथ अध्यात्म-बोध वृद्धिगत होता है-ऐसी लोकमान्यता इस कथा द्वारा खण्डित हुई है।

कठोपनिषद् में संसार के मार्ग को प्रेय और मोक्ष के मार्ग को श्रेय कहा गया है। जगत् के सभी मनुष्यों के समक्ष प्रेय और श्रेय मार्ग आते हैं।[3] भोग को ही जीवन समझने वाले प्रेय-मार्ग को तथा त्याग को जीवन समझने वाले श्रेय-मार्ग को चुनते हैं। दूसरे रूप में कह सकते हैं कि त्रिगुणात्मक मन में सात्त्विक भाव का उदय होता है, तब श्रेय मार्ग उसको आकर्षित करता है और जब रजोगुण उद्भूत होता है, तब उसे विषय-वासनाएँ अर्थात् प्रेयमार्ग आकर्षित करता है। श्रेय और प्रेय मार्ग को विद्या एवं अविद्या से भी अभिहित किया गया है। अविद्या से ग्रस्त व्यक्ति यद्यपि अविवेकी होता है, किन्तु वह अपने को

---

१ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३-११-८

२ महाभारत अनुशासनपर्व, अध्याय १०६

३ कठोपनिषद् १-२-२

धीर और शास्त्रमर्मज्ञ समझता है। वह अपने ज्ञानादि को श्रेष्ठ समझकर शास्त्रों की अवहेलना करता है। श्रीमद्भागवतपुराण में 'मूर्खो देहाद्यहंबुद्धिः'[४] द्वारा भोग, देह आदि में अभिमान रखने के कारण व्यक्ति को मूर्ख कहा गया है। वह अपनी इच्छा-पूर्ति के लिए बुरे मार्गों पर गमन करता हुआ अनेक अशुभ योनियों में भटकता है।[५] इसके विपरीत श्रेय मार्ग का अनुगामी इन्द्रियों के विषयों में लुब्ध नहीं होता है। वह साधना करता हुआ राग-द्वेष के बन्धन को शिथिल करता रहता है और मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाता है।

कठोपनिषद् में रथ के रूपक द्वारा श्रेय और प्रेय मार्ग को हस्तामलकवत् स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। संसार में दो लक्ष्य हैं- १. विषयों का भोग और २. मोक्ष की प्राप्ति। साधारणजन सांसारिक विषय-भोग की ओर गमन करते हैं, किन्तु विवेकी पुरुष मोक्ष की ओर। दोनों लक्ष्य तक पहुँचने का साधन शरीर है, जिसे रथ बताया गया है। इस रथ का स्वामी कर्म-फलों का भोक्ता जीवात्मा है तथा सारथी बुद्धि और लगाम मन है। रथ को रथी नहीं चलाता, वह उस पर बैठा रहता है रथ नश्वर और सङ्घात है। शरीर भी नश्वर और भौतिक तत्त्वों का सङ्घात है। इस शरीर रूपी रथ का स्वामी निष्क्रिय है। रथ को चलाने वाले सारथी के वश में रथ और रथी है। इस शरीर रूपी रथ को गन्तव्य की ओर ले जाने वाली निश्चयात्मिका बुद्धि सारथी है। मन लगाम है। जैसे सारथी लगाम के द्वारा घोड़ों को वश में करता है, उसी प्रकार बुद्धि सङ्कल्पात्मक विकल्पात्मक मन को नियन्त्रित कर, इन्द्रियरूपी अश्वों को वश में करती है। यदि बुद्धि निर्मल रहती है तो मन उसके अधीन रहता है, यदि वह भ्रष्ट रहती है तो मन रूपी लगाम अनियन्त्रित हो जाता है तथा रथ और रथी दोनों का पतन हो जाता है।

जैसे बिना सारथी के रथ नहीं चलता है, वैसे बिना बुद्धि के शरीर क्रियावान् नहीं होता है। उसी प्रकार कर्तृत्वादि धर्म आत्मा के नहीं बुद्धि के हैं। रथ को रथी नहीं चलाता, क्योंकि वह क्रियाशून्य है। अतः आत्मा भी निष्क्रिय है। वह कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि धर्म को अपने पर आरोपित कर लेता है। जैसे स्फटिक में जब लाल पुष्प का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब स्फटिक लाल हो जाता है, उसी प्रकार जब शुद्ध आत्मा माया की उपाधि से उपहित हो जाता है, तब व्यक्ति को यह प्रतीत होने लगता है कि यह मेरा शरीर है, यह मेरी इन्द्रियाँ हैं, यह मेरा मन और बुद्धि के भोग को अपना भोग समझने लगता है। जब शरीरादि से आत्मा का सम्बन्ध समाप्त हो जाता है तब वह अपने शुद्ध रूप को प्राप्त हो जाता है।[६]

---

४ श्रीमद्भागवतपुराण ११.१९.४२

५ कठोपनिषद् १.२.५

६ आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषियांस्तेषु गोचरान्। आत्मेन्द्रियमनोमोयुक्तः भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।। कठोपनिषद् १.३.१३.४

श्रेय तत्त्व का अधिकारी–

आत्म-जिज्ञासा श्रेयतत्त्व के बोध का प्रथम सोपान है। नचिकेता इस प्रथम सोपान पर खड़ा होकर यमराज से पूछता है–

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः।।[७]

मनुष्य के मृत हो जाने पर जो यह सन्देह है – कुछ कहते हैं (आत्मतत्त्व) रहता है, अन्य कहते हैं– यह नहीं रहता है। आपसे शिक्षित हुआ मैं इस आत्मतत्त्व को जान सकूँ, यही मेरा तृतीय वर है।

नचिकेता का यह प्रश्न आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में उसके मन में चल रहे ऊहापोह को दर्शाता है। कुछ विद्वान् कहते हैं कि मृत्यु के बाद आत्मतत्त्व रहता है, जिसमें मनुष्यकृत कर्मों की वासनाएँ रहती हैं। इन्हीं वासनाओं के कारण आत्मा को दूसरा शरीर धारण कर सांसारिक वेदना के अनल में जलना पड़ता है। आत्मतत्त्व के साक्षात्कार हो जाने पर व्यक्ति जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है। आत्मा को अस्वीकार करने वाले विद्वान् कहते हैं कि शरीर के नाश होने के बाद कोई ऐसा तत्त्व नहीं रहता है, जिसमें कर्मों की वासनाएँ अनुस्यूत हों। इस संदेह के निवारण के लिए उसे यमराज सर्वथा उपयुक्त लगे।

नचिकेता के इस गूढ प्रश्न को सुनकर यमराज विस्मित हुए। वे जानते थे कि मात्र जिज्ञासा के आधार पर आत्मज्ञान किसी को नहीं दिया जा सकता। इसके अतिरिक्त इन्द्रियादि विषयों के प्रति अनासक्ति, अनन्य श्रद्धा, मन की पवित्रता, लोभ-मोह की न्यूनता, लक्ष्य के प्रति एकनिष्ठा, भोगों की क्षणिकता का बोध–ये सभी आत्मविद्या या श्रेय तत्त्व के अधिकारी के लिए आवश्यक है। नचिकेता की पात्रता को जानने के लिए यमराज द्वारा हजारों प्रलोभन दिए गए। एक मनुष्य के लिए अप्राप्य भोगों को भी देकर उसे ललचाया। किन्तु उसे **'सस्यमिव मर्त्यः पच्यते, सस्यमिवाजायते पुनः'**[८] के रूप में मनुष्य जीवन की क्षणिकता का गहराई से अनुभव था। वह जानता था – **'न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः'**[९] अर्थात् कोई भी मनुष्य प्रभूत धन के भोग से तृप्त नहीं हो सकता। धन का भोग, कामना की अग्नि के लिए घृत का काम करता है। जितना भोग किया जाता है, उतनी ही कामना की अग्नि बढ़ती जाती है। इसलिए तृप्ति का साधन वित्त का भोग नहीं हो सकता है। इस प्रकार श्रेय तत्त्व का अधिकारी आत्म-जिज्ञासु होने के साथ सांसारिक विषयों के प्रति विरक्त, अन्तःकरण को वश में रखने वाला, विशुद्ध बुद्धि से युक्त, लोक

---

७ कठोपनिषद् १.१.२०

८ कठोपनिषद् १.१.६

९ कठोपनिषद् १.१.२७

परलोक सभी भोगों से विरत, अहङ्कार से रहित होता है।

श्रेय तत्त्व का स्वरूप –

श्रेयतत्त्व मोक्ष की साधनभूत विद्या है। विद्या सदैव कल्याणकारिणी होती है। कल्याण का तात्पर्य मूलभूत परिवर्तन से लिया जाता है। चूँकि विद्या ही मानव की भोगदृष्टि को योगदृष्टि में परिणमित कर मूलभूत परिवर्तन करने में समर्थ होती है। अतः विद्या को श्रेय शब्द से अभिहित किया गया है। कठोपनिषद् में विद्या के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए उसे मोक्ष का मार्ग कहा गया है। मोक्ष के मार्ग पर आत्मानुभूति किए बिना नहीं चला जा सकता है। अतः यमराज ने श्रेय तत्त्व के रूप में आत्मतत्त्व को बताते हुए कहा है—

न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।[१०]

आत्मा ज्ञानस्वरूप है। नित्य चैतन्यरूप होने से यह 'ज्ञ' है। सम्पूर्ण संसार किसी न किसी कारण से उत्पन्न हुआ है। इस आत्मा का कोई कारण नहीं है, यह अनादि है। कारण वाले पदार्थ अनित्य होते हैं इसलिए कारणाभाव के होने से यह नित्य है। यह आत्मा अपरिणामी है, क्योंकि इससे किसी अर्थवस्तु की उत्पत्ति नहीं हुई है। इससे यह सिद्ध होता है कि न इसका कोई कारण है न कार्य। अतः यह अज आत्मा नित्य अर्थात् त्रिकाल पर्यन्त रहने वाला है। इसमें किसी प्रकार का अपक्षय नहीं होता है, अतः शाश्वत है। यह पुरातन है अर्थात् पहले और आज दोनों अवस्था में नूतन ही है, किसी प्रकार की वृद्धि नहीं हुई है। उपाधि के नष्ट होने पर इस आत्मा का नाश नहीं होता है। यदि शस्त्रादि के द्वारा शरीर का नाश किया जाए तो देहादिसङ्घात का नाश होता है, आत्मा का नहीं, क्योंकि यह निरवयव है।

आचार्य शङ्कर ने कठोपनिषद् भाष्य में लिङ्गपुराण के श्लोक को उद्धृत करते हुए चार प्रकार से आत्मा शब्द की व्युत्पत्ति की है–

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयान्निह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।।[११]

अर्थात् यह सबको व्याप्त करता है, ग्रहण करता है, इस लोक में विषयों को भोगता है तथा इसका सर्वदा सद्भाव है, इसलिए यह आत्मा कहलाता है। यहाँ 'आप्लृ व्याप्तौ', आङ् उपसर्ग पूर्वक 'दाञ् दाने', अद् भक्षणे एवं 'अत् सातत्यगमने' आदि चार धातुओं से आत्मा शब्द को निष्पन्न माना गया है।

आत्मा परमाणु से भी सूक्ष्म है। परमाणु सावयव है, क्योंकि द्वयणुक से परमाणु का

---

१० कठोपनिषद् १.२.१२, गीता २.२० में भी द्रष्टव्य

११ कठोपनिषद् २.१.१ के शङ्करभाष्य में उद्धृत पुराण १.७०.३६

निर्माण होता है। आत्मतत्त्व निरवय होने से अणु से भी सूक्ष्म है। आकाश परम महत् परिमाण वाला है। आत्मा तत्त्व इस परम महत् आकाश से भी महान् है, क्यों कि यह आकाश का भी कारण है।[१२] इस प्रकार का परमात्मा तत्त्व जीव के हृदय में निहित है। माया या अज्ञान के कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता है।[१३]

आत्मतत्त्व की महिमा को बताते हुए कठोपनिषद्कार कहते हैं-

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं, गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं, मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।[१४]

अर्थात् कठिनाई से साक्षात्कार किये जाने वाले, गूढस्थान में अन्तर्हित, सर्वव्यापी, बुद्धि रुपी गुफा में स्थित, सनातन, प्रकाशशील आत्मतत्त्व को जानकर मानव हर्ष और शोक से रहित हो जाता है। मनुष्य इस आत्मतत्त्व को सुनकर, भलीभाँति ग्रहणकर तथा निदिध्यासन कर आनन्दित होता है। यह परमात्म तत्त्व (शुद्ध आत्मतत्त्व) आनन्द[१५] स्वरूप है। इसलिए इसका साक्षात्कार करने वाला आनन्दित होता है।

श्रेय-प्राप्ति के उपाय

श्रेय-प्राप्ति के उपाय रूप में कठोपनिषद् में उल्लिखित है— आत्मानुसन्धान, अन्तर्मुखी होना, श्रवण-मनन- निदिध्यासन, बुद्धि की निर्मलता, मन का संयमन आदि।

कठोपनिषद्कार कहते हैं कि आत्मानुसंधान के बिना वेदाध्ययनादि साधन या उपाय निष्फल हैं, यथा-

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्।।[१६]

आत्मा को केवल वेदाध्ययन से नहीं जाना जा सकता, जैसे श्वेतकेतु वेदाध्ययन से आत्मतत्त्व को नहीं जान पाया था।[१७] ग्रन्थ धारण की बुद्धि या तर्क से भी आत्मा का साक्षात्कार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि आत्मा अतर्क्य है।[१८] इसलिए शास्त्रों का श्रवण आत्म-साक्षात्कार का उपाय नहीं है। आत्मतत्त्व उसी को प्राप्त होता है, जो इसका अनुसन्धान करता है। जो पापकर्म से विरत नहीं है, जिनकी इन्द्रियाँ चञ्चल हैं, जिनका मन

---

१२ एतदात्मना आकाशः सम्भूतो (तैत्तिरीयोपनिषद् २.१)

१३ अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य। जन्तोर्निहितो गुहायाम्। (कठोपनिषद् १.२.२८)

१४ कठोपनिषद् १.२.१२

१५ आनन्दं ब्रह्मेति - तैत्तिरीयोपनिषद्, २.६

१६ कठोपनिषद् १.२.३३

१७ सर्वान् वेदानधीत्य महामना....। तं ह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु।
सौम्येदं महामना अनूचानमालो स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः।। छान्दोग्योपनिषद् ६.१.२

१८ अतर्क्यमणुप्रमाणात्, कठोपनिषद् १.२.८

एकाग्र नहीं है जिनका मन पूर्व रूप से समाहित नहीं है, वह सूक्ष्मबुद्धि के द्वारा भी आत्मतत्त्व को प्राप्त नहीं कर सकता है।[१९]

आत्मदर्शन के लिए कठोपनिषद्कार कहते हैं कि मनुष्य को इसके लिए अन्तर्मुखी होना आवश्यक है –

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः, तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षद्, आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।[२०]

परमेश्वर ने इन्द्रियों को बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाला बनाया है, इसलिए मनुष्य बाहर की ओर देखता है, अन्तरात्मा को नहीं देखता। ज्ञानी जन मोक्ष की इच्छा करते हुए नेत्रों को अन्तर्मुखी करके प्रत्यक्ष अन्तरात्मा को देख लेते हैं।

अन्तर्मुखी होने के पश्चात् उपासक जब दृष्ट और श्रुत विषयों की कामनाओं का परित्याग कर देता है तब उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। बुद्धि के निर्मल होने पर सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है और बुद्धि स्थिर हो जाती है। अतः उपासक निर्मल बुद्धि से परमात्मा की नित्यता, सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता, ज्ञानरूपता आदि का साक्षात्कार कर लेता है। बुद्धि जब तक विषय वासना में फँसी रहती है तब व्यक्ति अपने को ही सर्वज्ञ समझता रहता है। बुद्धि की निर्मलता के द्वारा ही आत्मा की महिमा जानी जाती है।

सभी प्राणियों में स्थित होता हुआ भी अविद्या से आच्छादित यह प्रत्यक् चैतन्य रूप आत्मा सभी के द्वारा प्रकाशित नहीं होता है। केवल सूक्ष्म तत्त्वों का साक्षात्कार करने वाले पण्डितों के द्वारा एकाग्र और सूक्ष्म बुद्धि से आत्मा का साक्षात्कार किया जाता है।[२१] बुद्धि की एकाग्रता के बिना सूक्ष्म परमात्मा का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। अतः बुद्धि को सूक्ष्म और एकाग्र करने के उपाय बतलाते हुए कहा गया है–

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।[२२]

मन को एकाग्र करने के लिए इन्द्रियों को मन में विलीन कर देना चाहिए। इन्द्रियाँ विषयों की और भागती रहती हैं। इसलिए सभी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर मन में समाहित कर लेना चाहिए। यदि एक भी इन्द्रि विषय की ओर जाती है तो प्रज्ञा नष्ट हो जाती है।[२३] मन में विलय होने पर केवल मन का सङ्कल्पात्मक और विकल्पात्मक व्यवहार होता है। अब मन को ज्ञानस्वरूप निश्चयलक्षण वाली बुद्धि में विलीन कर देना

१९ कठोपनिषद् १.२.२४
२० कठोपनिषद् २.१.१
२१ गीता २.६४
२२ कठोपनिषद् १.३.१२
२३ इन्द्रियाणां हि सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् तेनास्य द्रवते प्रज्ञादृतेः पादादिवोदकम् (मनुस्मृति)

चाहिए। मन से बुद्धि सूक्ष्म है। बुद्धि में मन जब विलीन हो जाता है तब उसकी चञ्चलता समाप्त हो जाती है। फिर बुद्धि को प्रकाशात्मक महत् तत्त्व में विलीन करना चाहिए। इस प्रकार बुद्धि महत् में विलीन होकर आत्माकार को प्राप्त करती है। यह आत्मा शान्त और निष्क्रिय है। इसमें विलीन कर देने से परम शान्ति की प्राप्ति होती है। श्रवण, मनन और निदिध्यासन द्वारा श्रेय तत्त्व अर्थात् आत्म तत्त्व का जो वरण करता है, वह सम्पूर्ण जीवन आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में समर्पित कर देता है। जब उसकी द्वैत बुद्धि समाप्त हो जाती है, ब्रह्म को अपने से भिन्न नहीं समझता है, तभी उसे आत्मा का साक्षात्कार होता है।

आत्मसाक्षात्कार में आने वाली कठिनाई की कारणता को स्पष्ट करते हुए उपनिषद् में कहा है- **'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च'**।[२४] आत्मा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि से रहित है, इसलिए नेत्रादि इन्द्रियों से इसका साक्षात्कार नहीं हो सकता। मनुष्य उसी वस्तु को सरलतापूर्वक जान सकता है, जहाँ तक उसकी इन्द्रियाँ काम करती हैं। आत्मा इन्द्रियगोचर वस्तु नहीं है, वह तो अव्यय और नित्य है। अतः आत्मतत्त्व को जानना तलवार के धार पर चलने के समान है। इस प्रकार आत्मतत्त्व का बोध ही श्रेय तत्त्व का ज्ञान है। जो इस बोध से युक्त हो जाता है वह धीर पुरुष हर्ष-शोक से रहित हो जाता है, जैसा कि कहा है- **'धीरो हर्षशोकौ जहाति।'**[२५] **'सर्व प्रमुच्यन्ते कामाः'**[२६] सभी कामनाएँ छूट जाती हैं। आत्मज्ञान के पश्चात् वह किसी से घृणा नहीं करता, सबको आत्मवत् जानता है।[२७] इस तरह जीव के हृदय की सारी ग्रन्थियाँ (गाँठें, बन्धन) खुल जाती हैं और वह जन्म-मरण की प्रक्रिया से मुक्त हो जाता है।[२८]

---

२४ कठोपनिषद् १.३.१५
२५ कठोपनिषद् १.२.१२
२६ कठोपनिषद् २.३.१४
२७ कठोपनिषद् २.१.५
२८ कठोपनिषद् २.३.१५

छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित आहार-शुद्धि

डॉ. चन्द्रशेखर
आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

"ओ३म् मेरे अङ्ग सब प्रकार से पुष्ट हों, वाणी, प्राण, नेत्र और श्रोत्र पुष्ट हों तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ बल प्राप्त करें।

उपनिषद् में (प्रतिपाद्य) प्रतिपादित ब्रह्म ही सब कुछ है। मैं ब्रह्म का निराकरण न करूँ और ब्रह्म मेरा निराकरण न करे। इस प्रकार हमारा अनिराकरण हो, अनिराकरण हो।

उपनिषदों में जो शम आदि धर्म कहे गये हैं वे ब्रह्मरूप आत्मा में निरन्तर रमण करने वाले मुझ में सदा बने रहें, वे मुझ में सदा बने रहें।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ताप की शान्ति हो।[1]

जहाँ जीवन है वहाँ ताप है, जहाँ ताप है वहाँ दुःख है, जहाँ दुःख है, वहाँ कैसी शान्ति। भगवति श्रुति कहती है, जो अयोगी है, उसमें विवेक नहीं, भावना (श्रद्धा) उसमें कहा, अभावन कहाँ शान्त कैसे सुख अशान्त को।[2]

अतः जो शम आदि धर्म कहे गये हैं, वे मुझ में और मैं उनमें रमण करता रहूँ। मैं योग युक्त रहूँ, विवेक युक्त रहूँ। यही सुख एवं शान्ति का उपाय है। लेकिन यह उपाय ही कठिन प्रतीत होता है। 'उपाय' के विपरीत 'अपाय' का विचार सुख एवं शान्ति को विदा कर देता है। शम आदि जो धर्म कहे गये हैं वे जीवन के ताप का शमन करने वाले हैं, लेकिन आपदाएँ उस ताप के अतिरेक में जीवन को युक्त कर देती हैं। नित्य, नैमित्तिक और आपद् के द्वन्द्व में आकर बुद्धि ठहर जाती है।

यही द्वन्द्व जीवन को आप्यायित करने लगता है। वह हमारे अङ्गों, वाणी, प्राण, नेत्र और श्रोत्र आदि को पुष्ट नहीं करता। पोषण के अभाव में, जीवन क्षीण होने लगता है, व्यक्ति बलहीन होने लगता है और बलहीन व्यक्ति को यह ब्रह्म प्राप्त नहीं होता। इसलिए उपनिषद् में प्रतिपादित ब्रह्म ही जिसका सब कुछ है, उसे निरन्तर अपने को पुष्ट एवं बलवान् करना चाहिए। यही श्रुति की आज्ञा है।

ताप विचलित करता है, द्वन्द्व उत्पन्न करता है, विवेक की परीक्षा भी करता है। यही परीक्षा छान्दोग्योपनिषद् में आपद् धर्म के विवेक को प्रकट करती है और यह दिखलाती

है कि आचार शुद्धि के साथ आहारशुद्धि का विवेक किस प्रकार इस द्वन्द्व का निराकरण कर देता है। यहाँ 'आहार' का विवेक एवं 'शुद्धि' के विवेक को उपनिषद् एक सरल आख्यान से स्पष्ट कर देता है।

छान्दोग्य उपनिषद् के उषस्ति के आख्यान में आपद् धर्म के विवेक की आवश्यकता में आता है कि "ओले और पत्थर पड़ने से कुरुदेश के खेती के चौपट हो जाने पर इभ्यग्राम के भीत चक्र का पुत्र उषस्ति दुर्गति की अवस्था में रहता था। उसने भुने हुए उड़द खाने वाले एक महावत से याचना की। तब उसने कहा— इन जूठे उड़दों के सिवा मेरे पास और (कुछ) नहीं है, जो कुछ एकत्र थे वे सब के सब मैंने (अपने भोजन पात्र में) रख लिए हैं। उषस्ति ने कहा— तू मुझे इन्हें ही दे दो। तब महावत ने उड़द उसे दे दिए और कहा 'यह अनुपान भी लो। इस पर वह (उषस्ति) बोला— 'इसे लेने से मेरे द्वारा निश्चय ही उच्छिष्ट जल पीया जाएगा। 'क्या ये (उड़द) भी उच्छिष्ट नहीं है? उसने कहा— 'इन्हें बिना खाये तो मैं जीवित नहीं रह सकता था, जलपान तो मुझे यथेच्छ मात्रा में मिलता है।" इस प्रकार उषस्ति ने जीवन रक्षा के लिए विवेक पूर्वक धर्म को ग्रहण कर उन उड़दों को उच्छिष्ट नहीं माना। यहाँ पूर्व में दुर्भिक्ष को उस समय की आपदा का कारण बतलाया गया है।

यह आख्यान स्पष्ट करता है कि उषस्ति ने उच्छिष्ट अन्न ग्रहण किया किन्तु उसने आहार की मर्यादा का त्याग नहीं किया। तैत्तिरीय का मन्त्र कहता है— "आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ है। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से आप, आप से पृथ्वी, पृथ्वी से औषधि, औषधि से अन्न (और) अन्न से पुरुष (उत्पन्न) हुआ। वह यह पुरुष अन्न रसमय है।"[४] श्रुति कहती है— 'अन्न की निन्दा न करें, यह व्रत है। अन्न का त्याग न करें, यह व्रत है। अन्न खूब उत्पन्न करें यह व्रत है। (किसी को भी निवास के बारे में मना न करे, यह व्रत है।) इसलिए किसी भी उपाय से बहुत अन्न प्राप्त करें।[५]

अन्न से ही भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हुए अन्न से बढ़ते हैं। यह अन्न भूतों द्वारा खाया जाता है और भूतों को खाता है इसलिए उसे अन्न कहते हैं। यह अन्न ही आहार है। यह 'आहार' के रूप में ग्रहण करने का कारण यह है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में स्पष्ट कहा है कि सात प्रकार के अन्न हैं। एक सर्वसाधारण (अन्न) है। इसे सभी खाते हैं। यह सब के साथ बाँट कर खाने के लिए है। इसी क्रम में पशु व मनुष्य को दूसरा एक अन्न दिया गया है, "वह दूध है, क्योंकि मनुष्य और पशु प्रथम दूध पर ही जीते हैं।"[६] अतः मनुष्य का आहार केवल अन्न और दुग्ध ही है। अन्न का अर्थ शाकाहार ही है।

'शुद्धि' की दृष्टि से 'उच्छिष्ट' या जूठा यह मन्तव्य है, अतः जहाँ तक हो सके मनुष्य शाकाहारी रहे और उच्छिष्ट का सेवन न करे। अन्यथा वह अपने जीवन के लाभ को प्राप्त नहीं कर सकता। आहार शुद्धि का यह सङ्केत छान्दोग्य का गुढ सङ्केत है। शुद्धि का

अर्थ उसके दोष रहित होने से लेकिन शुचिता भी इसमें अन्तर्निहित है। यह व्याख्यान यह भी स्पष्ट कर देता है कि अन्न को छुआछूत नहीं छूता।

जैसा कि पूर्व में आया है, आत्मा से ही आकाश और अन्न उत्पन्न हुए हैं, श्रुति पुनः स्पष्ट करती है कि 'ब्रह्मज्योति के दो रूप हैं— एक शान्त और एक समृद्ध। जो शांत है उसका आधार है आकाश। जो समृद्ध है उसका आधार है अन्न।'[७]

इस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में वर्णित आहार शुद्धि मनुष्य के आहार को और उसकी मर्यादा को निश्चित करती है और साथ ही उसकी शुद्धि का निर्देश भी। ऐसा शुद्ध आहार ही शान्त व तृप्त करने वाला है। रसमय है। वही बल प्रदाता है। पोषण के लिए युक्त है। योग्य आहार है। हम सभी इसे ग्रहण कर शान्त एवं तृप्त हों।

सन्दर्भ ग्रन्थ

१. ॐ आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक्प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि। सर्वं ब्रह्मोपनिषदमाहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु। तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्तु मयि सन्तु ते मयि सन्तु।। ओ३म् शान्तिः। शान्तिः। शान्तिः। (छान्दोग्योपनिषद् शान्तिपाठ। सानुवाद शाङ्करभाष्य सहित, गीताप्रेस, गोरखपुर)

२. नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना। न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।। (गीता अध्याय २,६६)

३. "महचीहतेषु..... उवास।१।
स हेम्यं..... इति।२।
एतेषां..... होवाच।३।
न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा....उदकपानमिति।४।
(छान्दोग्य, प्रथम अध्याय, खण्ड-१०) वही

४. "तस्माद् वा.....पुरुषोऽन्नरसमयः"
"अन्नात् भूतानि जायन्ते.....तस्माद्
अन्नं तदुच्यते (तैत्तिरीय अध्याय -१,९)

५. "अन्नं न..... बह्वन्नं प्राप्नुयात्" (तैत्तिरीय-२४)

६. "पशुभ्य एकं...। तत् पयः। पयो.... उपजीवन्ति।" (बृहदारण्यक म.२४)
१. सभी के लिए। २. व ३. हूत एवं प्रहूत (द्रव्य और समर्पण) ४. पशु व मनुष्य के लिए दुग्ध ५. स्वयं के लिए (परमपिता के लिए) मन, वाणी तथा प्राण
(अतः अन्न, हूत, पहूत, दुग्ध, मन, वाणी, प्राण-७)

७. "द्वे वाव..... तस्य अन्नम्।' (मैत्रायणी उपनिषद्, म. १९)

आहारशुद्धिः छान्दोग्य उपनिषद् के आलोक में

डॉ. हेमलता जैन
अतिथि व्याख्याता
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपुर।

पर्यावरण सन्तुलन एवं संरक्षण भारतीय संस्कृति और जीवन शैली का अभिन्न अंग है। **'अहिंसा परमो धर्मः'** का सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय समर्थन करता है। योग दर्शन, जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन इसे व्रत के रूप में स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में **'न हिंस्यात् सर्वा भूतानि'**, **'न वै हिंस्रो भवेत्'** आदि वाक्य अहिंसा भावना के पोषक हैं।

अहिंसा की भावना आहार से सम्बद्ध होती है। शुद्ध आहार अहिंसा को बल देते हुए परमार्थतत्त्व की प्राप्ति कराता है। छान्दोग्य उपनिषद् में आहार शुद्धि को आत्मविद्या के हेतुभूत साधन के रूप में महत्त्व देते हुए कहा गया है –**'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः। स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः'**।[1]

अर्थात् आहार शुद्धि होने पर अन्तःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि होने पर स्मृति निश्चल होती है तथा निश्चल स्मृति की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण ग्रन्थियों की निवृत्ति हो जाती है।

इसकी आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए शङ्कराचार्य अपने भाष्य में आहार शुद्धि का सूक्ष्म अर्थ करते हैं। वे कहते हैं कि भोक्ता, भोग के लिए शब्दादि विषय विज्ञान का आहरण करता है, वह विषयोपलब्धि रूप विज्ञान की शुद्धि ही आहारशुद्धि है। अर्थात् राग, द्वेष, मोह आदि दोषों से असंसृष्ट होना ही आहार शुद्धि है— **शब्दादिविषयविज्ञान विषयोपलब्धिलक्षणस्य विज्ञानस्य शुद्धिराहारशुद्धि रागद्वेषमोहदोषैरसंसृष्टं विषय-विज्ञानम् इत्यर्थः।**[2]

शङ्कराचार्य के भाष्य से स्पष्ट होता है कि व्यक्ति मन, वचन और काय से आहरण

---

१ छान्दोग्योपनिषद् ७.२६.२

२ छान्दोग्योपनिषद् ७.२६.२ शाङ्करभाष्य

करता है। द्वेषभाव रखना, राग करना आदि सभी आहार मन को अशुद्ध बनाते हैं। इसी तरह हम वचन से किसी के प्रति अशुभ वचन बोलते हैं, किसी की मिथ्या प्रशंसा करते हैं, तो इससे जिस नकारात्मक ऊर्जा का हम आहरण करते हैं, वह हमारे वचनों को अशुद्ध और मिथ्या कर देती है। व्यक्ति मन, वचन की भाँति काया के द्वारा सन्तुलित भोजन न करके, माँसाहार का सेवन करके, मद्यपान कर, असमय भोजन कर, तामसिक खाद्य पदार्थों का भोग करके आहार की शुद्धता का विवेक नहीं रखता है। अतएव हमें मन, वचन और काय तीनों से आहरण शुद्धि का ध्यान रखना चाहिए।

शङ्कराचार्य भोक्ता के द्वारा भोग किए गए शब्दादि विषयों की शुद्धता का महत्त्व देते हैं। इन विषयों के आहरण की शुद्धि मन को निर्मल बनाती है। शुद्ध एवं निर्मल मन से हमें अविच्छिन्न स्मृति प्राप्त होती है। यह अविच्छिन्न स्मृति हमारे अनेक जन्मों में सञ्चित किए गए कर्मों की मुक्ति का साधन बनती है।

'अन्नमयंहि सोम्य मनः'[३] छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार मन अन्नमय है। **'जैसा खाए अन्न, वैसा होय मन'** किसी कवि की यह उक्ति छान्दोग्य उपनिषद् के इसी वाक्य को सिद्ध करती है। इस उपनिषद् के अनुसार हमारे द्वारा खाया गया अन्न तीन प्रकार का हो जाता है— **'अन्नमशितं त्रेधा विधीयते तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत्पुरीषं भवति यो मध्यमः तन्मासं यो अणिष्ठस्तन्मनः।'**[४]

अर्थात् खाया हुआ अन्न जठराग्नि द्वारा पचाये जाने पर तीन भागों में विभक्त हो जाता है। अन्न का स्थूलतम अंश मल बन जाता है, मध्यम अंश रसादि क्रम से परिणत होकर माँस बनता है तथा अणुतम सूक्ष्म अंश ऊपर की ओर हृदय में पहुँचकर हिता नाम की सूक्ष्म नाड़ी में प्रवेश कर वायु आदि इन्द्रिय समूह की स्थिति उत्पन्न करता हुआ मन में विपरिणमित हो जाता है।

अन्न की तरह ही हमारे द्वारा पीये गए जल का स्थूलतम भाग मूत्र, मध्यमभाग रक्त एवं सूक्ष्मतम अंश प्राण बनता है तथा खाए गए अन्नादि का तेज क्रमशः हड्डी, मज्जा एवं वाक् हो जाता है।[५] अतएव यहाँ कथन किया गया है कि मन अन्नमय है, प्राण जलमय है और वाक् तेजोमयी है– **अन्नमयंहि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः तेजोमयी वागिति।'**[६]

मन अन्नमय ही है, इसे एक दृष्टान्त के द्वारा छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ अध्याय में आरुणि–श्वेतकेतु संवाद के माध्यम से समझाया गया है। आरुणि कहते हैं कि पुरुष

३ छान्दोग्योपनिषद् ६.६.५
४ छान्दोग्योपनिषद् ६.६.२
५ छान्दोग्योपनिषद् ६.५.२–३
६ छान्दोग्योपनिषद् ६.६.५

सोलह कलाओं वाला है अर्थात् मन की शक्ति पुरुष में सोलह प्रकार से विभक्त हो जाती है। अतएव तुम पन्द्रह दिन भोजन न कर मात्र जलपान करो। श्वेतकेतु ने पिता की आज्ञानुसार कर्म किया। सोलहवें दिन उसके पास आकर बोले - भगवन्! क्या बोलूँ। तब पिताजी ऋक्, यजु और साम का पाठ करने का आदेश देते हैं। तभी श्वेतकेतु बोला मुझे स्फुरण नहीं होता। तदनन्तर पिता आरुणि को भोजन करने की आज्ञा देते हैं। भोजनोपरान्त श्वेतकेतु पिता के द्वारा पूछे गए सभी प्रश्नों का यथार्थ उत्तर देते हैं। तब आरुणि उसे समझाते हैं कि जिस प्रकार बहुत ईंधन से युक्त अग्नि का एक खद्योत मात्र अङ्गारा अकेले दाह उत्पन्न नहीं कर पाता है, परन्तु वही अङ्गारा तृण के सम्पर्क में आकर अत्यधिक दाह उत्पन्न कर सकता है। उसी प्रकार मात्र एक कला से युक्त तुमने अन्न द्वारा अपनी शेष पन्द्रह कलाओं को पुनः प्राप्त किया। तब जाकर तुम्हें वेदों का अनुभव हुआ। अतः हे सोम्य! मन अन्नमय है। मन की शक्ति के रहने पर ही पुरुष द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञाता तथा समस्त क्रियाओं में समर्थ होता है। अतः मानसिक बल अन्न से ही प्राप्त होता है।

इस प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में मन, वचन और काय से सम्बन्धित विषयों की आहार शुद्धि से अविद्या की निवृत्ति का उपदेश दिया गया है।

उपनिषदों में मनोविज्ञान

देवर्षि कलानाथ शास्त्री
राष्ट्रपति सम्मानित मनीषी एवं अध्यक्ष,
आधुनिक संस्कृत साहित्य,
जगद्गुरु रा. रा.संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

प्राचीन भारतीय मनीषियों ने किन्हीं जटिल यन्त्रों या साधनों के बिना अपने चिन्तन के बल पर ज्ञान और विज्ञान की जिन गहराइयों को छू लिया या उन तक जब आज के विज्ञानयुग के अन्वेषक पहुँचते हैं और उनकी बहुत सी उपलब्धियों को आधुनिक कसौटियों पर भी खरी उतरती पाते हैं तो भारत के प्राचीन ज्ञान पर श्रद्धा होना स्वाभाविक है। मैं उन पुराणपन्थियों में नहीं हूँ जो कि आधुनिक विज्ञान के प्रत्येक सिद्धान्त को वेदों में पहले से ही वर्णित सिद्ध करना चाहते हैं किन्तु बहुधा यह देखकर आश्चर्य होता है कि शताब्दियों के वैज्ञानिक विचार मन्थन के बाद उद्भूत जिन अवधारणाओं को हम आज आधुनिक मानते हैं उन अवधारणाओं के बहुत कुछ निकट पहुँचकर हमारे प्राचीन ग्रन्थ कुछ इस प्रकार का आभास देते हैं कि ये विचार उस प्राचीन युग में भी नितान्त अपरिचित नहीं थे, चाहे उनका उस सूक्ष्मता से विवेचन नहीं किया गया हो।

भारत के उपनिषत् साहित्य में दर्शन की ऐसी मूलभूत अवधारणाएँ निहित हैं। यहाँ यह स्पष्ट करना उचित होगा कि इस आलेख में 'मन' शब्द से हमारा तात्पर्य उस मत की अवधारणा से नहीं है, जो वेदों और उपनिषदों में षोडशकल पुरुष की अवधारणा के अङ्ग के रूप में सृष्टि के कारण की तरह वर्णित है। वह विशाल और व्यापक अवधारणा है, जो 'कामस्तदग्रे समवर्ततााधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्' (ऋग्वेद) या 'अनेजदेकं मनसो जवीयाः' (ईशावा.) आदि वचनों के द्वारा प्रतिपादित है। आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक् नामक कलाओं में उल्लिखित मन जिसके श्वोवसीय आदि भेद हैं पृथक् अवधारणा है जिस प्रकार हजारों पृष्ठ लिखे गए हैं। यहाँ हमारा तात्पर्य उस मानव मन से है, जिसका प्रयोग मनोरोग, मनश्चिकित्सा, मनःस्थिति आदि शब्दों में होता है। भारत में मनोरोगों की चिकित्सा भी होती थी और मनसात्विक विश्लेषण भी। उसके कुछ बीज

उपनिषदों में भी पाए जाते हैं। उनमें मनोविज्ञान की आधारभूत धारणाओं के भी अनेक अङ्कुर परिलक्षित होते हैं, यद्यपि जिसे आज आधुनिक मनःशास्त्री मनोविज्ञान का नाम देते हैं उसका उतना स्पष्ट विवेचन उपनिषदों में नहीं मिलता, जितना परवर्ती दर्शनों, आयुर्वेद या साहित्य शास्त्र में मिलता है। इसका कारण भी स्पष्ट है— उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य है वह चरम सत्य जो मन, बुद्धि आदि से परे है और इसीलिए उपनिषदों की विचारसरणि मोटे रूप में वहाँ से आरम्भ होती है जहाँ मानव की स्थूल बुद्धि के गोचर ज्ञान की सीमा समाप्त होती है और रहस्यात्मक पारमार्थिक सत्ता की सीमा शुरू होती है। इस प्रकार उपनिषदों का क्षेत्र तत्त्वमीमांसा या आन्टोलाजी है तो मनोमीमांसा से पृथक् है। तथापि 'मन' की शक्तियों और स्वास्थ्य के बारे में उनमें पर्याप्त विवेचन प्रारम्भिक सोपान के रूप में उपलब्ध है। कठोपनिषद् कहते हैं— **'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्योबुद्धेःपरतस्तु सः।'** हमारी इन्द्रियों पर नियमन करती है हमारी इच्छाएँ, इच्छाओं का नियमन करता है, मन, मन का नियमन करता है मस्तिष्क, मस्तिष्क का नियमन करने वाली है एक अदृश्य शक्ति। यही अदृश्य शक्ति हमारी खोज का विषय है। इस प्रकार उपनिषदों को जिसकी खोज है वह मन से ऊपर की वस्तु है।

मनोविज्ञान का यदि यह अर्थ लिया जाए कि एक तत्त्व के रूप में मन और उसकी वृत्तियों का विवेचन तथा पारमार्थिक सत्ता के साथ उसके सम्बन्ध का विज्ञान है तो उपनिषदों में इस पर पर्याप्त विचार-मन्थन मिलेगा।

आधुनिक मनोविज्ञान, मानवीय मन, उसकी क्रियाओं और उसके व्यवहार का अध्ययन करता है, वह मस्तिष्क, मानसिक भावनाओं, ग्रन्थियों, बुद्धि के क्षेत्र, विचार, स्वप्न आदि का विज्ञान है।

इस प्रकार इसका क्षेत्र मानवीय जागतिक व्यवहार की परिधि है। किन्तु इस दृष्टि से भी उपनिषदों में ऐसे अनेक विचार मिलते हैं, जो आधुनिक मनस्तात्विक विवेचनों के बिलकुल निकट से प्रतीत होते हैं।

प्रश्नोपनिषद् में सुकेशा भारद्वाज आदि छः ऋषि दार्शनिक जिज्ञासाएँ लेकर महर्षि पिप्पलाद के पास जाते हैं और विविध प्रश्न पूछते हैं— ब्रह्माण्ड के अनेक क्रियाकलापों का रहस्य, काल की गति, शरीर के विविध अवयव तथा उपादान, प्राण तथा जीवन इन सबके बारे में उनके छः प्रश्नों का एक-एक करके पिप्पलाद उत्तर देते हैं। इनमें से चौथा प्रश्न मन के बारे में ही है।

मनुष्य इन्द्रियों द्वारा जो क्रियाएँ करता है उनका सञ्चालन नाड़ी मण्डल या तन्त्रिकाजाल करता है। इसे मन ही प्रेरित करता है। वही संवेदन का आधार है, वही कर्मेन्द्रियों को सञ्चालित करता है। उपनिषदों में प्राण, अपान, उदान, व्यान और समान ये पाँच शक्तियाँ

बतलाई हैं। समान हमारी श्वास-प्रश्वास प्रक्रिया या रेस्पिरेट्री सिस्टम का नियमन करने वाला तत्त्व है, अपान पाचन क्रिया या डाइजेस्टिव सिस्टम का नियमन करता है, व्यान संवेदन तन्त्र या सेंसरी सिस्टम का नियमन करता है, उदान उत्सर्जन तन्त्र या एक्सक्रोटरी सिस्टम का प्राण समूची जीवन शक्ति का नियामक है। संवेदी तन्त्र किस प्रकार करोड़ों नाड़ियों के नर्वस सिस्टम से बने हैं इसका पूर्ण विवरण पिप्लाद देते हैं। यह विवरण न्यूरोन जाल की विपुलता का पूर्वज सा लगता है। कुछ समय पूर्व यह अत्युक्ति लगती होगी, आज विज्ञान द्वारा सत्यापित है— **'अत्रैतदेकशतं नाडीनाम्। तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वावासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखा नाडीसहस्रापि भवन्ति। आसु व्यानश्चरति।'**

एक सौ नाड़ियों में से प्रत्येक में, सौ-सौ उपनाड़ियाँ, उनमें से प्रत्येक में बहत्तर नाड़ियाँ, उनकी एक-एक हजार शाखाएँ इस प्रकार यह तन्त्रिका जाल बहुत जटिल है और समस्त शरीर में बहत्तर करोड़ नाड़ियाँ होती है। इन सबका नियन्त्रण व्यान करता है।

बहत्तर करोड़ नर्व्स की इस गिनती में चाहे कुछ कमोबेशी हो सकती है किन्तु उस समय भी उपनिषदों को न्यूरोन के तन्त्रिका जाल तथा सेंसरी मोटर बायोमीटर नर्वस आदि का ज्ञान था यह इससे अनुमान किया जा सकता है।

कुछ समय पूर्व तक तो पाश्चात्य विज्ञान करोड़ों नागरिकों की इस गिनती पर विश्वास ही नहीं करता था। हमारे यहाँ 'मनोवहा नाड्याः' कहकर बहत्तर करोड़ की जो गिनती बताई गई है उसे न्यूसेंस की जानकारी होने के बाद पाश्चात्य मनःशास्त्रियों ने भी दाँतों तले अङ्गुली दबाकर अत्यन्त तलस्पर्शी विवेचन माना। वे न्यूरोंस की संख्या को और शक्ति को इसी प्रकार अनन्त मानते हैं।

इसी प्रश्नोपनिषद् में निद्रा कैसे आती है तथा हम स्वप्न में कैसे देखते हैं इसके बारे में भी प्रश्न है। पिप्पलाद का उत्तर है कि इनका नियमन भी मन ही करता है। स्वप्न के रहस्य का पूर्ण वैज्ञानिक समाधान तो आज भी उपलब्ध नहीं है किन्तु आज वैज्ञानिक इसका जो विवेचन करते है उसके कितने निकट उपनिषद् का यह स्पष्टीकरण है यह देखिए— **'अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति। यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति, श्रुतं श्रुतमेवार्थं मनुशृणोति। देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति। दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति, सर्वः पश्यति।'**

यह एक आत्मा की शक्ति ही मन के माध्यम से स्वप्नों का दर्शन कराती है। जिस महिमा का अनुभव अर्थात् जिन इच्छाओं की पूर्ति जाग्रत अवस्था में नहीं हो पाती है बहुधा उसकी पूर्ति स्वप्न में होती है किन्तु स्वप्न में घूम-फिर कर वही दृश्य दिखलाई देते हैं, जो कभी पहले देख रखे हों। वही शब्द सुनाई देते हैं,जो पहले सुन रखे हों। वही अनुभव अनुभूत होते हैं जो पहले किसी देश या दिगन्तर में हो चुके हों। यह हो सकता है

कि उनका मिश्रण इस प्रकार हो जाता हो कि दृष्ट और अदृष्ट, श्रुत और अश्रुत, अनुभूत और अननुभूत, सत् और असत् घुल-मिलकर स्वप्न में दिख रहे हों, ऐसा आभास होने लगे। इस विवेचन में अपूर्ण इच्छाओं को स्वप्न द्वारा तृप्ति की अवधारणा के साथ-साथ पृथक्-पृथक् बिखरे अनुभवों का मिला-जुला विचित्र रूप स्वप्न में दिखलाई दे सकता है इस धारणा का भी स्पष्ट विवरण है। प्रसिद्ध पाश्चात्य मनोविज्ञानी वुडवर्थ का भी ठीक यही सिद्धान्त है कि स्वप्नदृश्य या ड्रीम आईडिया किसी पूर्व दृष्ट बिम्ब पर आधारित होता है किन्तु उसके साथ विभिन्न अचेतन बिम्ब तथा अन्य पूर्वदृष्ट बिम्ब घुले-मिले होते हैं।

उपनिषद् पारमार्थिक चरमसत्ता को ब्रह्म का नाम देती है, उसकी निकटवर्ती सीढ़ी आत्मा का विवेचन करती है या उसके पूर्व की सीढ़ियों के रूप में मन, प्राण और वाक् इन तीन तत्त्वों का भी विशद विवेचन करती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आत्मा को मनोमय, वाङ्मय और प्राणमय बतलाया गया है। यह विषय अपने आप में गहन है और विभिन्न निर्वचनों के कारण और भी गहन हो गया है। जिस प्रकार स्थूल शरीर में मन, प्राण और वाक् तत्त्व है उसी प्रकार प्रतीक रूप में उन्हें ब्रह्माण्ड या सृष्टि में भी देखा गया है तथा रहस्यात्मक अन्तःशरीर में भी देखा गया है। इसीलिये 'प्राण' का विवेचन कहीं प्राणवायु या ऑक्सीजन के रूप में, कहीं जीवनशक्ति के रूप में और कहीं सृष्टि में व्याप्त जीवनी शक्ति के रूप में है। मन को माइण्ड या मस्तिष्क के रूप में इन्द्रिय विषयों का नियन्ता बतलाया गया है किन्तु रूपकात्मक वर्णन द्वारा कहीं-कहीं सृष्टि के चेतना के रूप में भी उसे देखा गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में मन को अन्नमय, प्राण को जलमय और वाक् के तेजोमय बतलाने का यही रहस्य है। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि मन पाँच भौतिक शरीर में ही रहता है और वह अन्न अर्थात् खाद्य तथा भौतिक या पार्थिव तत्त्वों के सूक्ष्म रूप से बनता है।

सत्य के जिज्ञासु श्वेतकेतु को उसके पिता ने स्मृति और मन का रहस्य बतलाते हुए तथा प्राण और मन में भेद स्पष्ट करते हुए कहा कि स्मरण शक्ति मन पर आधारित है और मन अन्न पर। प्राण चाहे जल पीने से रह सके हों पर मन या मस्तिष्क अन्न के बिना नहीं रह सकता। श्वेतकेतु को उन्होंने कुछ दिन अन्न नहीं दिया केवल जल पिलाया। उससे प्राण बनते रहे- किन्तु मस्तिष्क ने तथा स्मरण शक्ति ने काम करना धीरे-धीरे बन्द कर दिया। उसे शास्त्रों की स्मृति नहीं रही। जब उसे अन्न दिया गया तो स्मृति लौटने लगी। इसी प्रसङ्ग में जलमय प्राण और अन्नमय मन का भेद बतलाते हुए यह भी सङ्केत दिया गया है कि स्थूल शरीर के भाग के रस में मस्तिष्क अथवा ब्रेन तथा उस पर आधारित चैतन्य तत्त्व मन अथवा माइण्ड में जो भेद है वह भी प्राचीन ऋषियों को ज्ञात था। तैत्तिरीय

उपनिषद् में बीज रस सूक्ष्म चैतन्य में स्थूल सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम बतलाते हुए अन्न में प्राण की, प्राण से मन की, मन से महाभूतों की उत्पत्ति वर्णित है।

स य एषोन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः।

वरुण का पुत्र भृगु ब्रह्म की खोज करता हुआ पहले अन्न को ब्रह्म समझता है, फिर उससे अगली सीढ़ी पर विज्ञान को ब्रह्म समझता है फिर मन को।

'मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते मनसा जातानि जीवन्ति, मन एव प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।'

इस प्रकार बारी-बारी से आनन्द, आकाश, स्मरण, प्राण आदि तत्त्वों का अध्ययन कर वह चरम सत्ता ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करता है।

मनोविज्ञान द्वारा विवेचनीय मन की, विभिन्न वृत्तियों, भावनाओं आदि का सङ्केत करते हुए छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि काम, सङ्कल्प, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, अधृति, लज्जा, बुद्धि, भय ये सब मन की विभिन्न वृत्तियाँ हैं। इनका भेद बतलाते हुए यह उपनिषद् मन और चित्त में भी भेद करती है, जिससे यह प्रतीत होता है कि पाश्चात्य प्रत्ययवादी दार्शनिक माइण्ड और कान्शसनेस में जो भेद करते हैं वह उपनिषद् को भी अभीष्ट था। वहाँ चित्त को मन के बाद उपास्य बतलाया गया है।

इसी के साथ स्मृति और मति का जो विवेचन है उससे लगता है कि आधुनिक मनस्तत्वज्ञों द्वारा वर्णित मेमरी, लर्निंग आदि तत्त्वों का बीज भी उस समय अपरिज्ञान नहीं था। सनत्कुमारों द्वारा छान्दोग्य उपनिषद् में जिन विभिन्न तत्त्वों का विस्तृत विवेचन किया जाता है। उनमें ध्यान है, जिसमें अटेंशन और कंसेट्रेशन दोनों समाहित हो सकते हैं। सङ्कल्प (जो वोलोशन का समानान्तर है) चित्त, स्मरण, आज्ञा, विज्ञान, सत्य, मति, निष्ठा, कृति, सुख, श्रद्धा और भूमा आदि आते हैं। ये सब मनस्तात्विक अध्ययन के ही क्षेत्र हैं।

उपनिषदों में योगविज्ञानसंवाहकत्व

डॉ. रानी दाधीच
अनुदेशक,
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली

उपनिषदों के सिद्धान्त सार्वभौमिक, सार्वकालिक तथा सर्वजनहित हैं। काल से अनवच्छिन्न इस ज्ञानराशि का विषय भी समस्त चराचर जगत् है। 'उप', 'नि' उपसर्गपूर्वक सद् धातु में क्विप् प्रत्यय से निष्पन्न हुआ यह शब्द सद् धातु के विशरण, गति और अवसादन तीनों अर्थों को सिद्ध करता है। प्रथम विशरण पद का अर्थ है विनाश करना। ये उपनिषद् सृष्टि में व्याप्त अविद्या का विनाश करने वाले हैं। द्वितीय गति–उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या परब्रह्म में गमन करवाने वाली होती है अतः गति की सूचक है। तृतीय अर्थ है अवसादन। उपनिषद् मनुष्य के गर्भवास, जन्म, जरा आदि कष्टों का अवसादन (नाश) करने वाली है। अतः मुख्य रूप से उपनिषद् का अर्थ देखें तो ब्रह्मविद्या है तथा गौणरूप से उपनिषद् का अर्थ रखें तो ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक ग्रन्थ उपनिषद् हैं।

उपनिषदों में जीव, ब्रह्म, जगत्, सृष्टि, प्रलय, आत्मा, ईश्वर, आचार, योग, मोक्ष आदि महत्त्वपूर्ण बिन्दु वर्णित हैं। वर्तमान समय में भौतिकता की बढ़ती अंधी दौड़ को देखते हुए जीवब्रह्मैक्य का ज्ञान प्रवचन, स्वाध्याय आदि के द्वारा दिया जाना सम्भव प्रतीत नहीं होता। प्रत्येक व्यक्ति व्यस्त है। हर वक्त कहीं न कहीं व्यस्त रहने वो दिमेयस्कर कोई पद्धति नहीं होगी। व्यावहारिक धरातल पर चिन्तन किया जाए तो मैं अपने कुछ तर्क इस विषय पर रखना चाहूँगी कि क्यों योगविद्या ही उपनिषदों के अभ्युदय तथा निःश्रेयसात्मक स्वरूप को प्रकट करने का प्रबल तथा सशक्त माध्यम है। पहला कारण तो यह है कि वर्तमान युग में लोग बाह्य सौन्दर्य के पीछे भाग रहे हैं योग से आन्तरिक मलों की शुद्धि होती है साथ ही शरीर के विकार भी दूर होते हैं। लोगों को अनेक फिगर, लुक्स आदि का हवाला देकर उस भौतिक युग में कुछ भी करवाया जा सकता है। आमतौर पर युवा वर्ग समाचार–पत्रों, मासिक पत्रिकाओं आदि में छपने वाले विज्ञापनों को देखकर वजन कम करने के लिए अनेक प्रकार की दवाइयों तथा पेय पदार्थों के चक्कर में पड़ जाता है। इन्हें यदि योग के माध्यम से वजन कम करने की गारण्टी देकर योग के प्रति प्रोत्साहित किया जाए तो ब्रह्मविद्या की ओर इन्हें प्रेरित किया जा सकता है। रामदेव जी का योग इस ओर उठाया गया सशक्त प्रयास है।

महिलाओं में भी अपने फिगर को लेकर जो कॉम्प्लैक्शन रहता है उसके लिए योग एक अच्छा सहायक है। वृद्धावस्था हेतु जो प्राणवर्धक औषधि है। अतः योगविद्या के द्वारा उपनिषदों का निःश्रेयसात्मक स्वरूप जनता के समक्ष लाए जाने की आवश्यकता है।

उपनिषदों में सुखप्राप्ति के दो साधन बताए गए हैं— श्रेय और प्रेय। सब प्रकार के दुःखों से छूटकर सत् चित् आनन्द स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करने का उपाय श्रेयमार्ग कहलाता है तथा इन्द्रियों को प्रिय लगने वाले विषय धन पर, प्रतिष्ठा, स्त्री, पुत्र आदि को ही सुख का साधन समझकर उनका संग्रह तथा उनमें रत रहना प्रेयमार्ग कहलाता है। मनुष्य स्वभावतः इस आपातरमणीयता पर मोहित होता हुआ प्रेय मार्ग को ही श्रेयस्कर समझता है। जबकि वास्तविकता यह है कि यह मार्ग बन्धन का मार्ग है। योग विद्या ऐसा धन है, जो मनुष्य को प्रेय तथा श्रेय दोनों प्रकार के सुख की प्राप्ति करवाने वाला है। इस प्रेय मार्ग का अनुसरण करने वाले कभी कल्याण के भागी नहीं बनते इसे स्पष्ट करते हुए ईशावास्योपनिषद् के १२वें मन्त्र में कहा गया है—

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिं उपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः।।[1]

अर्थात् जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन आदि भोगसामग्री की प्राप्ति हेतु विनाशशील देवता, मनुष्य आदि के पीछे भागते हैं, वे अज्ञानरूप घोर अन्धकार में प्रवेश करते हैं तथा जो अविनाशी परमेश्वर की उपासना के मिथ्या ज्ञानाभिमान में लग कर निष्क्रिय बने रहते हैं, वे उससे भी अधिक घोर कूकर, सूकर आदि निःकृष्ट योनियों को प्राप्त कर अन्धकार में डूबे रहते हैं। कठोपनिषद् में भी प्रेयमार्ग की निन्दा करते हुए तथा उसके अनुभागी मनुष्यों की दुर्गति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अविद्याग्रस्त रहते हुए भी जो व्यक्ति अपने आपको बुद्धिमान् एवं विद्वान् समझते हैं तथा स्वयं को मेधासम्पन्न समझते हुए मिथ्याभिमान में शास्त्र और महापुरुषों के वचनों की अवमानना करके मनमाना आचरण करते हैं वे मूर्ख लोग विभिन्न योनियों में भटकते हुए उसी प्रकार ठोकरें खाते रहते हैं, जैसे अन्धे व्यक्ति द्वारा मार्ग दिखाए जाने वाला अन्धा अपने लक्ष्य तक न पहुँचकर मध्यमार्ग में ही भ्रमण करता हुआ विभिन्न कष्टों को भोगता रहता है।[2]

न साम्परायः प्रतिभाति बालम् प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी, पुनर्पुनर्वशमापद्यते मे।।

इसके अतिरिक्त वेदों में विधान किये गये यज्ञ-यागादि सकाम कर्मों को और धर्मशास्त्र में बताए गए धर्मप्राप्त्यर्थ किये जाने वाले दान आदि कर्मों को ही सुख का अन्यतम साधन समझने वाले लोग अज्ञानी हैं। वे कल्याण के वास्तविक साधन ध्यान तथा योग को न जानते हुए उससे विमुख रहते हैं और यज्ञ-यागादि के अनुष्ठान से लौकिक सुख को प्राप्त कर पुण्य रहने तक सुखास्वाद करते हैं तथा पुण्य क्षीण होते ही पुनः इस दारुण लोक में एक सामान्य व्यक्ति की तरह जीवन-यापन करते हैं।[3] इस संसार में श्रेय और प्रेय

दोनों ही साधन मनुष्य के समक्ष उपस्थित होते हैं। बुद्धिमान् मनुष्य श्रेय-प्रेय के गुण-दोषों का सम्यक् विवेचन करते हुए विवेकपूर्वक दोनों को पृथक्-पृथक् समझते हैं और भोग साधन (प्रेय मार्ग) की अपेक्षा योग (श्रेयमार्ग) को श्रेष्ठ मानकर उसे अपनाते हैं। सामान्यमति वाले लोग लौकिक सुख-सम्पत्ति की इच्छा से भोगों के साधनरूप प्रेयमार्ग को अपनाते हैं।[४] और जो लोग वास्तविक सुख को प्राप्त करना चाहते हैं परमात्म तत्त्व को जानना चाहते हैं वे चाहे अरण्य में निवास करें, चाहे वानप्रस्थी हों, चाहे शान्त स्वभाव वाले गृहस्थी हों, चाहे संन्यासी हों, वे निरन्तर तपाचरण में लगे रहते हैं। संयमपूर्वक योगाभ्यासादि से ऐसे साधक रजोगुण के विकारों से मुक्त होकर विशुद्ध सत्त्व में स्थित होकर सूर्यलोक के मार्ग से वहाँ पहुँच जाते हैं, जहाँ उनके परम प्राप्य अमृतस्वरूप, नित्य अविनाशी परमात्मा निवास करते हैं।[५] ब्रह्म को प्राप्त करने का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधन है योग। भुजिर योगे धातु से बना योग शब्द अपना अस्तित्व अनुभव सिद्ध करता है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि जब तक मनुष्य सांसारिक सुख में आनन्द समझता है, तब तक सुख की कामना में भटकता रहता है। जब साधक के हृदय में स्थित सभी कामनाएँ समूल नष्ट हो जाती हैं, तब वह मरणधर्मा मनुष्य अमर बन जाता है और इसी जीवन में परब्रह्म का साक्षात् अनुभव कर लेता है। यह निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग का विधिपूर्वक और अनवरत प्रयास करने वाला साधक योग की उच्च स्थिति को पाने में सफल हो जाता है जहाँ दुःखों का सर्वथा अभाव है तथा शाश्वत सत्य का जहाँ साम्राज्य है।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।।[६]
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।[७]

श्वेताश्वतरोपनिषद् में आत्मज्ञान को ही मोक्ष प्राप्ति का एकमात्र साधन बताते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार कोई तेजोमय रत्न मिट्टी से ढका होने के कारण छिपा रहता है, उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाया है। किन्तु जब उस रत्न को शोधनोपरान्त देखा जाता है तो वह चमचमाता दिखता है उसी प्रकार जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप अत्यन्त निर्मल होता हुआ भी जन्म-जन्मान्तर के सञ्चित संस्कारों के द्वारा मलिन होने के कारण छिपा रहता है, जब योगसाधना के द्वारा साधक के अन्तःकरण के सभी मल धुल जाते हैं, तब उसका अन्तःकरण नितान्त निर्मल हो जाता है और उसे आत्मा के यथार्थ दर्शन हो जाने के कारण वह योगी कैवल्य अवस्था को प्राप्त करता है। सभी प्रकार के दुःखों से मुक्त होता हुआ परमानन्द पद को प्राप्त करता है।

यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं, तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वाऽऽत्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही, एकः कृतार्थो भवति वीतशोकः।।[८]

आत्म प्राप्ति के लिये योग विज्ञान को ही क्यों चुना जाए? यदि यह प्रश्न मन में आता है तो इसका जवाब है कि योग ही वह तत्त्व है, जो चित्तवृत्तियों को चलायमान होने से रोकता है।[९] अर्थात् चित्तवृत्तियों को स्थिर करता है। मन तथा बुद्धि योग से आत्माकार वृत्ति धारण कर लेते हैं और जीवात्मा अपने वास्तविक आत्मस्वरूप में अचल रूप में स्थिर हो जाता है, क्योंकि योग एक साधना है अतः श्रद्धापूर्वक, उत्साहपूर्वक, नियमबद्ध रहते हुए चिरकाल तक की गई साधना अवश्य सफल होती है। हाँ, प्रारम्भ में अनेकविध विघ्न विचलित करने के लिए उपस्थित हो जाते हैं, किन्तु श्रेयांसि बहुविघ्नानि सिद्धान्त के अनुसार वे समस्त विघ्न योगाभ्यास से स्वतः ही निवृत्त हो जाते हैं।

दत्तात्रेय योगशास्त्र में मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग तथा राजयोग के भेद से चार प्रकार के योग माने गए है।

मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च।
राजयोगश्चतुर्थः स्याद्योगानामुत्तमस्तु सः।।[१०]

१. **मन्त्र योग :** 'सोऽहं सोऽहमिति' जाप करना मन्त्र योग कहा गया है। कहा गया है कि इस मन्त्र का १२ वर्ष तक जाप करते रहने से साधक को अणिमा आदि।[११] सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती है और योग मार्ग से साधक की प्रीति भी हो जाती है।

योगतत्त्वोपनिषद् में कहा गया है कि साधक अपनी-अपनी योग्यता के अनुरूप योग का आश्रय ले लेते हैं, जो जितना कठोर तप कर सकता है उसके अनुरूप चारों में से किसी योग को चुन लेता है।[१२]

किन्तु योगशिखोपनिषद् में कहा गया है कि इन चारों योगों में प्रथम योग साधने के बाद ही उत्तरोत्तर सिद्ध होते हैं।

'एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते।'[१३]

२. **लय योग :** चित्त का एकत्र विलीन हो जाना लय योग है। यह दशा प्रायः हठयोग के पश्चात् आती है। जब उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते, सोते-जगते सर्वदा साधक का मन ईश्वर का नाम स्मरण करता रहता है, लययोग कहा जाता है।

३. **हठयोग :** हठयोग के हकार के द्वारा सूर्य तथा ठकार के द्वारा चन्द्र का ग्रहण किया गया है। सूर्य तथा चन्द्रमा के एक्य को ही हठयोग कहा गया है। इस सूर्य चन्द्रमा को विद्वानों ने इडा, पिङ्गला नाड़ी भी कहा है, जिससे इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है कि श्वास केन्द्रित करने की प्रक्रिया हठयोग कहलाती है।

४. **राजयोग :** यम नियम आदि से युक्त योग रजस् प्रभाव के कारण राजयोग कहा गया है, किन्तु पतञ्जलि ने तो अभ्यास वैरागय के द्वारा चित्तवृत्तियों का निरोध योग का उद्देश्य कहा है, जबकि योगशिखोपनिषद् में अणिमा आदि की प्राप्ति उद्देश्य कहा गया है, जो कि सङ्कुचित अर्थ का द्योतक है।

५. **सिद्धयोग :** योगशिखोपनिषद् में सिद्ध योग का प्रसङ्ग प्राप्त होता है। जब ब्रह्माजी

श्री सदाशिव से प्रश्न करते हैं कि संसार के समस्त जीव नाना प्रकार के दुःखों से ग्रस्त है। अतः आप इस जरा, जन्म, मृत्यु आदि व्याधियों को नष्ट करने वाला और मायाजाल को समूल नष्ट करने वाला ऐसा उपाय बताइये जिससे जीव जन्म-मरण के भय से सर्वथा मुक्त हो जाए। इस प्रकार पूछने पर भगवान् शङ्कर कहते हैं कि यह मोक्षप्राप्ति सिद्धयोग के अतिरिक्त अन्य किसी भी मार्ग से प्राप्य नहीं है।[१४] ज्ञान और योग के द्वारा सिद्धि कही गई है। योग द्वारा आत्मस्वरूप का ज्ञान होता और ज्ञान से योग मार्ग में प्रगति होती है। इस प्रकार योग सिद्ध होता है। योग से बढ़कर और कोई पुण्य नहीं है, योग से बढ़कर कल्याणकारी और कछ भी नहीं है तथा योग से बढ़कर सूक्ष्म ज्ञान और कुछ भी नहीं है।[१५] योग की सिद्धि के बिना जीव मोक्ष नहीं पा सकता—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देहेन न मोक्षं लभते विधे।।[१६]

सिद्धयोग साधक को सुखद आसन पर बैठकर या अपने सिद्धासन पर सिद्धयोग साधक को ध्यानमुद्रा धारण करते हुए श्वास प्रश्वास से गुरु मन्त्र का जाप करना चाहिए। इस अभ्यास को उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए साधक 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति' सिद्धान्तानुसार सिद्धयोग की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

हंसयोग : हंसयोग में हंसमन्त्र का जाप किया जाता है। इसे हंस विद्या, हंस योग, प्राणविद्या, अजपागायत्री आदि नामों से वर्णित किया गया है। हंसमन्त्र आत्मवाचक होने से आत्ममन्त्र भी कहा जाता है। जीव चौबीस घण्टे में २१६०० श्वास लेता है और श्वास छोड़ते समय 'हं' तथा श्वास लेते समय 'सः' ध्वनि करता है। इस प्रकार स्वतः ही 'हंस' का जाप होता रहता है इसे अजपा गायत्री कहते हैं। जब तक जीव इस मन्त्र के रहस्य को नहीं जानता, तब तक वह प्राण अपान के वश में बन्धा रहता है। जब गुरुपदेश से वह हंसयोग की साधना प्रारम्भ कर देता है, तब यही मन्त्र उसके मोक्ष का हेतु बन जाता है।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।
शतानि षट् दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः।
एतत्संख्यान्तिकं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा।।
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण नरो पापैः प्रमुच्यते।।
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः।
अनया सदृशं पुण्यं न भूतं न भविष्यति।।[१७]

यह हंसविद्या योगियों के लिये मोक्षदायिनी है। प्राणियों के देह के मध्य में अच्युत रूप 'हंस' सदैव स्थित रहता है वह हंस ही परम सत्य, शक्तिस्वरूप, महावाक्य, वेदों का सार, महान रुद्र, परब्रह्म परमात्मा है। न ऐसा जप कोई है न ऐसी विद्या कोई है इसके

समान पुण्य न हुआ है न होगा। अतः हंसयोग ब्रह्मप्राप्ति काम है।[१८]

ध्यानयोग – ध्यानयोग को पापों का उपशमन करने वाला कहा गया है। यदि सैकड़ों योजन तक फैला हुआ पापों का पहाड़ ही क्यों न हो वह भी ध्यानयोग के द्वारा टूट ही जाता है।[१९] साधक को योग साधना करते समय आहार-विहार आदि समस्त चेष्टाओं को यथायोग्य करते हुए विधिपूर्वक प्राणायाम करते हुए प्राण को अत्यन्त सूक्ष्म करे और उस प्राण को नासिका द्वारा बाहर निकाल दे। तत्पश्चात् जिस प्रकार दुष्ट घोड़ों से जुते हुए रथ को कुशल सारथी अपने गन्तव्य स्थान पर ले जाता है उसी प्रकार साधक को चाहिए कि वह अपने चञ्चल मन को सावधानी से वश में रखे—

प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः,
क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत्।
दुष्टाश्वयुक्तमिह वाहमेनं,
विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः।।[२०]

इस ध्यान योग को ही आगे चलकर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि (अष्टाङ्ग योग) के द्वारा साधा जाता है। इस ध्यान योग के द्वारा पञ्चमहाभूतों पर विजय प्राप्त कर लेने के अनन्तर साधक के अन्दर और भी कई प्रकार की सिद्धियाँ स्वतः आ जाती हैं, जिससे उसका शरीर हल्का व निरोग हो जाता है। उसे भौतिक पदार्थों की कामना नहीं रहती। उसके शरीर का वर्ण बड़ा उज्ज्वल एवं तेजस्वी हो जाता है तथा वाणी में मधुरता आ जाती है, शरीर से सुगन्ध निकलने लगती है तथा उसे मल और मूत्र बहुत कम मात्रा में आने लगता है। धीरे-धीरे यह ज्ञान और परिपक्व होने लगता है और ब्रह्म में चित्त लीन हो जाता है।

लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं, वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च।
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं, योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति।।[२१]

अष्टाङ्ग योग : अष्टाङ्ग योग तो सर्वविदित है ही। पतञ्जलि के योगसूत्र से तथा बाबा रामदेव के प्रयासों से अष्टाङ्ग योग के विषय में वर्तमान में बहुत से लोग जानते हैं। इसका फल मोक्षप्राप्ति बताया गया है। जाबालदर्शनोपनिषद् में आरम्भ में ही यह बताया गया है कि भगवान् विष्णु ने ही महायोगी दत्तात्रेय के रूप में अवतार लेकर सांकृति नामक अपने शिष्य को अष्टाङ्गयोग का उपदेश दिया—

सांकृते शृणु वक्ष्यामि योगं साष्टाङ्गदर्शनम्।
यमश्च नियमश्चैव तथैवासनमेव च।।
प्राणायामस्तथा ब्रह्मन् प्रत्याहारस्ततः परम्।
धारणा च तथा ध्याने समाधिश्चाष्टमं मुने।।[२२]

यम : मन को शुद्ध करने के लिए यमों का आश्रय लिया जाता है। जाबालदर्शनोपनिषद् में दत्तात्रेय जी ने १० यमों का उपदेश किया है—

१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य ५.दया
६. आर्जव ७. क्षमा ८. धृति ९. मिताहार १०. शौच

अहिंसा : शरीर, मन और वाणी के द्वारा किसी प्राणी को किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँचाना 'अहिंसा' कहलाता है।

सत्य : आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों द्वारा देखा गया, सुना गया, सूंघा गया और अनुभव किया गया विषय ज्यों का त्यों कहना ही सत्य कहलाता है। परमात्मा ही यथार्थ रूप में सत्य है उसके अतिरिक्त सत्य कुछ भी नहीं है यही वेदान्तसम्मत सत्य है।

अस्तेय : दूसरे की सम्पत्ति पर मन का न ललचाना ही 'अस्तेय' है। भौतिक पदार्थों में अनात्म बुद्धि रखते हुए उन्हें अपने से पृथक् मानना अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य : तन, मन, धन से स्त्री सुख का त्याग करना ब्रह्मचर्य कहलाता है। अपनी पत्नी से ही ऋतुकाल में सहवास करना भी ब्रह्मचर्य में आता है। इसके अतिरिक्त काम-क्रोधादि से मन को हटाकर परमात्मचिन्तन में लगाना ब्रह्मचर्य है।

दया: मन, वचन और कर्म में समस्त प्राणियों के प्रति आत्मीयता रचना ही दया है।

आर्जव : स्त्री-पुत्र, शत्रु-मित्र तथा अपनी आत्मा में समान बुद्धि रखना आर्जव कहलाता है।

क्षमा : अन्य व्यक्ति के द्वारा पीड़ा दिए जाने का प्रयास करने पर भी उसके प्रति प्रतिशोध की भावना न रखना तथा मन को क्षोभरहित रखना क्षमा कहलाता है।

धृति : 'मैं आत्मा हूँ, आत्मा से अन्य कुछ भी नहीं हूँ।' इस प्रकार के दृढ़ भाव का निरन्तर बने रहना धृति है।

मिताहार : सात्विक तथा संयमित आहार ग्रहण करना मिताहार कहलाता है। योगसाधना के अनुरूप उदर का आधा भाग अन्न से, चौथाई भाग जल से पूरित तथा शेष चौथाई भाग खाली रखना चाहिए।

शौच : शौच बाह्य और आभ्यन्तर पवित्रता ही शौच है। मिट्टी और जल से अपने शरीर को पवित्र बनाना बाह्य शौच है तथा 'मैं विशुद्धात्मा हूँ' ऐसे भाव से आत्मा को पवित्र बनाना आभ्यन्तर शौच है।

(२) नियम : जाबालदर्शनोपनिषद् में नियम भी दस बताए गए हैं—

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्।।
एते च नियमाः प्रोक्तास्तान्वक्ष्यामि क्रमाच्छृणु।

तप, सन्तोष, आस्तिकता, दान, ईश्वरपूजा, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप तथा व्रत दस नियम कहे गए हैं।

तप : कृच्छ और चान्द्रायण आदि व्रतों द्वारा शरीर को क्षीण करना तप कहलाता है। संसार का बंधन क्या है? जीवात्मा को इससे मुक्त करने का चिन्तन ही तप है।

सन्तोष : समस्त भौतिक सुख सुविधाओं से मन को विरत रखना तथा ईश्वरेच्छा से जो

कुछ प्राप्त हो जाए उसी में प्रसन्न रहना सन्तोष है।

आस्तिकता : वेद आदि धार्मिक ग्रन्थों में दृढ़ आस्था का होना आस्तिकता कहलाता है।

दान : ईमानदारी से कमाये हुए धन को विद्वान् ब्राह्मणों को दान देना ही वास्तविक दान है।

ईश्वर पूजन: सर्वदा सत्य बोलना, मन को राग-द्वेष आदि से मुक्त रखना तथा कर्म को हिंसारहित करना ही ईश्वरपूजन है।

सिद्धान्तश्रवण: 'आत्मा सत्य है' इस सिद्धान्त को बारम्बार सुनकर विश्वास बनाना तथा आत्मचिन्तन में लीन रहना ही सिद्धान्तश्रवण कहलाता है।

ह्री : ह्री का अर्थ है लज्जा। निन्दित कर्मों को करने में सङ्कोच ही ह्री है।

मति : वेदों में जो करणीय कर्म कहे गए हैं उन्हें करना तथा वेद वाक्यों के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखना ही मति है।

जप : वेदोक्त रीति से मन्त्रों का बार-बार उच्चारण करना जप कहलाता है। वाचिक और मानसिक भेद से जप दो प्रकार का कहा गया है। वाचिक भेद दो प्रकार का है— ऊर्च और उपांशु। मानसिक जप दो प्रकार का है— मनन और ध्यान।

व्रत : किसी विशेष नियम में बंध जाना। प्रतिज्ञापूर्वक अपने मन को किसी विशेष बिन्दु पर केन्द्रित करना व्रत है। यह व्रत उपनिषदों में परमात्मा की ओर मन को एकचित्त करवाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में इन यम और नियमों की गणना दैवी सम्पत्ति के अन्तर्गत की गई है। उसका फल मोक्ष प्राप्ति है—

अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदः दैवीमभिजातस्य भारत।।[२३]

३. आसन : 'आस्यतेऽनेनेति आसनम्' मनुष्य के बैठने की मुद्राविशेष को आसन कहते हैं। योगसूत्र आसनों की संख्या चौरासी तक कही गई है किन्तु जाबालदर्शनोपनिषद् में नौ प्रमुख आसनों को गिनाया गया है—

स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरं सिंहासनस्तथा।
भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासन एव च।।
सुखासनं समाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव।

स्वस्तिकासन, गोमुखासन, पद्मासन, वीरासन, सिंहासन, भद्रासन, मुक्तासन, मयूरासन तथा सुखासन। जिस आसन में साधक को सुखानुभूति हो उसे साध ले तथा ध्यान के समय उसी आसन में बैठे। आसन को जीत लेना है उसके लिए कहा गया है—

आसनं विजितं येन जितं तेन जगत्त्रयम्।

४. प्राणायाम : प्राणायाम को सर्वोत्कृष्ट तप बताया गया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि जिस प्रकार सोना-चाँदी आदि धातुओं के मैल उसे आग में तपाये जाने से नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के भी समस्त पाप नष्ट हो जाते है। प्राणायाम करने की विधि से बताया गया है कि साधक अनासक्त भाव से शास्त्रोक्त कर्मों को यथाकथन कर्तव्यबुद्धि से करता हुआ सभी प्रकार की कामनाओं को त्याग कर दे। सिद्ध आसन में पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुँह करके बैठे। कमर सीधी करके बैठा हुआ नाक के अग्रभाग में चन्द्रमण्डल की विचारणा करे तथा प्रणव के उच्चारण में परमात्मा के अचिन्त्य रूप का दर्शन करे। ईडा नाड़ी द्वारा प्राणवायु को भीतर लेकर उसे भीतर ही रोके। फिर पिङ्गला नाड़ी से उसे निकाले। यही क्रम पिङ्गला से श्वास लेकर रोककर तथा ईडा से छोड़ने में भी रहेगा। साँस द्वारा वायु को भीतर खींचना पूरक, वायु को रोकना, कुम्भक तथा धीरे-धीरे बाहर निकालना रेचक कहलाता है। प्राणायाम उत्तम, मध्यम तथा निम्न के भेद से तीन प्रकार का बताया गया है। प्राणायाम करते समय यदि शरीर से पसीना आए तो वह निम्न श्रेणी का प्राणायाम, शरीर में कम्पन हो तो वह मध्यम श्रेणी का प्राणायाम तथा शरीर ऊपर की ओर उठता हुआ महसूस हो तो उत्तम श्रेणी का प्राणायाम कहा जाता है। प्राणायाम करने से चित्तवृत्तियों का निरोध होकर साधक को समाधि लाभ प्राप्त होता है। साधक के छोटे-बड़े समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं, चित्त दर्पण की तरह निर्मल हो जाता है। प्राणायाम करने वाले साधक को क्या-क्या फल स्वतः प्राप्त हो जाते हैं उन्हें बताया गया है—

एवमभ्यासतस्तस्य मूलरोगो विनश्यति।
भगन्दरं च नष्टं स्यात् सर्वरोगाः हि सांकृते।।
पातकानि विनश्यन्ति क्षुद्राणि च महान्ति च।
नष्टे पापे विशुद्धं स्यात् चित्तदर्पणमद्भुतम्।।
पुनः ब्रह्मादिभोगेभ्यो वैराग्यं जायते हृदि।
विरक्तस्य तु संसाराद् ज्ञानं वैराग्यसाधनम्।।
तेन पापापहानिः स्याज्ज्ञात्वा देवं सदाशिवम्।
ज्ञानामृतरसो येन सकृदास्वादितो भवेत्।।
स सर्वकार्यमुत्सृज्य तत्रैव परिधावति।
ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतद्धि लक्षणम्।।
अर्थस्वरूपविज्ञानात् पश्यन्त्यन्यं कुदृष्टयः।
आत्मस्वरूपविज्ञानादज्ञानस्य परिक्षयः।।
क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः।
रागाद्यसम्भवे प्राज्ञः पुण्यपापविमर्दनम्।।
तयोर्नाशे शरीरेण पुनर्न स संयुज्यते।।[२७]

५. **प्रत्याहार :** इन्द्रियाँ जब विषयों के अभिमुख न होकर स्वरूप में अवस्थित होती हैं, उसे प्रत्याहार कहते हैं।[२८] सतत साधना से इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं और उन पर पूर्ण विजय प्राप्त हो जाती है। प्रति + आ उपसर्गपूर्वक 'ह' धातु से प्रत्याहार शब्द सिद्ध होता है। इसका शाब्दिक अर्थ हुआ अपराम होगा अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषयों से पीछे हट जाना। स्थिर न रहने वाला चञ्चल मन जिस विषय के पीछे संसार में विचरण करता है, उसे उस-उस विषय से हटाकर परमात्मा के चिन्तन में बार-बार लगाते रहना चाहिये।

६. चित्त को किसी एक विषय में बांधना ही धारणा है। दत्तात्रेय जी ने जाबालदर्शनोपनिषद् में धारणा के पाँच व्रत बताए हैं— अपने शरीर में जो आकाश स्थित है उसमें बाह्य आकाश की धारणा करनी चाहिए। प्राण में बाह्य पवन की, जठराग्नि में बाह्य अग्नि की, जलांश में बाह्य जल की तथा पार्थिव भाग में बाह्य पृथ्वी की धारणा करते हुए हं यं वं रं लं बीजमन्त्रों का उच्चारण करे यही धारणा है, जो समस्त पापों का विनाश करने वाली है।[२९] ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि वह अपनी आत्मा में बोधमय, आनन्दमय और कल्याणमय परमात्मा को नित्य धारण करे।

७. **ध्यान :** परमात्मा का सतत चिन्तन करते रहना। मन को एक क्षण के लिए भी उस ओर से न हटाना ध्यान है। गीता के छठे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण ने ध्यान का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए कहा है जिस प्रकार वायुरहित स्थान में रखा हुआ दीपक बिल्कुल भी चलायमान नहीं होता उसी प्रकार ईश्वर चिन्तन (आत्मचिन्तन) में लगे व्यक्ति का चित्त भी स्थिर रहता है।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।[३०]

जाबालदर्शनोपनिषद् में ध्यान के विषय में बताया गया है—

अथातः संप्रवक्ष्यामि ध्यानं संसारसागरम्।
ऋतं सत्यं परं ब्रह्म सर्वं संसारभेषजम्।।
ऊर्ध्वरेतं विश्वरूपं विरूपाक्षं महेश्वरम्।
सोऽहमित्यादि रूपेण ध्यायेद्योगीश्वरेश्वरम्।।

अतः कहा जा सकता है कि ध्यान मोक्षप्राप्ति का साधन है।

८. **समाधि :** यही वह अङ्ग है, जिसकी पुष्टि के लिए अष्ट योङ्गागों का कथन किया गया है। समाधि संसार के बन्धन को काट डालने वाली है। परमात्मा और जीवात्मा के एकीभाव के सम्बन्ध में निश्चयात्मक बुद्धि का प्रकट हो जाना समाधि है। यह आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, कूटस्थ और सर्वदोष विनिर्मुक्त है। वह माया के प्रभाव से एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है। अद्वैतभाव ही सत् है जैसे एक ही आकाश घटाकाश और मठाकाश के भेद से द्विधा जाना जाता है किन्तु पारमार्थिक रूप में सत् आकाश एक ही होता है वैसे ही परमात्मा भी अज्ञानवश जीवात्मा और परमात्मा के भेद में द्विधा जान

पड़ता है जबकि वास्तविक रूप में वह एक ही है। वह परमात्मा ही सत् है ऐसी निश्चयात्मिका बुद्धि ही समाधि है।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि समाधिः भावनाशनम्।
समाधिः संविदुत्पत्तिः परजीवैकतां प्रति।।
नित्यः सर्वगतो ह्यात्मा कूटस्थो दोषवर्जितः।
एकः सन्भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः।।
अस्माददैतमेवास्ति न प्रपञ्चो न संसृतिः।
यथाकाशो घटाकाशो मठाकाश इतीरितः।
तथा भ्रान्तैर्द्विधः प्रोक्तो ह्यात्मा जीवेश्वरात्मना।
नाहं देहो न च प्राणो नेन्द्रियाणि मनो न हि।।
सदा साक्षीस्वरूपत्वाच्छिव एवास्मि केवलः।
इति धीर्या मुनिश्रेष्ठ सा समाधिरिहोच्यते।।

इस प्रकार योगविज्ञान के संवाहक अनेक मार्ग हैं, जो परब्रह्म तक लेकर जाते हैं। जिस साधक को जो मार्ग सुगम लगे वह उस मार्ग पर चलने के लिए स्वतन्त्र है। भौतिक विज्ञान का एक सिद्धान्त भी है कि 'वस्तु का तत्त्वतः नाश नहीं होता अपितु उसका रूपान्तर होता है।'

सन्दर्भ सङ्केत :

१. ईशावास्योपनिषद् १२
२. कठोपनिषद् १/२/६
३. इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं, नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं, लोकं हीनतरं वा विशन्ति।। मुण्डकोपनिषद् १/२/१०
४. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते, प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।। कठोपनिषद् १/२/२
५. तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये, शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति, यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा।। मुण्डकोपनिषद् १/२/११
६. श्रीमद्भगवद्गीता ६.२२
७. श्रीमद्भगवद्गीता ६.२७
८. श्वेताश्वतरोपनिषद् २.१४
९. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। योगसूत्र १.१.१
१०. दत्तात्रेय योगशास्त्र १८.१९
११. अणिमा, गरिमा, लघिमा, महिमा, ईशित्व, वशित्व, प्राप्ति, प्राकाम्य ये आठ सिद्धियाँ हैं।
१२. योगतत्त्वोपनिषद् श्लोक २१.२५
१३. योगशिखोपनिषद् १.३०

१४. नानामार्गेण दुष्प्रापं कैवल्यं परमं शुभम्।
सिद्धमार्गेण लभत नान्यथा पद्मसम्भव।। योगशिखोपनिषद् १.२
१५. योगात्परतरं पुण्यं योगात्परतरं शिवम्।
योगात्परतरं सूक्ष्मं योगात्परतरं न हि।। योगशिखोपनिषद्
१६. योगशिखोपनिषद्
१७. ध्यानबिन्दूपनिषद्
१८. ब्रह्मविद्या उपनिषद्
प्राणिनां देहमध्ये तु स्थितो हंसः सदाऽच्युतः। हंस एव परं सत्यं हंस एव तु शक्तिकम्।।
हंस एव परं वाक्यं हंस एव तु वैदिकम्। हंस एव परो रुद्रो हंस एव परात्परम्।।
सर्वदेवस्य मध्यस्थो हंस एव महेश्वरः। पृथिव्यादि शिवान्तं तु अकाराद्याश्च वर्णकाः।।
कूटान्ता हंस एव स्यान्मातृकेति व्यवस्थिताः। मातृका रहितं मन्त्रमादिश्यन्ते न कुत्रचित्।
१९. यदि शैलसमं पापं विस्तीर्णं बहु योजनम्।
भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेत्ता कदाचन।।
२०. श्वेताश्वतरोपनिषद् २/९
२१. श्वेताश्वतरोपनिषद् २/१३
२२. जाबालदर्शनोपनिषद्
२३. श्रीमद्भगवद्गीता (१६.१-३)
२४. योगसूत्र
२५. जाबालदर्शनोपनिषद्
२६. दह्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथैन्द्रियाणां दह्यन्ते मलाः प्राणस्य निग्रहात्।। मनुस्मृति
२७. जाबालदर्शनोपनिषद्
२८. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। योगसूत्र २.५४
जान्वन्तः पृथिवी ह्यंशो अपां पार्श्वन्तमुच्यते। हृदयांशोऽनलांशो भ्रूमध्यान्तोऽनिलांशकः।।
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ! मूर्धान्तः परिकीर्तितः। ब्रह्माण्डं पृथिवी भागे विष्णु तोयांशके तथा।।
अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके। आकाशांशे महाप्राज्ञ! धारयेत्तु सदाशिवम्।
अथातः सम्प्रवक्ष्यामि धारणा पञ्च सुव्रत? देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत्।।
प्राणे बाह्यानिलं तद्वज्ज्वलने चाग्निमौदरे। तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने।।
ह य व र लकाराभ्यां मन्त्रमुच्चारयेत्क्रमात्।। धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी।।

याज्ञवल्क्य मैत्रेयी संवाद-विमर्श

डॉ. मोनिका वर्मा
सह-आचार्य, संस्कृत विभाग,
सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आयुर्वेदिक
विश्वविद्यालय, जोधपुर (राजस्थान)

उपनिषदों में संवादपरम्परा का अपना विशेष महत्त्व है। विविध संवादों यथा-यम नचिकेता, याज्ञवल्क्य अश्वल संवाद, उमा-हैमवती संवाद इत्यादि के माध्यम से निगूढ़ तत्त्वों का रोचक प्रसार किया गया है। इसी परम्परा में बृहदारण्यक द्वितीय अध्याय में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद प्राप्त होता है। संवाद की पृष्ठभूमि में ब्रह्मवेत्ता, गोमान् याज्ञवल्क्य ऋषि गृहस्थाश्रम का त्याग करके संन्यासाश्रम अङ्गीकार करने हेतु अपनी ज्येष्ठा पत्नी मैत्रेयी से कहते हैं मैं संन्यास ग्रहण करना चाहता हूँ अतः मेरी सम्पत्ति को तुम्हारी सपत्नी कात्यायनी और तुम में विभाजित कर दूँ। परन्तु मैत्रेयी ने सम्पत्ति के प्रतिदान के रूप में आत्मज्ञान की याचना की। फलस्वरूप याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को आत्मज्ञान प्रदान कर संन्यास ग्रहण किया। यह संवाद परम्परागत रूप में शास्त्रार्थ स्वरूप में न होकर एक सहज पारिवारिक परिवेश में हुआ है यह इस संवाद की सबसे बड़ी विशेषता है। इसके अतिरिक्त इस संवाद में अनेक बिन्दु प्रस्फुटित हुए हैं जो इस प्रकार हैं—

आत्मज्ञान की उपास्यता

इस संवाद का मूल विषय आत्मोपासना है- **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्यो'**[१]

वस्तुतः आत्मा ही देखने योग्य, सुनने योग्य, मननीय और ध्यान करने योग्य होती है। हमारा समग्र व्यवहार आत्मपरक होता है, हमारे बन्धु-बान्धव, वित्त, देवता ये सभी आत्मस्वार्थ के कारण ही हमें प्रिय होते हैं **'आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।'**[२] वस्तुतः आत्मा ही उपास्य है क्योंकि इस आत्मा और जगत् में व्यापक-व्याप्य भाव सम्बन्ध है जिस प्रकार बजायी जाती हुई वीणा के शब्दों की सत्ता, स्थिति और लय वीणा में ही प्राप्त होता है। **(स यथा वीणायै वाद्यमानायै न बाह्याछब्दाशक्नुयाद्ग्रहणाय वीणायै तु ग्रहणेन वीणावादस्य वा शब्दो गृहीतः)**[३]। उसी प्रकार इस जगत् की सत्त स्थिति और लय उस आत्मा में ही प्राप्त होता है। इसी विचार को महर्षि याज्ञवल्क्य ने अन्य

१ बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.५
२ बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.५
३ बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.६

उदाहरणों से स्पष्ट करते हुए आत्मा की ही उपासना पर बल दिया है। संसार से वैराग ही उस आत्मज्ञान का साधन है अपने इसी विचार को याज्ञवल्क्य ने संन्यास अङ्गीकार कर चरितार्थ किया है।

अद्वैतवादः– याज्ञवल्क्य का यह घोष है—**'इदं सर्वं यदयमात्मा'** अर्थात् आत्मेतर कुछ भी नहीं है। जो आत्मा से भिन्न को स्वीकार करता है तो वह उसका भिन्नज्ञान स्वयं उसका नाश करता है।[४] आत्मा जाति, व्यक्ति, लोक भूत किसी भी प्रकार की भिन्नता को स्वीकार नहीं करती क्योंकि उससे भिन्न कुछ भी ग्राह्य नहीं है अतः जब आत्मा का ग्रहण किया जाता है तो सभी का ग्रहण हो जाता है–**'आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्।'**[५] इस सृष्टि का वैविध्य अविद्याकृत है, आत्मज्ञान की प्राप्तिपर्यन्त ही यह नानारूपा सृष्टि है। आत्मज्ञान के अनन्तर इसकी कोई पृथक् सत्ता नहीं रहती। जिस प्रकार सैन्धवाखिल्य का समुद्र में लय हो जाने के उपरान्त उसकी कोई विशेषसंज्ञा नहीं रहती उसी प्रकार आत्मज्ञान के अनन्तर सृष्टि केवल आत्मरूपा ही रहती है।

कर्मविधियों की अनात्मकता–

'अमृतत्त्वस्य तु नाशास्ति वित्तेनेति'।[६] अर्थात् वित्त से अमृतत्त्व की कोई आशा नहीं है। इस कथन से याज्ञवल्क्य ने धन की तुच्छता को ही प्रतिपादित किया है। परन्तु इस विषय में शङ्का होती है कि याज्ञवल्क्य ने इस धन का सञ्चय किस प्रयोजन से किया? पञ्चमहायज्ञ, अग्निहोत्रादि कर्म की सुगमता के लिए धनसञ्चय किया गया। ये कर्म शास्त्रनिर्दिष्ट भी हैं–**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'**[७] जीवपर्यन्त किये जाने वाल इन कर्मों की आत्मज्ञान में उसी प्रकार असिद्धि है जिस प्रकार बुभुक्षा होने पर मनुष्य का दौड़ना। वस्तुतः आत्मज्ञान की दशा में कर्त्ता, करण, क्रियागत भेदों का भी निस्तारण हो जाता है। एकमात्र वैराग्य ही उस आत्मज्ञान का साधन है, अनुष्ठानपरक कर्मविधियाँ नहीं।

शब्दविवेचना– याज्ञवल्क्य–मैत्रेयी संवाद की आत्मज्ञानविषयक चर्चा के अन्तर्गत शब्दब्रह्मविषयक अनेक विचार बीजरूप में प्रस्फुटित प्रतीत होते हैं यथा– **'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानि'**।[८] प्रकृत अंश में वेदों के अपौरुषेयत्व और शब्द के विवर्त्तभाव को निदर्शित किया गया है। वैयाकरणों ने इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर शब्दब्रह्म का निरूपण किया–

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[९]

---

४ अमृतत्त्वस्वरूप तु नाशास्ति वित्तेनेति
५ बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.५
६ बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.२
७ ईशावास्योपनिषद् द्वितीय मन्त्र
८ बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.१०
९ वाक्यपदीयम् १.१

शब्द के नानारूपों में परिगणित को शब्दोपयोगी भर्तृहरि इस प्रकार बतलाते हैं-

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत।।[१०]

आत्मा और जगत् का व्यापक व्याप्य भाव में स्फोट की ध्वनि प्रतिभासित होती है-

स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते।[११]

आत्मा की जगदात्मकता के समान ही पद्धति टीकाकार हरिवृषभ ने शब्दात्मकता को बतलाया है-

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृत्तं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते।।[१२]

सर्वेषां वेदानां वागेकायनम्।[१३] यह कथन भी शब्दाद्वैत की कल्पना का आधारभूत प्रस्तर कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

प्राणिमात्र का आत्मज्ञान में अधिकारत्वः- महर्षि याज्ञवल्क्य द्वारा दृढ़तापूर्वक आत्मा के अद्वैत का घोष किया गया है- **'सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं जिघ्रेत्तत्केन कं पश्येत्तत्केन कꣳ शृणुयात्तत्केन कर्माभवदेत्तत्केन कं मन्वीत तत्केन कं विजानीयात्।**[१४]

अर्थात् सभी कुछ आत्मतत्त्व के रूप में स्वीकार किये जाने पर कर्त्ता, कर्म, करण आदि भावो की भी स्थिति नहीं रहती जब उपर्युक्त कर्त्तादि भेद ही नहीं रहते तब अधिकारी है, मैत्रेयी स्त्री थी तथापि उसकी प्रबलोत्कण्ठा के कारण उसने आत्मज्ञान प्राप्त किया इससे यही प्रतीत होता है कि स्त्रियाँ भी इस प्रकार के विषयों का न केवल चिन्तन करती थीं अपितु उसमें निदिध्यासन करके निःश्रेयस् को प्राप्त करती थीं।

आदर्श पारिवारिक स्थिति

परिवार में दम्पत्ती साम्यावस्था में निवास करते हैं, यह इस संवाद से ज्ञात हो रहा है। ब्रह्मवेता ऋषि याज्ञवल्क्य श्रेय और प्रेय मार्गद्वय से परिचित थे अतः प्रेयकामा कात्यायनी का भी सम्मान करते हुए उसे धन से अर्चित किया और श्रेयकामा मैत्रेयी को आत्मज्ञान प्रदान किया। इस प्रकार यथारुचि पत्नियों का सम्मान करते हुए उन्होने सन्यासाश्रम को स्वीकार करने की स्वीकृति माँगी। यह स्थिति एक आदर्श पारिवारिक स्थिति को रेखांकित करती है। गुरुकुल की परम्परा की पूर्वस्थिति पारिवारिक परिवेश में प्राप्त होने वाले इस प्रकार के संवाद हैं। मैत्रेयी को आत्मज्ञान प्रदान करके याज्ञवल्क्य ने अपना गुरुभाव सुरक्षित रखा है। इस प्रकार एकात्मवाद, कर्म की अनर्थकता, द्वैतवाद का खण्डन और उच्च पारिवारिक आदर्श को प्रस्तुत करने के कारण यह औपनिषदीय संवाद विशिष्ट है।

१० वाक्यपदीयम् १.१२०
११ वाक्यपदीयम् १.७५
१२ वाक्यपदीयम् १.१
१३ बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.११
१४ बृहदारण्यकोपनिषद् २.४.१४.

वेदोक्त उपनिषदों में 'अध्यात्म तत्त्व ब्रह्म एवं आत्म शब्द का सम्मर्शन'

डॉ. सहदेव शास्त्री
वरिष्ठ प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
संस्कृत राजकीय महाविद्यालय, ब्यावर

उपनिषद्–चतुर्वेद का ज्ञान काण्ड है यह चिरप्रदीप्त वह ज्ञान दीपक है जो सृष्टि में आदि से प्रकाश देता चला आ रहा है और लय पर्यन्त पूर्ववत् प्रकाशित रहेगा। उसके प्रकाश में अमरत्व है जिसने सनातन धर्म के मूल का सिञ्चन किया है जो जगत् कल्याणकारी विश्व की निधि के अपौरुषेय वेद का अन्तिम अध्यायरूप यह उपनिषद् ज्ञान का आदि स्रोत है, अक्षय भण्डार है वेद विद्या के चार सिद्धान्त— **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, नेह नानास्ति किञ्चन। त्रिपाद्विभूति महानोदद्देश (३.३) तथा ब्रह्मविद ब्रह्मैव भवति'** अर्थात् उपनिषद् का यह ब्रह्मोपदेश जीवन के लिए परम सौभाग्यपद अमूल्य निधि है। **जीवो ब्रह्मैव नापरः** अर्थात् जीव ही ब्रह्म है ब्रह्म से पृथक् नहीं है। यही उपदेश है एवं उपनिषद् उपदेश धर्म, अर्थ.... चतुष्टपुरुषार्थे में परम निःश्रेयस रूप में ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य है। लौकिक उपाय ही अभ्युदय है यही उपनिषद् वाच्यार्थ— प्रत्येक चैतन्याभिन्न परब्रह्म को प्राप्त अथवा व्यक्त कराने वाली, निःसन्धिबन्धनात्मिका, चिज्जडग्रन्थिस्वरूपा, अविद्या को शिथिल करने वाली, अविचारित रमरणीय नाम रूप क्रियात्मक मायासमय (ब्रह्म) विश्वरूप प्रपञ्च का समूलोन्मूलन करके जीव की ब्रह्मात्मकता को बोधित करने वाली ब्रह्मविद्या ही उपनिषद् वाच्यार्थ है– वेदों में उत्पन्न एवं व्यञ्जक होने से आद्यशङ्कराचार्य द्वारा अनुमोदित वेदोक्त ईशकेनादि दश तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा वेदोक्त प्रमाणित एकादश, अन्यवैदिक मनीषियों द्वारा अनुप्राणित त्रयोदशोपनिषद् ही सर्वाधिक ब्रह्म–आत्मनिष्ठ उपनिषद् हैं। अन्य एक सौ आठ उपनिषद् वैदिक वाङ्मय से प्रकल्पित न होने से इन्हें अनार्ष कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी?

वेदोक्त उपनिषदों के अध्यात्म दार्शनिक ब्रह्म एवं आत्म–तत्त्वों का विविधोपनिषदों में इस प्रकार संग्रह रूप विवरण प्राप्त है।

१. **ब्रह्मपदवाच्यार्थ :** ब्रह्म नित्य है, उसमें आकाश ओत-प्रोत है। वह न स्थूल है न सूक्ष्म, न लघु, न गुरु है। वह रसग्रन्थादि से रहित है। उसके आँख, कान आदि नहीं है। अस्थूलम्, अनणु, अहस्वम्, अदीर्घम्, अरसम्, अगन्धम्, एतस्मिन् न खल्वरे गार्गि। आकाशे ओत-प्रोतश्च। (बृहदारण्यकोपनिषद्)

२. **ब्रह्मसर्वव्यापी :** ब्रह्म चराचर में व्याप्त है। वह जीवों में व्याप्त है, वह कर्मों का नियन्ता है, साक्षी चेतन और अद्वितीय, निराकार है। प्रमाणस्वरूप (क) ईशावास्यं... (ख) एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कर्माध्यक्षः... साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

३. **ब्रह्म से सृष्टि :** ब्रह्म अकेला है उसके ईक्षण से सृष्टि प्रारम्भ हुई। सदेव सोम्य। इदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। तदैच्छत् बहु स्यां प्रजायेयेति तत् तेजोऽसृजत (छा. उप. ६.२.१-३)

४. **ब्रह्म साक्षात्कार लक्ष्य :** मानव जीवन का लक्ष्य ब्रह्म साक्षात्कार है। इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः। (के.उप. २.५)

५. **आत्मदर्शन से सर्वज्ञता—** आत्मा का दर्शन, श्रवण, मनन और ध्यान करना चाहिए उसके ज्ञान से मनुष्य सर्वज्ञ हो जाता है—

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो निदिध्यासितव्य।
आत्मनि... दृष्टे श्रुते मते विज्ञातं इदं सर्वं विदितम्।। (वृ.उप ४.५.६)

१. **आत्मतत्त्व का कोषगत अर्थ, व्युत्पत्तिः** ऋग्वेद में 'आत्मन्' शब्द विभिन्न विभक्तियों तथा रूपों में कुल मिलाकर छब्बीस (२६) बार आया है।[1] जिसकी निष्पत्ति 'अत्गमनऽनेऽर्थे+मनिन् प्रत्यय के योग से होती है।[2] निरुक्त में यह "आत्मन्" दस बार आया है तथा आचार्य यास्क ने सर्वत्र इसका अर्थ "आत्मा" किया है।[3] **विन्टरनित्ज** ने इसे श्वास लेने के अर्थ वाली 'अज्' धातु से निष्पन्न स्वीकारते हुए जर्मन शब्द 'अथ्मेन' से सम्बद्ध माना है, जिसके मतानुसार ऋग्वेद में इसका प्रयोग निजवाचक सर्वनाम के रूप में हुआ है।[4]

सामान्यतः यह सारतत्त्व, आनन्ददायक, नियामक, प्राणवायु, देह, चेतन सत्ता तथा आत्मभूत या स्वरूप (सारतत्त्व) को प्रकट करता है। सूर्य को सम्बोधित एक मन्त्र में उसे जन्म तथा सवित् का आत्मा कहा गया है।[5] उसे सबका प्रेरक परमात्मा तथा प्राणिजगत्

१ आप्टे, वामन शिवराम-संस्कृत हिन्दी कोश, पृ. १५६-१५७
२ ऋग्वेद संहिता, पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृ. १००
३ यास्क निरुक्त १२/२९, ३०, ३२
४ विण्टर नित्ज-हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, पृ. २४९
५ सूर्य आत्मा जगत स्तस्थुषश्च। ऋग्वेद १/११५/१

का जीवात्मा कहा है। ऋग्वेद में 'आत्मा' का आनन्ददायक स्वरूप भी दृष्टिगोचर होता है। अग्नि को समर्पित एक मन्त्र में उपमा के द्वारा उससे आत्मा के समान आनन्ददायक तथा सभी के द्वारा धारणीय होने की प्रार्थना की गई है।

सबके धारयिता के रूप में 'आत्मा' ऋग्वेद में मात्र एक बार आया है।[६]

सायण ने उसकी व्याख्या करते हुए कहा है— हे वरुण! तुम्हारे द्वारा अन्तरिक्ष में प्रेरित किया जाता हुआ वायु सभी प्राणियों का आत्मा अर्थात् प्राण के रूप में धारयिता है। इस प्रकार ऋग्वेद में आत्मा को सबके आधार के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

आत्मा, जीव, किमात्मना यो नः जितेन्द्रियो भवेत् हि ?

स्व, आत्म इस अर्थ में प्रायः यह शब्द तीनों पुरुषों में तथा पुल्लिङ्ग के एक वचन में प्रयुक्त होता है। चाहे उस संसार शब्द का लिङ्ग, वचन कुछ भी हो, जिसका यह उल्लेख करता है— **आत्मदर्शनेन आत्मानं पुनीमहे।**

ऋग्वेद में आत्मत्त्व का निर्देशन :

ऋग्वेद में ऋषियों ने अचेतन प्राकृतिक शक्तियों की स्तुतियाँ चेतन की भाँति की हैं। इसी प्रवृत्ति के अन्तर्गत चेतन-आत्मतत्त्व के विचार का बीज देखा जाता है।

ऋग्वेद में आत्मतत्त्व का निर्देशन किसी एक निश्चित शब्द द्वारा नहीं किया, अपितु आत्मन्, जीव तथा कुछ विद्वानों[७] के अनुसार असु, प्राण एवं मनस् शब्दों द्वारा इसका सङ्केत किया गया प्रतीत होता है।

ऋग्वेद में आत्मन्-शब्द प्रायः देह, श्वास तथा चेतना एवं सारतत्त्व आदि अर्थों में आया है और प्राण, असु एवं जीव शब्द शारीरिक जीवनी-शक्ति के सूचक हैं। मनस्-शब्द यहाँ प्रमुख रूप से प्रज्ञा या बुद्धि का वाचक है। इसी प्रकार यद्यपि इन शब्दों द्वारा ऋग्वेद में व्यापक रूप से औपनिषदिक अध्यात्म-तत्त्व का अभिप्राय ग्रहण नहीं किया जा सकता है कि उपनिषद् में प्रतिपादित अध्यात्म-तत्त्व या अद्वैत-तत्त्व की धारणा के विकास में इन शब्दों से पर्याप्त सहायता मिलती है।

ऋग्वेद में ऐसे अनेक शब्द उपलब्ध होते हैं, जो शरीर से भिन्न किसी तत्त्व का निर्देश करते हैं। उनमें से कुछ तो सीधे आत्मा को ही इङ्गित करते हैं, तथा कुछ किसी न किसी रूप में आत्म तत्त्व से सम्बद्ध प्रतीत होते हैं।

आत्मा के स्वरूप का निर्देशन किया जाए तो यह जानना प्रसङ्ग प्राप्त है कि क्या वैदिक ऋषि आत्मा के पुनर्जन्म को मानते थे? कुछ पाश्चात्य विचारकों का यह मानना है कि 'ऋग्वेद' में 'पुनर्जन्म' जैसा कोई 'प्रत्यय' नहीं है। वस्तुतः आशावादी विचारधारा

६ आत्मा ते वातो रज नवीनोत्। ऋग्वेद ७/८७/२
७ चेतनावद्वि स्तुतयो भवन्ति। निरुक्त ७/६

को मानने वाले ऋषि पुनर्जन्म को नहीं मान सकते। वे अपने वर्तमान जीवन से पूर्णतः सन्तुष्ट थे। उनकी स्तुतियों का प्रयोजन केवल अमरता अथवा स्वर्गप्राप्ति ही नहीं था, अपितु उन्होंने देवताओं से अच्छी प्रजाएँ, वीर-पुत्र, धन का स्वामित्व तथा सौ से भी अधिक वर्षों तक अच्छे जीवन की कामना की थी।

हमें ऋग्वेद में कुछ ऐसे मन्त्र भी उपलब्ध होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मृतक की आत्मा किसी अन्य लोक में विद्यमान रहती है। एक मन्त्र में अग्निदेव से प्रार्थना की गई है कि वह अपने साथ रहने वाले तुर्वष, यदु, नववास्तु, बृहद्रथ तथा तुर्वीति नामक राजर्षियों को लेकर यहाँ आए।[८] ऋग्वेद में ही हमें कुछ ऐसे मन्त्र उपलब्ध होते हैं, जिनसे यह ज्ञात होता है कि मरने के अनन्तर आत्मा प्राकृतिक तत्त्वों तथा औषधियों में भी चला जाता है। एक मन्त्र द्वारा यह भी प्रतिपादित होता है कि वैदिक ऋषि पेड़-पौधों में जीव की स्थिति मानने के पक्ष में थे। इसके अतिरिक्त इस मन्त्र द्वारा कर्म के अनुसार फल भोगने का भी सङ्केत प्राप्त होता है।

आत्मा की अमरता पर भी विचार अपेक्षित है। एक मन्त्र में अग्नि को सम्बोधित करते हुए कहा है— हे अग्नि! तू अपने सेवक मर्त्य को अमर्त्य बनाते हो।[९] इसी प्रकार मरुतों से अमरता की प्रार्थना की गई है।[१०]

उपुर्यक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मृत्यु मानव का अन्त नहीं है, वह केवल भौतिक शरीर को नष्ट करता है तथा आत्मा शरीर के नष्ट होने पर भी बना रहता है और उस शरीरधारी द्वारा कुल कर्मों का फल भोगता है। धर्मात्मा लोगों का आत्मा स्वर्ग में सुरक्षा प्राप्त करता है।[११] वस्तुतः शरीर छोड़ने के बाद आत्मा दूसरे लोक में चला जाता है तथा वहाँ अपने कर्मों का फल भोगने के पश्चात् वह पुनः उसी पृथ्वी पर जन्म ग्रहण करता है। इस सारी प्रक्रिया के मूल में उसके द्वारा कृत कर्म ही हैं। अन्ततः यह कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के ऋषि 'आत्मा' के सम्बन्ध में निम्नलिखित धारणाओं एवं विचारों से परिचित थे।

१. आत्मा शरीर से भिन्न है तथा इस शरीर के नष्ट होने पर भी वह नष्ट नहीं होता।
२. यह अविनाशी है, न तो इसका जन्म होता है, और न ही मृत्यु।
३. यह शरीर का सारतत्त्व है और इसका नियामक भी है।
४. यह शरीर द्वारा किए गए कर्म का फल भोगता है।

---

८ ब्लूमफील्ड-द रिलीजन ऑफ द वेद, पृ. २५४
९ त्वं तमग्ने अमृतत्व उत्तमे मर्त दधासि श्रवसे दिवेदिवे/ऋक् /१/३१/७
१० उतो अस्माँ अमृतत्वे दधातन। ऋक् ५/५५/४
११ ऋग्वेद १/११५/२ तथा १५४/५

५. यह 'सत्', 'चित्' और 'आनन्द' तीनों से युक्त है।

३. आत्मा का पर्याय व निर्वचन : 'आत्मन्' शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में कुल मिलाकर लगभग २२ बार स्वतन्त्र रूप से नाना विभक्तियों में तथा लगभग चार बार संयुक्त रूप से हुआ है।[१२]

श्वास या प्राणवायु के अर्थ में आत्मा का प्रयोग : ऋग्वेद में लगभग पाँच बार "आत्मा" शब्द का प्रयोग श्वास या प्राण वायु के अर्थ में हुआ है। ऋक् १/३४/७ में अश्विनों को उसी प्रकार तीन वेदियों में आने के लिए कहा गया है, जिस प्रकार प्राणियों का आत्मभूत प्राणवायु (**आत्मेव वातः**) उनके शरीरों में प्रवेश करता है।[१३] **ग्रिफिथ** ने आत्मा शब्द का अर्थ प्राणवायु को श्वास किया है। सायणाचार्य ने 'आत्मा' शब्द से प्राण अर्थ ही लिया है।[१४] ऋक् १०/१६८/४ में वायु को देवताओं का 'आत्मा' तथा समस्त विश्व का गर्भ कहा गया है।१५ यहाँ भी आत्मा शब्द से प्राणवायु ही अभिप्रेत है, क्योंकि वायु, प्राण रूप में ही देवताओं के अन्दर तथा गर्भ की भाँति समस्त विश्व में अवस्थित रहता है।

शरीर में चक्षु प्रकाशक है और ब्रह्माण्ड में सूर्य, इसलिए मृतक की चक्षु के सूर्य में मिलने की कामना की गई है। इसी भाँति शरीरस्थ प्राणवायु बाह्य वायु में मिलने के लिए कहा गया है और प्राणवायु के लिए उक्त मन्त्र में ऋषि ने आत्मा-शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार ऋग्वेद में आत्मा-शब्द श्वास या प्राणवायु का भी वाचक है।

'वस्तु के तात्त्विक स्वरूप' अर्थ में आत्मा का प्रयोग : ऋग्वेद में ६१/११५/१ में सूर्य को सविता तथा जन्म जगत् का आत्मा कहा गया है।[१६] ऋक् १०/९७/११ में औषधि द्वारा यक्ष्मा-रोग की आत्मा के नाम का उल्लेख है।[१७] ऋक् १०/१०७/७ में दक्षिणा की प्रशस्ति में कहा गया है— 'दक्षिणा अन्न प्रदान करती है, जो कि हमारी आत्मा है।[१८]

उक्त सभी मन्त्रों में 'आत्मा' शब्द स्पष्ट ही जीवनशक्ति अथवा सारतत्त्व के अर्थ का अभिधायक है। अंग्रेजी के 'सोल' एवं 'स्प्रिट' ये दोनों शब्द मानव-शरीर के अभौतिक भाग, जीवात्मा, जीवनतत्त्व, सार तथा बुद्धि आदि अर्थों में प्रयुक्त है।

---

१२ ऋग्वेदसंहिता सूची खण्ड (पञ्चम भाग)
१३ तिस्रो नासत्या रथ्या परावत आत्मेव वातः स्वसराणि गच्छतम।
१४ ऋक १/३४/७, ७/८७/२ तथा १/९२/१३ पर सायण भाष्य, ग्रिफिथ का अनुवाद।
१५ आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भः।
१६ सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च।
१७ आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीवगृभो यथा।
१८ दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा।

पार्थिव शरीर से पृथक् चेतन-सत्ता के अर्थ में 'आत्मा' शब्द का प्रयोग: ऋग्वेद में १/१६४/४ में जिज्ञासा प्रकट की गई है— प्रथम उत्पन्न होते हुए को किसने देखा? जो अस्थिरहित (सशरीर) को धारण किए हुए था। यहाँ 'अनरया' शब्द को **आचार्य सायण** ने सांख्य की प्रकृति और वेदान्त की माया का अभिधायक बताया है।[१९]

इस प्रकार वैदिक कवि यह कहना चाहता है कि अशरीरा प्रकृति सशरीर मानव या संसार को धारण करती है। अतएव कवि पार्थिव, शोणित, प्राण एवं आत्मा के विषय में जिज्ञासा प्रकट करता है।

निष्कर्षतः जो कवि प्रकृति-द्वारा जगत् के धारण करने की बात कहकर फिर पार्थिव शरीर के प्रतीक-भूत शोणित एवं प्राण तथा आत्मा के विषय में पृथक्-पृथक् नाम लेकर पूछता है, कवि को स्पष्ट है कि जड़, प्रकृति तथा पार्थिव शरीर से भिन्न कोई चेतन सत्ता भी हो।

आत्मा का आनन्ददायक तथा स्वयं के अर्थ में प्रयोग : ऋक् १/७३/२ में अग्नि देवता के लिए कहा गया है— "वह आत्मा की भाँति आनन्ददायक तथा सबके द्वारा धारण करने योग्य होवे।"[२०] **सायणाचार्य** ने अपने भाष्य में 'आत्मेव' को स्पष्ट करते हुए कहा है— **'आत्मेव परम प्रेमास्पदतया निरतिशयानन्दस्वरूपः आत्मा यथा सर्वान् सुखयति।'**[२१] तथा ऋक् ८/३/२४ में पाकस्थामन् कौरयाण को आत्मा पितुस्तनः कहा है। **सायणाचार्य** ने 'आत्मा' का अर्थ यहाँ 'स्वयं' किया है।[२२] अर्थात् यह **पाकस्थामा स्वयं (आत्मा)** अपने पिता का पुत्र है।

ऋक् १०/९७/४ में ऋषि आथर्वणभिषक् ने औषधियों की स्तुति के प्रसङ्ग मे चिकित्सा करने वाले पुरुष को सम्बोधित करते हुए कहा है— "मैं घोड़ा, गौ-वस्त्र तथा स्वयं को (आत्मानम्) तुम्हें देता हूँ।[२३] अतएव उपर्युक्त सीलों पर 'आत्मा' शब्द का प्रयोग स्पष्ट रूप से 'आनन्दस्वरूप' तथा 'स्वयं' के अर्थ में किया गया प्रतीत होता है।

संयुक्त रूप से आत्मन् तथा त्मन् शब्द : ऋक् १/११६/३ में 'आत्मन्वतीभिः'[२४] १/१८२/५ में 'आत्मन्वन्तम्' तथा ऋक् ९/७४/४ में 'आत्मन्वत्' के रूप में आत्मा शब्द का प्रयोग है तथा यहाँ यह शक्ति अर्थ को अभिव्यक्त करता है। आरहित 'त्मन्' शब्द आत्मन का संक्षिप्त रूप प्रतीत होता है। ऋक् १/६३/८ में इन्द्र से जिन वस्तुओं की

१९ ऋक् १/१६४/४ पर सायण भाष्य
२० आत्मेव शेवो दिधिषय्यो भूत्।
२१ ऋक् १/७३/२ पर सायणभाष्य
२२ ऋक् ८/३/२४ पर सायणभाष्य।
२३ स्नेयमश्वं गा वास आत्मानं तव पुरुष
२४ तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिः।

कामना की गई है, जिसमें 'त्मन्' शब्द का उल्लेख स्पष्ट होता है। 'त्वमन्' शब्द ऋग्वेद में कुल मिलाकर ७८ बार आया है तथा सभी स्थलों पर आत्मा, जीव अथवा प्राण के अभिप्राय में प्रयुक्त हुआ है।

अजो भाग तथा असु के अर्थ में प्रयोग : ऋग्वेद में इस संयुक्तपद का प्रयोग मात्र एक बार हुआ है[२५] तथा 'अज्' शब्द का प्रयोग आठ बार जिसका अर्थ है 'अनुत्पल'। संयुक्त-पद का अर्थ[२६] सायणाचार्य जी ने 'जनरहित' किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने भाग का अर्थ शरीर, इन्द्रिय इत्यादि किया है।

अतएव सायणाचार्य के मत पर विचार करें तो स्पष्ट होता है कि 'अज' का एक भाग मृत्यु होने पर भी नष्ट नहीं होता। इससे यह भी ध्वनित होता है कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है और यह प्राणी के शरीर मात्र को नष्ट करती है, अजोभाग अर्थात् 'आत्मा' को नहीं, क्योंकि आत्मा न जन्म लेती है और न ही नष्ट होती है।

इसी प्रकार ऋग्वेद में 'असु' का प्रयोग प्रायः 'जीवन' तथा प्राण के अर्थ में किया है। ऋग्वेद में एक स्थान पर 'असु' तथा आत्मा दोनों पदों को साथ-साथ प्रयुक्त किया गया है।

सत्य, सुपर्ण के अर्थ में प्रयोग : ऋग्वेद में सत्य शब्द का प्रयोग कर्त्ताकारक तथा करण कारक में क्रमशः इक्यावन तथा पाँच बार हुआ है। **आचार्य सायण** ने सत्येन की पुष्टि करते हुए सत्य का तात्पर्य **'ब्रह्मन्'** कहा है तथा अनन्तात्मा का बोधक कहा है। ऋग्वेद में 'सुपर्ण' शब्द विभिन्न विभक्तियों में पैंतीस बार से भी अधिक आया है।[२७] **सायणाचार्य** ने सर्वत्र इसका अर्थ सूर्य की किरणों से लिया है। वहीं पर एक अन्य अर्थ जीव और परमात्मा भी किया है। इस मन्त्र का अर्थ भी स्पष्ट हो जाता है कि ऋग्वेद के ऋषि पूर्णतः परिचित थे कि जीवात्मा अपने कृतकर्मों का फल भोगता है, जबकि परमात्मा इस बन्धन से मुक्त है। अतएव कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में 'सत्य', 'सुपर्ण', 'आत्मा' हेतु भी प्रयुक्त है, चाहे वह जीवात्मा, अनन्तात्मा, परमात्मा इससे कोई अन्तर नहीं जान पड़ता।

४. ऋग्वेद में आत्मन् शब्द के अर्थ का विकास :

तथापि ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से 'आत्मन्' शब्द के अर्थ का विकास दिखलाई नहीं पड़ता किन्तु ऋग्वेद में इसके विभिन्न अर्थों में प्रयोग के आधार पर विद्वानों ने कुछ निष्कर्ष प्रदान किए हैं।

कीथ महोदय ने 'आत्मन्' के अर्थ का विकास क्रम दिखलाया है। तदनुसार ऋग्वेद

---

२५ ऋग्वेद १०/१६/४

२६ अजोभागस्तपसा तं तपस्व। ऋक् १०/१६/४

२७ ऋक् संहिता-पञ्चम भाग, सूची खण्ड, पृ. ६४४

में आत्मा-शब्द का अर्थ पहले वायु था। वायु से श्वास अर्थ उदय हुआ तत्पश्चात् उससे 'आत्मा' यह अर्थ उभरा जैसे कि सूर्य को चर और अचर की आत्मा कहा है। उसके बाद निजवाचक सर्वनाम के रूप में और 'शरीर' इस अर्थ में आत्मा का प्रयोग हुआ। उसके उपरान्त किसी भी वस्तु के तात्विक स्वरूप को व्यक्त करने हेतु आत्मा का प्रयोग किया गया। यही शब्द शरीर से अलग मानवीय आत्मा को बताने के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा फिर आगे चलकर आत्मा की परिभाषा मन तथा चेतन रूप में की जाने लगी।[२८]

मैक्समूलर यद्यपि 'आत्मन्' शब्द की निरुक्ति को अत्यन्त अस्पष्ट मानते हैं तथापि वे स्वीकार करते हैं कि 'आत्मन्' शब्द ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर विशेष के लिए आया है। जिस प्रकार **सूर्य चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा,** ऋक् १०/१६/३। तत्पश्चात् यह प्राणशक्ति जीवन एवं शरीरात्मा के अभिप्राय में प्रयुक्त होने लगा और फिर यही 'आत्मन्' नियमित रूप से निजवाचक सर्वनाम बन गया।[२९]

'आत्मा' शब्द के क्रमिक विकास के सम्बद्ध में विद्वानों के मतों की पुष्टि में ऋग्वेद के मन्त्रों में प्रमाण उपलब्ध नहीं होते। अतएव उपनिषद् काल में दार्शनिकों के हृदय में क्रमशः स्थूल, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि एवं चैतन्य को आत्मा मानने के रूप में उदित विचार, जिनका दिग्दर्शन **आचार्य सदानन्द** ने वेदान्तसार[३०] में किया है।

ऋग्वेद में प्रयुक्त 'आत्मन्' शब्द के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट रूप से सामने आता है कि वहाँ "आत्मन्" शब्द से परमतत्त्व या विश्वसत्य का निर्देश नहीं किया गया है।

ऋग्वेद में तो आत्मन् शब्द से मानव-देह, श्वास, जीवन-शक्ति, शरीरात्मा एवं मानव के निजी व्यक्तित्व का ही निर्देश किया गया है। ऋग्वैदिक कवि परमतत्त्व के विचार से परिचित है, किन्तु उन्होंने उसका निर्देश अदिति, हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, प्रजापति तथा पुरुष शब्दों से किया है, आत्मा से नहीं।

परमतत्त्व के अर्थ में आत्मन् शब्द का विकास :

आत्मन् शब्द से परमतत्त्व का सङ्केत सर्वप्रथम अथर्ववेद के ब्रह्मसूक्त (१०/०८/४४) में केवल एक बार हुआ है। कहा है— "वह अकाम, धीर, अमृत, स्वयंभू और रस से तृप्त है। उसमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं है। उसी धीर, अजर तथा युवा आत्मा के ज्ञात की मृत्यु से नहीं डरते।"

'आत्मा' शब्द से व्यापक रूप में परमतत्त्व का वर्णन करने की पद्धति का सूत्रपात उपनिषदों में हुआ। **बृहदारण्यक उपनिषद्** में ऋषि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी का जिस आत्मा के श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन का उपदेश किया है, वह वस्तुतः वही परमतत्त्व है,

---

२८ कीथ फिलासफी ऑफ दि वेद एण्ड उपनिषद्, खण्ड २, पृ. ४५१-४५२

२९ मैक्समूलर दि सिक्स सिस्टम्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृ. ७१-७२

३० आचार्य सदानन्द वेदान्त सार, खण्ड ३७-४१

जिसके जानने पर सब कुछ जान लिया जाता है।[३१] फिर इसी आत्मा को सारे प्राणियों का अधिपति तथा राजा बताया है तथा कहा है कि रथ की नाभि में अरों की भाँति इस आत्मा में सारे प्राणी, सारे देव, समस्त लोक, सब प्राण और सारी आत्माएँ जुड़ी हुई है।[३२] एवं आत्मा शब्द से उपनिषद् एवं वेदान्त के एकमात्र प्रतिपाद्य ब्रह्म है, मैं यहाँ से मरकर इसी को प्राप्त हो जाऊँगा।[३३] **बृहदारण्यक उपनिषद्** में भी आत्मा को ब्रह्म कहा गया है।[३४] अतः आत्मा उपनिषदों में आकर ब्रह्म का पर्यायवाची शब्द बन गया।

५. प्राणविद्या एवं जीवात्मा का सम्मर्षन :

आत्मा के अर्थ में मन का प्रयोग : एक सम्पूर्णसूक्त १०/५८ में यमलोक, स्वर्ग, पृथिवी, दिशाएँ, आकाश, समुद्र, औषधियाँ, सूर्य, उषा तथा पर्वत आदि स्थानों में गये हुए मृतक के मन को लौटाने का वर्णन है।[३५]

सायणाचार्य के अनुसार— सुबन्धु के दह से इन्द्रिय वर्ग सहित कराने के लिए इस सूक्त का पाठ किया गया है।[३६] किन्तु मृत्यु के समय मानव का आत्मा उसके शरीर से निकल कर जाता है, सम्भवतः इसलिए **'ग्रिफिथ'** ने इस सूक्त को मृत्यु के पास से मानव की आत्मा को पुनः 'मूर' ने भी उक्त सूक्त में 'मनस्' का अर्थ आत्मा किया है।[३७]

ब्रह्म के साथ मन का तादात्म्य : शतपथ ब्राह्मण में आत्मा तथा प्राण को मन में प्रतिष्ठित बताया गया है। **छान्दोग्योपनिषद्** में वर्णन है– यह जब मन से विचार करता है कि मन्त्रों को पढ़ूँ तो लगता है कि मन ही आत्मा है। मन की ही उपासना करो।

अतएव कहा जा सकता है कि मानव की समस्त क्रियाओं के सम्पादन में चाहे वे आन्तरिक हों अथवा बाह्य, बुद्धि या प्रज्ञा ही सर्वप्रमुख साधन है। **तैत्तिरीय उपनिषद्** की आत्मा को मनोमय एवं विज्ञानमय मानने की धारणा के मूल में भी सम्भवतः यही प्रवृत्ति रही होगी।[३८]

ब्रह्म प्रयोग एवं अर्थ : ऋग्वेद में 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग लगभग ३५० बार नाना

---

३१ आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। बृहदा. २/४/६५

३२ स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः, सर्वेषा भूताना।
तद्यथा रथनाभौ च रथनेमो चारा सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि, सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः/बृहदा/२/५/१५

३३ एष म आत्मान्तर्हृदये एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभ वितास्मीति/छा.उप. ३/१४/४

३४ अयमात्मा ब्रह्म। बृहदा/२/५/१९

३५ यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्। तत्ते आवर्तयामसीह क्षमाय जीवसे। ऋक् १०/५/१ आदि सम्पूर्ण सूक्त।

३६ वही सायणभाष्य

३७ वही ग्रिफिथ का अनुवाद

३८ तैतिरीय उपनिषद् २/३-४

विभक्तियों में स्वतन्त्र तथा संयुक्त रूप से हुआ है।[३९] इसका प्रयोग पुल्लिङ्ग तथा नपुंसक लिङ्ग दोनों रूपों में किया गया है। मूर ने नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त 'ब्रह्म' को सूक्त या आत्मा के अर्थ में तथा पुल्लिङ्ग में प्रयुक्त को उस सूक्त अथवा प्रार्थना के प्रणेता या उसका पाठ करने वाले के अर्थ में माना है।[४०] **भारतीय भाष्यकार आचार्य सायण** ने नपुंसक लिङ्ग के रूप में प्रयुक्त 'ब्रह्म' शब्द को प्रायः सूक्त अथवा स्तोत[४१] और पुल्लिङ्ग के रूप में प्रयुक्त को स्तुतिगायक ब्राह्मण[४२] तथा बहना नामक पुरोहित[४३] को अभिधायक माना है। इसके अतिरिक्त यह (ब्रह्म) शब्द अनेक बार नपुंसक लिङ्ग में अन्न या हविष् एवं महान् या शक्तिशाली[४४] तथा पुल्लिङ्ग में स्रष्टा अथवा प्रजापति के अर्थ में भी आया है।[४५]

मूर के अनुसार भी 'ब्रह्म' शब्द नपुंसक लिङ्ग में सूक्त या प्रार्थना एवं पुल्लिङ्ग में उस सूक्त अथवा प्रार्थना के रचयिता या उसका पाठ करने वाले के लिए प्रयुक्त हुआ है।[४६]

ड्यूसन का विचार है कि 'ब्रह्म' का अर्थ समस्त ऋग्वेद में ऊपर उठाने वाला तथा आध्यात्मिकता का सञ्चार करने वाली प्रार्थना की शक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं।[४७] 'ब्रह्म' के अर्थ के विषय में उक्त विचारों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक कवियों ने उसके द्वारा प्रमुख रूप से नपुसकलिंग में स्रोत या प्रार्थना तथा पुल्लिङ्ग में उस स्रोत के निर्माता एवं मान करने वाले ब्राह्मण का निर्देश किया है।

ब्रह्म शब्द (पुल्लिङ्ग) आगे चलकर त्रिमूर्ति के एक देव का अभिधायक बन गया।

ब्रह्म शब्द-द्वारा-स्रोत की महिमा का वर्णन ऋग्वेद में स्रोत को एक महान् शक्ति बताया गया है, जिसका निर्देश वहाँ ब्रह्म शब्द से हुआ है। ऋग्वेद में इन्द्र एक सबसे महान् देवता के रूप में वर्णित है और उसकी इस महत्ता का कारण है स्रोत[४८] इन्द्र स्रोत द्वारा ही वृद्धि को प्राप्त होता है।[४९]

ब्रह्मणस्पति के लिए तो यहाँ तक कहा गया है कि उसने स्रोत की सहायता से ही दृढ़

---

३९ ऋग्वेद संहिता, सूची खण्ड, पञ्चम भाग, वैदिक पदानुक्रम कोश संहिता

४० मूर-ओरिजिनल संस्कृत टैक्सट, प्रथम भाग, पृ. २४१

४१ ऋक् १/६२/१३, ७२/२, २/२०/५, ३४/७, ३/४१/३, ६/६/११, ५/२९२१५, ६/१७/३ १०/६१/१ पर सायण भाष्य

४२ १/८०/१, ४/५०/८, ५/४०/८/७/२०, ९/११२/१ पर सायण भाष्य

४३ ऋक् २/१/२, ४/९/४, ९६/६, १०/५२/२, १७/११ पर सायण भाष्य

४४ ऋक् ६/४५/७, १०/७७/११ पर सायण भाष्य

४५ ऋक् १०/१२५/५, १४१/३ पर सायण भाष्य

४६ मूर ओरिजिनल संस्कृत टैक्सट, वाल्यूम १, पृ. २४१

४७ ड्यूसन : सिस्टम ऑफ वेदान्त, पृ. ४९

४८ ऋक् १०/५०/४

४९ ऋक् ३/३४/१

पर्वतों को जर्जर किया, शिथिल वृक्षों को सुस्थिर बनाया। बन्धन में पड़ी गौओं को मुक्त किया, बल नामक राक्षस का वध किया, तम को नष्ट किया और स्वर्ग को प्रकट किया।[५०]

परमतत्त्व के अर्थ में 'ब्रह्मन्' का प्रयोग : ऋग्वेद में 'ब्रह्मन्' शब्द से निर्दिष्ट स्रोत शक्ति की उक्त महिमा में ही हम विश्व की चैतन्य शक्ति या परमतत्त्व के अर्थ में 'ब्रह्मन' शब्द की परिणिति का मूल देख सकते हैं। **ऋग्वेद** में यह स्रोत देवताओं की वृद्धि करने वाले भी कहे गये हैं। इस भाँति देवों का वर्धन एवं उनकी महिमा का ख्यापन करने वाले सूक्त अथवा स्रोत उस परम तत्त्व का प्रतीक-सा दिखाई देता है, जिसकी अभिव्यक्ति उपनिषदों में ब्रह्म शब्द द्वारा हुई।

कहा जा सकता है कि ऋग्वेद में स्रोत का वाचक 'ब्रह्म' शब्द ही आगे चलकर विश्व की चैतन्यशक्ति का परम तत्त्व के अर्थ में विकसित हो गया।

'ब्रह्मन' शब्द से वेद का निर्देश : 'ब्रह्मन' शब्द से स्रोत एवं स्तुति रूप वाणी के साथ-साथ उसके सङ्कलन, 'वेद' का भी निर्देश किया गया है। ऋक् १०/१०९/५ में **'ब्रह्मचारी'** पद का प्रयोग 'ब्रह्म' अर्थात् वेद का अध्ययन करने वालों के अर्थ में किया गया प्रतीत होता है।

ब्रह्मकाल में आकर वेदाध्ययन को **'ब्रह्म-यज्ञ'** की संज्ञा दे दी गई।[५१] **तैत्तिरीय** ब्राह्मण के 'वैश्वसृजचयन' में तो वेदरूप-ब्रह्म को विश्व की उत्पत्ति स्थिति और लय का कारण बताया गया है।

वेद के रूप में शक्ति को सर्वोच्च शक्ति मानने की यह भावना ब्रह्म शब्द से परम तत्त्व के बोध में सहायक मानी जा सकती है।

'ब्रह्मन्' शब्द से परमतत्त्व का बोध स्पष्ट रूप से **अथर्ववेद** में कराया गया है। वहाँ ब्रह्मा के लिए 'ज्येष्ठ' विशेषण का प्रयोग किया गया है और कहा गया है— जो भूत, भविष्य, एवं सबका अधिष्ठाता है और जिसका केवल मात्र सुख एवं आनन्द ही स्वरूप है उस ज्येष्ठब्रह्म को प्रणाम है।[५२] उपनिषदों में उदित ब्रह्म के विचार का प्रथम आविभक्ति अथर्ववेद में दिखाई देता है, किन्तु इसका मूल हम ऋग्वेद में देख सकते हैं। यद्यपि ब्रह्मन् शब्द **ऋग्वेद** में प्रमुख रूप से स्रोत का ही वाचक है, किन्तु यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस शब्द से निर्दिष्ट स्तुतिरूप वाणियों तथा उनके संग्रह रूप वेद के असामान्य महत्त्व से 'ब्रह्म' शब्द द्वारा परमतत्त्व की अभिव्यक्ति में अत्यधिक सहायता मिली होगी।

---

५० ऋक् २/२४/३
५१ श.ब्रा. ११/५/७
५२ अथर्व. १०/८/११

कर्मवाद एवं पुनर्जन्म–औपनिषदिक चिन्तन : एक विहङ्गम दृष्टि

डॉ. अरुणा
अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
बाड़मेर

सृष्टि के प्रारम्भ से ही मनुष्य को इस प्रश्न ने विचलित कर रखा है कि शरीर के समाप्त हो जाने पर भी क्या व्यक्ति का कोई अस्तित्व रह जाता है अथवा शरीर के साथ ही सब कुछ समाप्त हो जाता है? जो कर्म हम इस पृथ्वी पर करते हैं उसका कोई फल हमें मिलता भी है या नहीं? मोक्ष क्या है? ऐसे प्रश्न बुद्धिसम्पन्न मानव को प्रारम्भ से ही उद्वेलित करते हैं। इसके उतर भी समय–समय पर कभी वेद, कभी उपनिषद्, कभी साहित्य के विभिन्न स्रोतों से हमारे सामने आते रहे हैं।

पुनर्जन्म का प्रश्न भारतीय दर्शन की एक जटिल ग्रन्थि है। यह भारतीय विचार जगत् में परवर्ती युग की सृष्टि है– ऐसा कहा जाता है। कर्म और पुनर्जन्म दो पृथक् सिद्धान्त न होकर एक ही सिद्धान्त है तथा इसके बीच कार्य–कारण सिद्धान्त पाया जाता हैं। कर्म-नियम पर ही पुनर्जन्म की व्याख्या आधारित है। कर्म ही भाग्य–विधाता है। कर्म से ही भविष्य का निर्माण होता है। भूत, वर्तमान और भविष्य का निर्माण कर्म के आधार पर होता है। भूतकाल में किए गये कर्म के आधार पर वर्तमान और वर्तमान के कर्म के आधार पर भविष्य का निर्माण होता है। भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कर्म के ही परिणाम हैं। यही कर्म का सिद्धान्त है। यही कर्म का अविच्छिन्न या सतत् प्रवाह है। यही पुनर्जन्म का आधार है। वर्तमान कर्म भविष्य जीवन का जनक है। इस प्रकार कर्मफल को भोगने के लिए आते हैं और जाते हैं। यही जन्म–मरण का चक्र है जो सदा चलता रहता है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि अच्छे कर्म से उच्च योनि प्राप्त होती है।[1]

इस प्रकार कर्म ही जन्म का कारण है। गीता में भी स्वयं श्री कृष्ण ने कहा है कि

सम्पूर्ण संसार कर्मसूत्रों में गुंथा है।[२] गीता में ही अन्यत्र भगवान् ने कहा है –

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीरारणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।[३]

यहाँ पुनर्जन्म के सिद्धान्त की पुष्टि होती है। व्यक्ति की मृत्यु के पश्चात् आत्मा नये शरीर में प्रवेश करता है, जब तक अपने बन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा से सायुज्य न हो जाए। आत्मा के पुनर्जन्म से जुड़ा हुआ कर्म का सिद्धान्त है। उसके अनुसार कोई भी कृत कर्म निष्फल नहीं होता। किसी भी प्रकार का उचित या अनुचित कर्म परिपक्व होकर फलदायी अवश्य होता है। इसी कर्मफल को भोगने के लिए आत्मा को पुनर्जन्म लेना पड़ता है।[४]

वेदों में पुनर्जन्म बहुत स्पष्ट रूप में वर्णित नहीं हैं किन्तु कई सवालों पर उसकी चर्चा है। ऋग्वेद में अग्नि से प्रार्थना की गयी हैं कि वह मृत व्यक्ति को उस लोक में ले जाए जहाँ अच्छे कर्म करने वाले लोग रहते हैं।

ताभिर्व हैनं सुकृतां उलोकम्।[५]

"सुकृतां लोकम्" शब्द अथर्ववेद एवं वाजसनेयि संहिता में भी आए हैं। अमरत्व के लिय यत्र तत्र सभी देवों की स्तुति की गयी है। यथा अग्नि, मरूत्, मित्र एवं वरुण, विश्वदेव तथा सोम।[६]

आत्मा–परमात्मा, पुनर्जन्म और कर्मफलवाद के विषय में वेदों में जो हल्की–महीन कल्पनाएँ थीं, उपनिषदों में आकर उनका विपुल विकास हो गया और भारतवासी यह मानने लगे कि धर्म का जो असली सूक्ष्म तत्त्व है वह यज्ञवाद और पशुहिंसा से उपलब्ध नहीं हो सकता। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त है और वह जड़, चेतन, सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है, इस मत के प्रचार से हिंसा की भावना ढीली होने लगी और लोग यह भी मानने लगे कि मनुष्य के समान ही, पशु–पक्षी ओर पेड़–पौधे भी हिंसा नहीं, प्रेम और आदर के अधिकारी हैं।[७]

भारतीय दर्शन सभी विषयों में एक–दूसरे से सहमत नहीं हैं। कई स्थानों पर उन्होंने एक–दूसरे की कड़ी आलोचना भी की है किन्तु कर्म एवं पुनर्जन्म के सिद्धान्त को, चार्वाक को छोड़कर सभी ने स्वीकार किया है। जैनों एवं बौद्धों ने भी इसे अपने ढङ्ग से अपनाया है।

कर्म एवं पुनर्जन्म सम्बन्धी सभी विश्वासों के साथ कुछ सम्भावनाएँ एवं ऊहापोह चलते रहते हैं। जैसे–

१. मनुष्य का एक आत्मा होता है जो नित्य और भौतिक शरीर से पृथक् होती है।
२. अन्य जीवों जैसे–पशुओं, पौधों एवं निर्जीव पदार्थों में भी आत्मतत्त्व होता है।

३. मनुष्य एवं निम्न स्तर के पशुओं का आत्मा एक भौतिक शरीर से दूसरे में प्रविष्ट हो सकता है।

४. आत्मा कर्म करने वाला एवं दुःख सहने वाला होता है।

कठोपनिषद् में कहा गया है कि जो इस जगत् में भेद देखता है वह जन्म-मरण के बंधन से मुक्त नहीं होता परन्तु अद्वैत विद्या से बुद्धि के संस्कृत होने पर द्वैत दृष्टि का विनाश संभव है।[८]

बृहदारण्यकोपनिषद् के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों से ही अपने भविष्य का निर्माण करता है-जो जैसा आचरण करता है वह वैसा ही बन जाता है। मनुष्य काममय है। उसकी कामना जैसी होती है वैसी ही उसकी इच्छाशक्ति बनती है। इच्छा-शक्ति के अनुसार ही उसका कर्म होता है। जैसा कर्म करता है वह वैसा ही होता हैं। उसे वैसा ही फल प्राप्त होता है -

यथाकारी यथाचारी तथा भवति। साधुकारी साधुर्भवति। पापकारी पापो भवति। पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापम् पापेन। अथो खल्वाहुः। काममय एवायं पुरुष इति। स यथाकामो भवति तत्कर्म कुरुते। यत्कर्म कुरूते, तदभिसम्पद्यते।[९]

यह उद्धरण सबसे प्रमुख, प्राचीन एवं स्पष्ट वचन है और उपनिषदों में पाए जाने वाले पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर प्रभूत प्रकाश डालता है।[१०] अन्यत्र भी इस प्रकार के विचार आए हैं। बृहदारण्कोपनिषद् में ही याज्ञवल्क्य एवं आर्तभाग की कथा के अन्त में आया है कि 'उन्होंने जो कहा वह केवल कर्म था। उन्होंने जिसकी प्रशंसा की वह कर्म ही है। व्यक्ति अच्छे कर्मों से अच्छा और बुरे कर्मों से बुरा हो जाता है।'[११]

कर्म एवं व्यवहार मनुष्य की इच्छा या सङ्कल्प पर निर्भर करते हैं। यह सङ्कल्प कामनाओं के कारण जागता है। व्यक्ति की अनेक कामनाएँ होती हैं। कुछ को तो वह शांत कर लेता है तथा कुछ की सफलता के लिए वह सङ्कल्प लेता है। अतः कामना ही इच्छा, कर्म एवं व्यवहार का आधार है। अन्त में वहीं जन्म-मरण के चक्र यानी संसार का मूल है।

मृत्यु होने पर आत्मा मनुष्य के द्वारा जीवन भर किये गये कर्मों के साथ बाहर निकलता है। उसके वे कर्म ही उसके नये स्वरूप का निर्धारण करते हैं जो उसे अगले जन्म में ग्रहण करना होता है।[१२] मनुस्मृति में भी उल्लेख है कि अच्छे और बुरे कर्मो के आधार पर ही मनुष्य का पुनर्जन्म होता है और उसे उच्च या निम्न योनि प्राप्त होती है। अतः उसे अच्छे कार्य में अपना मन लगाना चाहिए।[१३]

मृत्यु के बाद तीन सम्भावनाएँ व्यक्त की गयी हैं - १. सम्पूर्ण विलोप २. स्वर्ग या नरक में फल भोगना एवं ३. पुनर्जन्म। जो लोग आत्मा की अमरता में विश्वास नहीं रखते-वे प्रथम मत का प्रतिपादन करते हैं।[१४] चार्वाक दर्शन पहली संभावना में विश्वास करने वाले लोगों में आता है। कठोपनिषद् में भी आत्मा की अमरता को न मानने वाले

लोगों की चर्चा है।[१५] वे लोग मृत्यु के बाद आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। जो लोग मृत्यु के बाद के जीवन में विश्वास नहीं करते हैं। वे उससे सम्बन्धित अन्य प्रश्नों को लेकर चिन्तित भी नहीं होते हैं। प्रथम एवं द्वितीय सम्भावनाओं की तुलना में तृतीय सम्भावना को मानने वालों की संख्या अधिक है। भौतिक मृत्यु के बाद भी किसी न किसी रूप में आत्मा के सतत् अस्तित्व का सङ्केत मिलता है।

मृत्यु के बाद के अतिजीवन सम्बन्धी प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। अर्थात् क्या मृत्यु के बाद आत्मा के होने का कोई प्रमाण रहता है। श्वेताश्वतरोपनिषद् के प्रथम मन्त्र में इस प्रकार के चार प्रश्न हैं :—

१. क्या ब्रह्म ही कारण है?
२. हम कहाँ से आते हैं?
३. हमें कौन पालता है?
४. हम कहाँ जा रहे हैं?

बृहदारण्यकोपनिषद् एवं छान्योग्योपनिषद् ने पुनर्जन्म के दो मार्गों की चर्चा की है। जो कीटों एवं मक्खियों के रूप में जन्म लेते हैं, उनके लिए तीसरे स्थान की बात कही गयी है।[१६] यह दो मार्गों वाले सिद्धान्त के आगे का मार्ग है। छान्दोग्योपनिषद् में आया है कि वैसे लोग जो यज्ञ करते हैं, जन कल्याण का कार्य करते हैं तथा दान देते हैं- चन्द्रलोक जाते हैं और जब उसके सद्कर्मों के फल समाप्त हो जाते हैं तो उसी मार्ग से लौट आते हैं जिससे वे चन्द्रलोक गये थे। पुन: किसी माता के गर्भ से जन्म लेते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् की भाँति प्रश्नोपनिषद् में भी वही सिद्धान्त आया है जो ऋषि तप, श्रद्धा एवं ज्ञान के द्वारा आत्मा का स्वरूप जान लेते हैं वे उत्तरी मार्ग से सूर्य की ओर जाते हैं, जो अमृत हैं, भय से मुक्त है। यहाँ से वे लौटते नहीं।[१७]

ऋग्वेद में देवयान और पितृयान का प्रसङ्ग आया है। कौषीतकि उपनिषद् ने देवयान एवं पितृयान का उल्लेख किया है।[१८] अथर्ववेद में भी देवयान और पितृयान का प्रसङ्ग है।[१९]

कठोपनिषद् में नचिकेता का यम ने ब्रह्मविद्या का रहस्य बतलाया है। कुछ लोग दैहिक अस्तित्व के लिए माता के गर्भाशय में चले जाते हैं और अन्य अपने कर्मों एवं ज्ञान के अनुसार स्थाणुओं में परिवर्तित हो जाते हैं।

छान्दोग्योपनिषद् में आया है- जिनके आचरण रमणीय हैं वे रमणीय योनि प्राप्त करेंगे। जैसे-ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य योनि। जिनके आचरण बुरे हैं वे बुरी योनि प्राप्त करते हैं। जैसे श्व,सूकर, चाण्डाल योनि आदि।

कर्म के सम्बन्ध में दार्शनिक दो मुख्य बातें बतलाते हैं- कृतप्रणाश और अकृताभ्यपगम। पहले का अर्थ हैं- किए गये कर्म का नाश नहीं होता। अर्थात् शक्ति

यदि सञ्चालित हो गयी तो कुछ न कुछ परिणाम अवश्य होगा। कर्म अफल नहीं होता। दूसरे का अर्थ है- बिना किये गये कर्म का फल नहीं मिलता। अर्थात् असञ्चालित शक्ति सफल नहीं हो सकती। इस शक्ति के आधार पर ही हम मानते हैं कि यदि बीज का चयन किया गया और धरणी, सलिल संयोग दिया गया तो लघु पादप या वृहद् वृक्ष की सृष्टि होनी ही है।[२०]

क्रिया-शक्ति के इस स्वरूप को स्वीकार करके भारतीय दार्शनिक कर्म के मुख्य तीन प्रकार स्वीकार करते हैं:-

१. **सञ्चित कर्म**- यह पूर्व में किया गया कर्म है। इसके फल का अभी अभ्युदय नहीं हुआ हैं। यह संस्कार बन कर समय की प्रतीक्षा करता है।

२. **प्रारब्ध कर्म**- यह भी पूर्वकृत कर्म है। इसके फल का अभी अभ्युदय नहीं हुआ है और यह भी संस्कर बनकर समय की प्रतीक्षा करता है।

३. **क्रियामाण या सञ्चयीमान कर्म**- यह इस जीवन में किया जाने वाला कर्म है। इसका फल भविष्य में मिलगा। यह संस्कार निधि है। इसका भोग भविष्य के लिए सुरक्षित है।

मनुष्य पूर्व में किए हुए शुभाशुभ कर्म भोगता है। कर्म का निर्मूलन हो जाने पर मुक्ति हो जाती है।[२१] मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्म के अनुसार दीर्घजीवी, अल्पायु, सुखी एवं दु:खी होता है।[२२]

कर्म के चार फल हैं - उत्पत्ति, संस्कार, विकार और आप्ति। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार कर्मों तथा पुनर्जन्म के अन्तहीन चक्र को समाप्त करने का साधन ज्ञान है। इसी क्रम में मोक्ष की चर्चा समीचीन प्रतीत होती है। मोक्ष कर्मजन्य नहीं, क्योंकि वह नित्य है। जो वस्तु कर्म का कार्य है वह अवश्य ही अनित्य है। इसलिए मोक्ष को ज्ञानजन्य माना गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि इस त्रिलोकी के मध्य में स्थित एक ही हंस है। हंस का अर्थ यहाँ परमात्मा से है। उसी को जानकार पुरुष मृत्यु के पार हो जाता है। मोक्ष के लिए और कोई मार्ग नहीं हैं:-

'एको हंसो भुवनस्य मध्ये, स एवाग्नि: सलिले सन्निविष्ट:
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।'[२३]

मुण्डकोपनिषद् में बतलाया गया है कि जब ज्ञान प्रसाद से मनुष्य का समस्त व्यक्तित्व शुद्ध हो जाता है तो वह चिन्तन द्वारा निष्कल ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है जो न दृष्टि से न वाणी से, न कर्म से प्राप्त हो सकता है।[२४] आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान ही मोक्ष है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में बतलाया गया हैं कि जब योगी आत्म स्वरूप के दर्शन कर लेता है तो अमृत और अभयतत्त्व को प्राप्त कर लेता है।[२५] शुद्ध आत्मज्ञान होने पर आत्मा और

परमात्मा के एकीकरण का बोध हो जाता है। इसको प्राप्त कर लेने के बाद कुछ भी शेष नहीं रह जाता।[२६]

इस प्रकार भारतीय मनीषियों ने उपनिषदों में कर्मवाद, पुनर्जन्म एवं मोक्ष सम्बन्धी विचारों पर गहन चिन्तन किया ही है, दूसरे देशों के विद्वानों ने भी इन शाश्वत प्रश्नों के उत्तर ढूंढने का प्रयास किया है। प्रो. मैक्डानल ने कहा है कि यह अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है कि आर्यों ने भारत के मूल निवासियों से यह अवधारण की थी। यह मान भी लिया जाए कि भारतीय आर्यों ने इस कल्पना का प्रतिग्रहण अनार्यों से किया था फिर भी उसको परम मुक्त से सम्बन्ध एक जन्म तालिका के रूप में सुव्यवस्थित विस्तार देने का श्रेय आर्यों को ही मिलना चाहिए।[२७]

यद्यपि उपनिषद् रहस्यवादी हैं तथापि वे कर्मों की उपयोगिता पर भी पर्याप्त बल देते हैं। ब्रह्मरूपी मञ्जिल तक पहुँचने के लिए कर्म सीढ़ी के समान है। कर्म से ही मनुष्य की चित्तशुद्धि होती है, तथापि साधन के रूप में इनका अत्यन्त महत्त्व है।[२८] मुण्डकोपनिषद् में यज्ञ-रूपी नौकाओं को कमजोर बतलाया गया है और कहा गया है कि जो केवल इन्हें ही कल्याण का मार्ग समझते हैं वे बार-बार जन्म-मृत्यु को प्राप्त करते हैं-

'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टदेशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतेच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।'[२९]

किन्तु यह भी कहा गया है कि जो व्यक्ति अभी ब्रह्म प्राप्ति के योग्य नहीं हुए, उनके लिए शास्त्रोक्त कर्म करते हुए जीवन बिताना ही श्रेयष्कर है-

'कुर्वन्नवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा।'[३०]

उपनिषदों ने दिमाग के अनेक दरवाजे खोज दिए और मनुष्य अनेक सवालों के चक्कर में पड़ गया। पर इन सबका एक बहुत अच्छा पक्ष यह रहा कि व्यक्ति अच्छे कर्म करने को प्रेरित होता रहा, क्योंकि उसे यह विश्वास हो चला था कि कर्मों का फल जन्म-जन्मान्तर में भोगना ही होता है। एक सुव्यवस्थित और उत्कृष्ट समाज के लिए यह सोच आधार भूमि के रूप में सामने आयी।

संदर्भ ग्रन्थ

१. छान्दोग्य उपनिषद् - १०/७
२. श्रीमद्भगवद् गीता - ३/९
३. श्रीमद्भगवद् गीता - २/२२
४. गोयल प्रीतिप्रभा - भारतीय संस्कृति - पृ. १५५ प्र. राजस्थानी ग्रन्थागार जोधपुर, चतुर्थ संशोधित संस्करण, २०११
५. ऋग्वेद १०/१६/४
६. काणे पी.वी.-धर्मशास्त्र का इतिहास, पञ्चम भाग, पृ. ३५१ प्र. -उ.प्र. हिन्दी संस्थान, चतुर्थ

संस्करण, २०१०
७. दिनकर रामधारीसिंह-संस्कृति के चार अध्याय- पृ. १३४ प्र. उदयांञ्चल, पटना, तृतीय संस्करण १६८८
८. कठोपनिषद् -२/१/११
९. बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/५-७
१०. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. ३५५ पूर्वोक्त
११. बृहदारण्यकोपनिषद् - ३/३/१३
१२. बृहदारण्यकोपनिषद् - ३/२/१३ एवं ४/४/२-६
१३. मनुस्मृति १२/२४
१४. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. ३५७, पूर्वोक्त
१५. कठोपनिषद् १/२०
१६. बृहदारण्यकोपनिषद् ६/२/१६ एवं छान्दोग्योपनिषद् ५/१०
१७. धर्मशास्त्र का इतिहास पृ. ३५८ पूर्वोक्त
१८. कौषीतकि उपनिषद् १/२-३
१९. अथर्ववेद १५/१२-१२
२०. मृणालिनी- कर्मसिद्धांत और पुनर्जन्म-सम्मेलन पत्रिका पृ. ५४, भाग ६७ संख्या २, पृ. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
२१. ब्रह्मवैवर्तपुराण प्र.सं. - २६/२०
२२. ब्रह्मवैवर्त पुराण प्र.सं. - २६/२१
२३. श्वेताश्वतरोपनिषद् - ६/६/१५
२४. मुण्डकोपनिषद् - ३/१/८
२५. श्वेताश्वतरोपनिषद्- ११/१४-१५
२६. छान्दोग्योपनिषद् - ४/३/२
२७. राणाडे रामचन्द्र दत्तात्रेय-उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण प्र. राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी
२८. वर्मा डॉ. जयनारायण व गुप्ता डॉ. पुष्पा-संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. १४६, तरुण प्रकाशन, द्वितीय संस्करण १९९५
२९. मुण्डकोपनिषद् - १/२/७
३०. ईशोपनिषद् - २

प्रणवोपनिषद् और त्रिविधसृष्टिः

रामनारायण शास्त्री
प्रवक्ता, संस्कृत विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
सिरोही (राजस्थान)

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतद्।। २।१५

प्रत्येक उपनिषद् का नामकरण पृथक्-पृथक् कारण से हुआ है। यथा प्रारम्भिक पद 'ईश ' और 'केन' होने के कारण ईशोपनिषद् ओर केनोपनिषद् नाम हो गया। कठ तथा तैत्तिरीय शाखा से सम्बद्ध होने से कठोपनिषद् व तैत्तिरीयोपनिषद् नाम हो गया। इतरा के पुत्र महर्षि ऐतरेय के द्वारा प्रोक्त होने से ऐतरेयोपनिषद् नाम हो गया। इसी तरह प्रणव अर्थात् ओंकार का सम्पूर्ण व्याख्यान होने से प्रणवोपनिषद् नाम रखा गया। इस आलेख में प्रणवोपनिषद् के विषय में ही कुछ लिखा जा रहा है। यह उपनिषद् अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण के प्रथम प्रपाठक का छोटा सा अंश है, जैसे यजुर्वेद का एक अध्याय ईशोपनिषद् है जिसमें मात्र सत्रह मन्त्र हैं वैसे ही प्रणवोपनिषद् में मात्र पन्द्रह कण्डिकाएँ हैं।[1]

यह उपनिषद् ब्रह्मा के चिन्तन और ब्रह्मचर्य साधना से प्रारम्भ होती है। ब्रह्म ने निश्चय ही ब्रह्मा को पुष्कर अर्थात् आकाश में उत्पन्न किया, उत्पन्न ब्रह्मा के मन में विचार आया कि मैं किस प्रकार एक अक्षर से सब कुछ ज्ञान प्राप्त या अनुभव कर सकूँ? इस वैचारिक प्रश्न का उत्तर पाने के लिए ब्रह्मा ने तप किया, ब्रह्मचर्य की साधना की।[2] ब्रह्मचारीण्णंश्चरति अर्थात् **ब्रह्म इष्णन् चरति इति।**[3] ब्रह्मा ने ब्रह्मचर्य की साधना से दो वर्ण वाले चार मात्रा वाले सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् निर्विकार ब्राह्मी व्याहृति वाले ब्रह्मदेवता वाले 'ओम्' इस अक्षर को देखा। उस व्याहृति से उस सर्वव्यापक ओम् के द्वारा सब कामों को, लोकों को, देवों कों, दिव्य पदार्थों को, वेदों को, यज्ञों को, शब्दों को, विविध बस्तियों को, भूतों को, स्थावर-जंगमों को बनाया या उत्पन्न किया गया है, ऐसा ब्रह्मा ने अनुभव किया। उस ओम् के प्रथम वर्ण से आपः और स्नेह और स्निग्ध पदार्थ उत्पन्न हुए हैं यह अनुभव किया। द्वितीय वर्ण से तेज ज्योतियाँ उत्पन्न हुईं यह अनुभव किया।[4]

चतुर्मात्रिक ओम की प्रथम स्वर मात्रा से पृथिवी, अग्नि, औषधि, वनस्पति ऋग्वेद भूः व्याहृति गायत्री छन्द त्रिवृत स्तोम प्राची दिशा बसन्त ऋतु वाणी और रसनेन्द्रिय जिह्वा

उत्पन्न हुई ऐसा अनुभव किया है।[५] प्रथम एक ही स्वर मात्रा से अधिभूत पृथिवी अधिदेव अग्नि और अध्यात्म वाणी रसना की उत्पत्ति हुई, इससे यह सिद्ध होता है कि अधिभूत अधिदेव व अध्यात्म ये तीनों परस्पर सम्बद्ध हैं। यह पारस्परिक सम्बन्धता उपनिषद् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों, संहिताओं में दर्शनीय हैं।

स तेभ्यस्त्रीन् देवान् निरमिमीत, स खलु पृथिव्या एवाग्निं निरमिमीत। तेभ्यस्त्रीन् वेदान् निरमिमीत अग्नेर्ऋग्वेदम्। तेभ्यस्तिस्रो महाव्याहृतीर्भिर रुमिमीतभूरिति ऋग्वेदात्।[६] भूरित्यृग्भ्योऽक्षरत् सोऽयंऽ(पृथिवी) लोकोऽभवत्। अयं(भू) लोक ऋग्वेदः।[७]

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदः।[८]
तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्त भूरित्यृग्वेदात्।[९]

तस्माद् ऋग्विदमेव होतारं वृणीष्व, स हि हौत्रं वेद। अग्निर्वै होता। पृथिवी वा ऋचामायतनम्, अग्निर्देवता, गायत्रं छन्दः, भूरिति शुक्रम्। तस्मात्तमेव होतारं वृणीष्व[१०]। वागेवाग्निः[११]। या सा वागासीत्सोऽग्निरभवत्।[१२]। अग्निर्मे वाचि श्रितः।[१३] इयं(पृथिवी) ह्याग्निः।[१४] इयं(पृथिवी) वा अग्निः।[१५] अयं वै (पृथिवी) लोकोऽग्निः।[१६] अयं वाग्निर्लोकः[१७] वागृक्[१८]। वागित्यृक्[१९] या सा वागृक् सा[२०]। वागेवऽर्चश्च सामानि च[२१]। त्रयो लोका एत एव। वागेवायं (पृथिवी) लोकः[२२]। त्रयो वेदा एत एव। वागेवऽग्वेदः[२३]। तस्यै वाचः पृथिवी शरीरम्[२४]। ऋचं वाचं प्रपद्ये[२५]। इन वचनों से त्रैत्व की अधिभूत अधिदेव और अध्यात्म की परस्पर सम्बद्धता सुतरां सिद्ध है।

ओम् की द्वितीय स्वर मात्रा से अन्तरिक्ष, वायु, यजुर्वेद भुवः व्याहृति त्रैष्टुभ छन्द, पञ्चदश स्तोम, प्रतीची दिग्ग्रीष्म ऋतु, प्राण और घ्राणेन्द्रिय नासिका बनी ऐसा ब्रह्मा ने अनुभव किया।[२६] द्वितीय स्वर मात्रा से भी उसी प्रकार अधिभूत अन्तरिक्ष यानी आकाश अधिदेव वायु और अध्यात्म प्राण तथा घ्राणेन्द्रियों की उत्पत्ति हुई, यहाँ भी तीनों में मिथः सामञ्जस्य है, जो इतर ब्राह्मणों व उपनिषदों में भी उपलब्ध है।

तेभ्यस्त्रीन् देवान् निरमिमीत अन्तरिक्षाद् वायुम्। तेभ्यस्त्रीन् वेदान् निरमिमीतऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमिति। वायार्यजुर्वेदम्। तेभ्यस्तिस्रो महाव्याहृतीर्निरमिमीत-भूर्भुवःस्वरिति। भुव इति यजुर्वेदात्[२७]। भुवरिति यजुर्भ्योऽक्षरत्सोऽन्तरिक्षलोकोऽभवत्। अन्तरिक्षलोको यजुर्वेदः[२८]। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त-वायोर्यजुर्वेदः[२९]। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्तभुव इति यजुर्वेदात्[३०]। यजुर्विदमेवाध्वर्युं वृणीष्वः सह्याध्वर्यवं वेद। वायुर्वाअध्वर्युः, अन्तरिक्षम् वै यजुषामायतनम्, वायुर्देवता, त्रैष्टुप्छन्दः, भुव इति शुक्रम्। तस्मात्तमेवाध्वर्युं वृणीष्व[३१]। य एवायं (पवते) (वायुः) एतदेवान्तरिक्षम्[३२]। वायुरसि अन्तरिक्षे श्रितः[३३]। वायुर्वान्तरिक्षस्याध्यक्षः[३४]। अन्तरिक्षश्शान्तिस्तद्वायुना शान्तिः[३५]। वायुर्वै प्राणः[३६]। वायुर्हि प्राणः[३७]। प्राणो हि वायुः[३८]। प्राणो वै वायुः[३९]।

प्राणा उ वायुः[४०]। स (वायुः) पुरस्ताद् वाति प्राण एव भूत्वा पुरस्ताद् वाति[४१]। वायुर्मे प्राणे श्रितः[४२]। इस प्रकार वायु अन्तरिक्ष यजुर्वेद प्राण का अर्थात् अधिभूत अधिदेव और अध्यात्म का मिथः सम्बन्ध सुस्पष्ट ही है।

ओम् की तृतीय स्वर मात्रा से द्यौ आदित्य सामवेद स्वः व्याहृति जागत् छन्दः सप्तदश स्तोम, उत्तरदिशा वर्षाऋतु ज्योतिः रूप ग्राहक चक्षुरिन्द्रिय उत्पन्न हुए यह अनुभव किया[४३]। यहाँ भी पूर्व की भाँति तीनों का पारस्परिक सामञ्जस्य व सम्बन्ध दर्शाया गया है।

स आत्मन एव त्रील्लोकान् निरमिमीत– पृथिवीमन्तरिक्षं दिवमिति तेभ्यस्त्रीन् देवान् निरमिमीत– अग्निं वायुमादित्यमिति। स खलु दिव आदित्यम्।

तेभ्यस्त्रीन् वेदान् निरमिमीत–ऋग्वेदं यजुर्वेदं सामवेदमिति। आदित्यात् सामवेदम्। स तेभ्यस्तिस्रो महाव्याहृतीर्निरमिमीत–भूर्भुवःस्वरिति। स्वरिति सामवेदात्[४४]।

स्वरिति सामभ्योऽक्षरत् स स्वर्गोलोकोऽभवत्। स्वर्गोलोकः सामवेदः[४५]। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि ज्योतींष्यजायन्ताग्निर्योऽयम्(वायुः) पवते सूर्यः[४६]

तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः। तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि शुक्राण्यजायन्तः स्वरिति सामवेदात्[४७]।

सामविदमेवोद्गातारं वृणीष्व , स ह्यौद्गात्रं वेद। आदित्यो वा उद्गाता द्यौर्वै साम्नामाय–तनम् आदित्यो देवता जागतं छन्दः स्वरिति शुक्रम्। तस्मात्तमेवोद्गातारं वृणीष्व[४८]।

चक्षुरादित्यः[४९] तद्यच्चक्षुरादित्यः सः[५०]। सूर्यो मे चक्षुषि श्रितः[५१] आदित्योऽसि दिवि श्रितः[५२]। ज्योति शुक्रमसौआदित्यः[५३]। यत्तच्चक्षुरसौ स आदित्यः[५४]। आदित्यो वा उद्गाताधिदैवं चक्षुरध्यात्मम्[५५]। देवलोको वा आदित्यः[५६]। स सुवरिति व्याहरत् स दिवमसृजत्[५७]। स्वरित्यसौ (द्युः) लोकः[५८]। असौ (द्युः) लोकःस्वः[५९]। साम वा असौ लोकः[६०]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सब जगह अधिभूत अधिदेव और अध्यात्म का पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है।

ओम् की चतुर्थ वकार मात्रा से आपः, चन्द्रमा, अथर्ववेद, नक्षत्र, ओम् यह स्वात्मा जनद् आंगिरस आनुष्टूभ् छन्द, एकविंश, स्तोम, दक्षिण–दिक्, शरद्ऋतु, ज्ञान, मन, इन्द्रिय उत्पन्न हुई यह अनुभव किया[६१]। इसमें भी जल अधिभूत चन्द्रमा अधिदेव और मन अध्यात्म इस तरह तीनों का सम्बन्ध बना हुआ है।

तमथर्वाणमृषिमभ्याश्राम्यत् अभ्यतपत् समतपत्। तस्माच्छ्रान्तात् तप्तात् सन्तप्ताद् दशतयानथर्वणऋषीन् निरमिमीत– तानथर्वण ऋषीनाथर्वणाश्चार्षेयान् अभ्यश्राम्यद् अभ्यतपत् समतपत्। तेभ्यश्श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यो यान् मन्त्रानपश्यत् स आथर्वणो वेदोऽभवत्[६२]।

तद्यदब्रवीत्-अथर्वाङेनमेतास्वेवाप्सु अन्विच्छेति तदथर्वाभवत्। तदथर्वणोऽथर्वत्वम्[६३]। चन्द्रमा मे मनसि श्रितः[६४]।

यत्तन्मनश्चन्द्रमास्सः।[६५] अथ यत्तन्मन आसीत् स चन्द्रमा अभवत्।[६६] मनश्चन्द्रमाः[६७]। यत्तन्मन एष स चन्द्रः[६८]। यश्चापश्चन्द्राः[६९]। मनुष्या वा आपश्चन्द्राः[७०]। सोमो राजा सर्वाणि नक्षत्राण्युपैति[७१]। नक्षगाणिस्थ चन्द्रमसि श्रितानि[७२]। इन वचनों से भी सभी का परस्पर सामञ्जस्य है।

उस ओम् की मकार श्रुति से इतिहास पुराण वाकोवाक्य गाथा नाराशंसी उपनिषद् अनुशासन वृधत्, करद्, रूहत्, महत्, तत्, शम्, ओम् ये व्याहृतियाँ स्वर, नृत्य, गीत, वादित्र उत्पन्न हुए या बने ऐसा अनुभव किया। चैत्ररथ, दैवत् विद्युत्, ज्योति, बृहत्छन्द, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, स्तोम, ध्रुवा-ऊर्ध्वा दिशा, हेमन्त, शिशिर ऋतुएँ और शब्दग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय उत्पन्न हुईं यह अनुभव किया।[७३] इस प्रणवोपनिषद् में ओम् से सम्पूर्ण जगत् की ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति और ब्रह्माण्ड तथा पिण्ड में अधिभूत, अधिदेव व अध्यात्म जो पारस्परिक सम्बन्ध दर्शाया गया है वह शतपथ ब्राह्मण में भी प्राप्त होता है इन सबका मूल, मूलसंहिता भाग में मिलता है।

एवं वा अरेऽस्य महतोभूतस्य निश्श्वसितमेतद्यदृग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।। मा.श.ब्रा.१४।५।२।१०।।

चारों वेदों का पुरुष सूक्त

तस्माद् विराडजायत विराजोऽधिपूरुषः। सजातोऽत्यरिच्यतपश्चाद्भूमिमथो पुरः।।

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मइध्मः शरद्धविः।।

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद् वायुरजायत।।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्।। यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवसः।। अथर्व १०।७।२०

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः। भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः। अथर्व १०।७।२२

देवाः पितरो मनुष्याश्च गन्धर्वाप्सरसश्च ये। उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः।। अथर्व १०।७।२७

यह एक अक्षर वाली ऋचा ओम् ब्रह्मा के तप से पहिले ही प्रकट हुई। यह ओम् ब्रह्मवेद की आथर्वणशुक्र अर्थात् अथर्ववेद की महाव्याहृति है इसी ओम् से मन्त्र उत्पन्न या प्रादुर्भूत हुए हैं इसी कारण मन्त्रों से पूर्व इसका ओम् का उच्चारण किया जाता है। इस विषय में वेद की ऋचा भी प्रमाण है।[७४]

या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद् या विश्वता युज्यते या च सर्वतः। यया यज्ञः प्राङ्जायते तां त्वा पृच्छामि कतमा स ऋचमा। अथर्व १०।७।१०

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः। यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते।। ऋग्वेद १।१६५।३९, अथर्व ९।१०।१८

सर्वप्रथम ओम् के उच्चारण के विषय में एक तथ्य और इसी प्रणवोपनिषद् में स्पष्ट किया गया है। देवों ने असुरों से घिर जाने पर ओंकार का साक्षात् किया उसे ही अपना अग्रणी या मुखिया, इष्टदेव मानकर असुरों को पराभूत किया, इस कारण सर्वप्रथम ओम् का उच्चारण किया जाता है।[७५] ब्राह्मण जिस अभीष्ट कामना को चाहें तो वह इस अविनाशी अक्षर परमपिता के मुख्यनाम 'ओउम्' का त्रिरात्र उपवास करते हुए पूर्वाभिमुख कुशासन पर बैठकर मौन रूप से हजार जप करें तो उसके सभी अर्थ, मनोरथ और सब कर्म सिद्ध होते हैं।[७६] जिस ओम् से सारी सृष्टि बनी है जो सर्वप्रथम उच्चरित होता है वह ओम् ऋग्वेद में ऋचा यजुर्वेद में यजुष् सामवेद में साम सूत्र में सूत्र ब्राह्मण में ब्राह्मण, श्लोक में श्लोक तथा प्रणव, अभ्यादान =प्रारम्भ करने में अथवा जप करने में प्रणव कहलाता है।[७७] महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सत्यार्थप्रकाश के मङ्गलाचरण रूप प्रथम समुल्लास में परमपिता परमात्मा परब्रह्म के सौ नामों की व्याख्या करते हुए ओउम् के विषय में लिखा है–यह ओम् शब्द परमेश्वर का सर्वोत्तम नाम है क्योंकि इसमें जो अ, उ, म् तीन अक्षर मिलकर एक ओउम् समुदाय हुआ है। इस एक नाम से परमेश्वर के बहुत नाम आते हैं, जैसे अकार विराट्, अग्नि और आदित्य, प्राज्ञादि नामों का वाचक और ग्राहक हैं। इसका ऐसा ही वेदादि सत्यशास्त्रों में स्पष्ट व्याख्यान किया है।[७८]

इस तरह परमपिता परमात्मा परमेश्वर जिसका मुख्य नाम ओ३म् है, से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति, ओम शब्द के प्रथम उच्चारण का रहस्य, ओउम् नाम के जप का महत्त्व बताकर ओंकार (ओम् इस शब्द) के विषय में छत्तीस प्रश्नों को उपस्थित किया गया है।[७९] जिससे कि ओंकार के विषय में ओम् शब्द की निष्पत्ति निर्वचन तथा अर्थ के विषय में सर्वसाधारण को ज्ञान हो सके।

इन्द्र प्रजापति संवाद रूप आख्यायिका के द्वारा प्रश्नोत्तर माध्यम से पाँच महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को समझाया गया है। प्रथम इन्द्र प्रश्न करते हैं, अनन्तर प्रजापति क्रमशः उनका उत्तर देते हैं। इन्द्र प्रजापति से निवेदन करते हैं कि भगवन्! विद्या से भली भाँति स्नान करके अच्छी प्रकार सब तरह से आपकी स्तुति करके पूछता हूँ। प्रजापति बोले पूछो वत्स! इन्द्र- १. यह ओंकार क्या है?, २. किसका पुत्र है? अर्थात् किसको नरक से बचाने वाला है?, ३. इसका छन्द क्या है?, आवरण क्या है?, ४. इसका क्या वर्ण है रूप रङ्ग क्या है? कौन से इस ब्रह्म (ओंकार रूप परब्रह्म तथा शब्दब्रह्म) को ब्रह्मा ब्राह्मण अच्छी तरह प्राप्त करता है और उससे ही वह कल्याणकारक ब्रह्म ओंकार पहिले पाता है, प्राप्त होता है। प्रजापति पहले चारों वेदों में ओंकार एकाक्षर कैसे प्रयुक्त होता है यह कहते

हैं तदनन्तर मकार श्रुति की अर्धमात्रा सहित चारों मात्राओं के दैवत वर्ण बताकर उनके ध्यान का फल बताते हैं और इस कण्डिका के अन्त में इन्द्र के प्रश्नों का क्रमशः समाधान करते हैं। स्वरित और उदात्त स्वर वाला एकाक्षर ओंकार ऋग्वेद में है, ह्रस्व दीर्घ प्लुत स्वर के साथ उदात्त स्वर वाला एकाक्षर ओम् यजुर्वेद में है, दीर्घ प्लुत स्वर के उदात्त एकाक्षर ओम् सामवेद में और ह्रस्व स्वर के साथ उदात्त एकाक्षर ओम् अथर्ववेद में है। उदात्त सहित उदात्त दो पद अ उ यह चार मात्रा मकार में जो व्यञ्जन है वह अर्ध मात्रा है इस प्रकार साढ़े चार मात्राएँ हैं ऐसा कहते हैं। इन मात्राओं में जो पहली मात्रा है वह ब्रह्म देवता वाली लाल वर्ण की है। जो उस प्रथम मात्रा का नित्य ध्यान करता है वह ब्रह्म पद को प्राप्त करता है। जो दूसरी मात्रा है वह विष्णुदेवता वाली कृष्ण वर्ण की है। जो इस दूसरी मात्रा का नित्य ध्यान करते हैं वह वैष्णव पद को पाते हैं। तीसरी मात्रा ऐशान देवता वाली पीले रङ्ग की है, जो उस तीसरी मात्रा का नित्य ध्यान करते हैं वह ऐशान (ईशान अर्थात् सब के ईश्वर परमात्मा के स्थान) पद को पाता है । जो अर्धव्यञ्जन के साथ चौथी डेढ़ मात्रा है वह सब देवताओं वाली अभिव्यक्त प्रकाशमान होकर सर्वत्र विचरती है। तथा रंग से शुद्ध स्फटिक मणि के समान कान्तिवाली है, जो उस मात्रा का नित्य ध्यान करता है वह नामरूप रहित ओंकार पद को पाता है उसका साक्षात्कर्ता है अनुभव करता है। ब्राह्मण या ब्रह्मवादी के वचन का आदर करना चाहिए यह कहकर पाँचों प्रश्नों का उत्तर दिया गया है-१. यह ओकार क्या है?-यह लातव्यः ग्रहण करने योग्य है गोत्र भूमि, वाणी इन्द्रियाँ आदि(निघण्टु के अनुसार २१) गौ मात्र की रक्षा करने वाला है। २. किसका पुत्र है?-ब्रह्म का पुत्र है। ३. कौनसा छन्दः है? दैवी गायत्री छन्द है, दैवी अर्थात् देवों से बना हुआ छन्द या आवरण है। ४. क्या वर्ण है?- देवों की एकाक्षरा गायत्री श्वेत वर्ण के रूप में व्याख्यात है अर्थात् वह शुक्ल वर्ण है। ५. कौन इस एकाक्षर ओम् ब्रह्म को प्राप्त करता है? जो पुंस यानि कि बढ़ाने वाला या बसाने वाला रुद्र, ज्ञान देने वाला है वही इस ब्रह्म को पाता है और यह ओंकार वेदों का देवता वर्ण्य विषय है।[७]

अब चौबीसवीं कण्डिका में ओंकार के विषय में किये गये छत्तीसों प्रश्नों का क्रमशः समाधान करते हैं। ओंकार शब्द में कौनसा धातु है? आपृ धातुः, व्याप्ति अर्थ वाली आपृ धातु है। कुछ विद्वान् रक्षार्थक अव् को मानते हैं। रूप शब्द संरचना की अपेक्षा अर्थ को महत्व देना चाहिए इसलिए आपृ धातु से ही ओम् शब्द की निष्पत्ति माननी चाहिए क्योंकि सबको व्याप्त करता है। कृदन्त अर्थवान् प्रातिपदिक है। वैयाकरण निपातों में उदात्त मानते हैं। निपात होने से अव्यय है। अव्यय होने से लिङ्ग वचन विभक्ति यह सब एक हैं, क्योंकि अव्यय अन्वर्थ संज्ञा है।

सदृशं त्रिषु लिंगेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥८१॥

को विकारिति -अवतेः प्रसारणम् अवधातु से ओम् मानने पर सम्प्रसारण है। आपृ

से आकार और पकार दोनो विकारी हैं। आदि में आकार को ओ तथा अन्त में पकार को मकार होता है। इस प्रकार दो वर्ण वाला एकाक्षर ओम् यह शब्द निष्पन्न होता है।[८२] 'अवतेष्टिलोपश्च' सूत्र से मन् प्रत्यय, प्रत्यय का टिलोप, तथा धातु से उपधा व वकार को ऊढ् आगम होकर 'ओम्' शब्द सिद्ध होता है अवति रक्षादिकं करोतीति ओम् प्रणव आरम्भोऽनुमतिर्वा । चादिषु पाठादस्याव्ययत्वम्।[८३] 'आप्नोते: क्विच्' सूत्र से क्विप् प्रत्यय व निपातन से ओम् निष्पन्न है।

आदि में तीन मात्रा हैं मकार चौथी है। प्रारम्भ करने पर ओ३म् यह प्लुत होता है। दोनों ओष्ठ उच्चारण स्थान हैं। गायत्री छन्द हैं। ओ३म् मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण, ऋचा, यजुष्, साम और अथर्व हैं तथा चारों वेदों की व्याहृति है। चारों वेदों की क्रमश: ओम् भूर्भुव: स्व: ये व्याहृतियाँ हैं।[८४]

ओम् को आदि में उच्चारण के विषय में पुन: एक आख्यायिका का प्रयोग किया गया है। सुनते हैं कि द्वापर में कुछ ऋषि केवल ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के साथ ही सोमरस पीना चाहिए ऐसा मानने लगे तो एक वेद अथर्ववेद के छूट जाने से तीनों वेद प्रभावहीन हो गये तब सभी ऋषि खिन्न होकर शोकभय में डूब गये। उस समय विचार-विमर्श के बाद ज्ञात होने पर कि भृगु व अङ्गिरा के बिना सोमपान नहीं करना चाहिए यदि ऐसा करते हैं तो ऋत्विग् पराभूत होते हैं तथा यजमान नीचे गिर जाता है। अत: चारों वेदों के साथ ही सोमपान करना चाहिए और सर्वत्र ओम् व्याहृति का आदि में प्रयोग होना चाहिए इसलिए ब्रह्मवादी ओम् का आदि में उच्चारण करते हैं।[८५]

ओम् ऋग्यजु:सामाथर्वा के साथ होने पर देवता छन्द ज्योति व स्थान क्या है? इसका समाधान करते हुए लिखा है। इस समाधान में भी सृष्टि उत्पत्ति की भाँति ही अधिभूत अधिदेव और अध्यात्म का समन्वय स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। किं दैवतमिति- **ऋचामग्निर्दैवतं तदेव ज्योति: गायत्रं छन्द:, पृथिवी स्थानम्। अग्निमीडे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्।[८६] इत्येवमादिकृत्वा ऋग्वेदमधीयते।**

यजुषां वायुर्दैवतं, तदेव ज्योति:, त्रैष्टुभं छन्द:, अन्तरिक्षं स्थानम्। ''इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो व: सविता।[८७] इत्येवमादिकृत्वा यजुर्वेदमधीयते। साम्नायादित्यो दैवतं, तथैव ज्योति: जागतं छन्द:,द्यौ: स्थानम्। अग्न आयाहि वीतये गृणानो हव्यदातये। नि होता सत्सि बर्हिषि।[८८] इत्येवमादि कृत्वा सामवेदमधीयते।

अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं, तदेव ज्योति: सर्वाणि छन्दांसि आप: स्थानम्। शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये शं योरभिस्रवन्तु न:।[८९] इत्येवमादि कृत्वा अथर्ववेदमधीयते।

आप: जल से समस्त स्थावर जंगम गतिशील प्राणिसमुदाय उत्पन्न होता है इसलिए सब कुछ आपोमय है और प्राणि समुदाय जीव जगत् भृगु अङ्गिरामय-प्रकाश ज्ञानमय हैं। सभी वेद ज्ञान व प्रकाशमय हैं। जल इन सबकी प्रकृति है तथा ओंकार के द्वारा जल का

प्रादुर्भाव होता है।[६०]

आत्मा का आत्मज्ञान का अधिकरण,आत्म का भैषज या औषध आत्मा का मोक्ष ओंकार है। सङ्गति से युक्त प्राणि चिन्ता को रोककर आत्म चिन्तन करना चाहिए। इस प्रकार वेदों का अतिक्रमण कर परम अध्यात्म फल को प्राप्त होता है। प्रश्नोत्तरों के द्वारा यथार्थ पद ओंकार का चिन्तन करके प्रबल विषयी अर्थात् आत्मचिन्तन करते हुए ब्रह्मनिष्ठा होता है।[६१]

इस तरह इस प्रणवोपनिषद् में प्रथम प्रणव ओम् से समस्त जगत् की उत्पत्ति बताई गयी है। अनन्तर प्रणव जप का महत्त्व बताकर ओम् शब्द की प्रश्न-प्रतिप्रश्न के माध्यम से सम्पूर्ण व्याख्या की गई है और बार-बार ओम् के आदि उच्चारण को स्पष्ट किया गया है। इस उपनिषद् में सृष्टि प्रक्रिया को बताते हुए तथा ओम् की व्याख्या करते हुए अधिभूत अधिदेव और अध्यात्म के पारस्परिक सम्बन्ध को दर्शाया गया है, जो स्वाभाविक सम्बन्ध अन्य उपनिषद् ब्राह्मण ग्रन्थों तथा मूल वेद-संहिताओं में भी स्पष्टतः प्राप्त होता है।

।। सन्दर्भाः।।

१. गोपथब्राह्मण १। १। १६-३०।। प्रणवोपनिषद् इति ब्लूमफील्ड गास्तृ प्रभृतयः।

२. गोपथब्राह्मण १। १। १६।। ३. अथर्ववेद ११। ५। १।।

४. गोपथब्राह्मण १। १। १६।। ५. गोपथब्राह्मण १। १। १७।।

६. गोपथब्राह्मण १। १। ६।। ७. षड्विंश ब्राह्मण १।५।।

८. मा. शतपथब्राह्मण ११।५। ८। ३।। ९. मा. शतपथब्राह्मण ११।५। ८। ४।।

१०. गोपथब्राह्मण १। २। २४।। ११. मा. शतपथब्राह्मण ३।२। २। १३।।

१२. जैमिनीय उपनिषद् २। २। १।। १३. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०। ८। ४।।

१४. मा. शतपथब्राह्मण ६।१।१।१४।। १५. मा. शतपथब्राह्मण ७।३। १।२२।।

१६. मा. शतपथब्राह्मण १५।९। १। १४।। १७. मा. शतपथब्राह्मण १।९। २। १३।।

१८. जैमिनीय उपनिषद् ४। २३। ४।। १९. जैमिनीय उपनिषद् १। ९। २।।

२०. जैमिनीय उपनिषद् १। २४। ८।। २१. मा. शतपथब्राह्मण ६। ४। ७। ४।।

२२. मा. शतपथब्राह्मण १४। ४। ३। ११।। २३. मा. शतपथब्राह्मण १४। ४। ३। १२।।

२४. मा. शतपथब्राह्मण १४। ४। ३। १८।। २५. ऋचं वाचं प्रपद्यं. यजुर्वेद ३६। १।।

२६. गोपथब्राह्मण १। १। १८।। २७. गोपथब्राह्मण १। १। ६।।

२८. षड्विंश ब्राह्मण १। ५।। २९. मा. शतपथब्राह्मण ११। ५। ८। ३।।

३०. मा. शतपथब्राह्मण ११। ५। ८। ४।। ३१.गोपथ ब्राह्मण १। २। २४।।

३२. जैमिनीय उपनिषद् १। २०। २।। ३३. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३। ११। १। ९।।

३४. मैत्रायणी संहिता ४। १। १।। ३५. मैत्रायणी संहिता ४। ७। २९।।

३६. कौषीतकि ब्राह्मण ८। ४।। , जैमिनीय उपनिषद् ४। २२। ११।।

३७. ऐतरेय ब्राह्मण २। २६।।,३। २।। ३८. ताण्ड्य महाब्राह्मण ४। ६। ८।।

३९. कौषीतकि ब्राह्मण ५।८,१३।५, ३०।५।। , मा. शतपथब्राह्मण ४।४।१।१५।।,६।२।२।६।।
४०. मा. शतपथब्राह्मण ८।४।१।८।। ४१. तैत्तिरीय ब्राह्मण २।३।९।।४-५।।
४२. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।८।४।। ४३. गोपथब्राह्मण १।१।१९।।
४४. गोपथब्राह्मण १।१।६।। ४५. षड्विंशब्राह्मण १।५।।
४६. मा. शतपथब्राह्मण ११।५।८।२।। ४७. मा. शतपथब्राह्मण ११।५।८।३-४।।
४८. गोपथब्राह्मण १।२।२४।। ४९. जैमिनीय उपनिषद् ३।२।४१।।
५०. जैमिनीय उपनिषद् १।२८।३।। , मा. शतपथब्राह्मण ३।२।२।१३।।
५१. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।८।५।। ५२. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१।१।११
५३. ऐतरेय ब्राह्मण ७।१२।। ५४. मा. शतपथब्राह्मण १०।३।३।७।।
५५. गोपथब्राह्मण १।४।३।। ५६. कौषीतकिब्राह्मण ५।७।।
५७. तैत्तिरीय ब्राह्मण २।२।४।३।।५८. मा. शतपथब्राह्मण ८।७।४।५।।
५९. ऐतरेयब्राह्मण ६।७।। ६०. ताण्ड्यब्राह्मण ४।३।५।।
६१. गोपथब्राह्मण १।१।२०।। ६२. गोपथब्राह्मण १।१।५।।
६३. गोपथब्राह्मण १।१।४।। ६४. तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१०।८।५।।
६५. जैमिनीय उपनिषद् १।२८।५।। ६६. जैमिनीय उपनिषद् २।२।२१।।
६७. जैमिनीय उपनिषद् ३।२।६।। ६८. मा. शतपथब्राह्मण १०।३।३।७।।
६९. ऋग्वेद १०।१२५।९, यजुर्वेद १२।१०२।। ७०. मा. शतपथब्राह्मण ७।३।१।२०।।
७१. षड्विंशब्राह्मण ३।२१।। ७२. तैत्तिरीयब्राह्मण ३।११।१।१३।।
७३. गोपथब्राह्मण १।१।२१।। ७४. गोपथब्राह्मण १।१।२२।।
७५. गोपथब्राह्मण १।१।२३।। ७६. गोपथब्राह्मण १।१।२२।।
७७. गोपथब्राह्मण १।१।२३।। ७८. सत्यार्थप्रकाश प्रथम समुल्लास।।
७९. गोपथब्राह्मण १।१।२४।। ८०. गोपथब्राह्मण १।१।२५।।
८१. गोपथब्राह्मण १।१।२६।। ८२. गोपथब्राह्मण १।१।२६।।
८३. उणादिकोष १।१४२।। ८४. गोपथब्राह्मण १।१।२७।।
८५. गोपथब्राह्मण १।१।२८।। ८६. ऋग्वेद १।१।२
८७. यजुर्वेद १।१।। ८८. सामवेद पूर्वार्चिक १।१।१।।
८९. अथर्ववेद पैप्लादसंहिता १।१।१।।, अथर्वशौनक संहिता १।१।१।।
९०. गोपथब्राह्मण १।१।२९।। ९१. गोपथब्राह्मण १।१।३०।।

उपनिषदों में नीति-शास्त्र

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद
व्याख्याता, अभिलाषा शिक्षक-
प्रशिक्षण महाविद्यालय,
साण्डाव (सुजानगढ़), चूरू

भारतीय संस्कृत वाङ्मय में उपनिषदों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वैदिक सूक्तों में जहाँ दार्शनिक विचारधारा का प्रारूप मिलता है तो उपनिषदों में इसका विकसित स्वरूप प्राप्त होता है। यदि ब्राह्मण ग्रन्थ वेदरूपी वृक्ष की शाखाएँ हैं तो आरण्यक ग्रन्थ उन शाखाओं से उत्पन्न पुष्प हैं और आरण्यक रूपी पुष्प की सुगन्ध रूप में उपनिषद् ग्रन्थ हैं।

इस प्रकार सभी दार्शनिक-आध्यात्मिक-धार्मिक सम्प्रदायों की जन्मभूमि उपनिषद् ही हैं। उपनिषदों में इस प्रकार के मौलिक विचार तथा उपदेश विद्यमान हैं जो मनुष्य की हर प्रकार की जिज्ञासा का शमन करने में उपयोगी हैं तथा सत्य का साक्षात्कार करवाने में समर्थ हैं।

उपनिषद् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। यहाँ 'उप' उपसर्ग समीपता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तथा 'सद्' धातु का अर्थ उपवेशनम् है। 'नि' उपसर्ग से तात्पर्य 'नितरां' या हमेशा से है। अर्थात् गुरु के अतिसमीप विनम्रतापूर्वक बैठकर ज्ञान प्राप्त करना ही उपनिषद् है। आचार्य शङ्कर ने 'उपनिषद् शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है –

'ये मनुष्याः भक्त्या श्रद्धया च सह आत्मभावेन ब्रह्मविद्यां प्राप्नुवन्ति सा विद्या तेषाम् गर्भवासं, जन्ममरणादिकं, रोगाद्यनर्थं विनाशयति, परब्रह्मणश्च प्राप्तिं कारयति तथा अविद्यादिसंसारकारणानि समूलं नाशयति।'

आचार्य शङ्कर की इस व्याख्या के अनुसार उपनिषद् का प्रमुख अर्थ 'ब्रह्मविद्या' है। प्राचीनकाल में इस उपनिषद् विद्या का अध्ययन-अध्यापन एकान्त स्थान (रहसि) में होता था इसलिए इसे 'रहस्यविद्या' के नाम से भी जाना जाता है। इस प्रकार जिन ग्रन्थों में रहस्यात्मक ज्ञान तथा ब्रह्मविद्या की चर्चा की गई है, वे उपनिषद् ग्रन्थ हैं। इसके साथ ही

वेदों के अन्तिम भाग होने के कारण इसे 'वेदान्त' भी कहा गया है।

इस प्रकार उपनिषदों में मुख्य रूप से ब्रह्म, आत्मा, जीव, ओंकार, सृष्टि, विद्या, विज्ञान विद्या, दर्शन विद्या, रहस्य विद्या, नीतिशास्त्र, मनोवैज्ञानिक तत्त्व दर्शन, प्राणविद्या आदि विषयों का सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है लेकिन प्रमुख उपनिषदों में नीतिशास्त्र विषयक तत्त्व ही इस शोध–पत्र का प्रतिपाद्य है।

नीतिशास्त्र एक ऐसा विषय है जो मानव को हर तरीके से प्रभावित करता है अर्थात् हम नीति शास्त्र के तत्त्वों को आत्मानुभव करके ही मानव जीवन को सार्थक कर सकते हैं। उपनिषद्कारों ने आत्मानुभवों के द्वारा ही नीतिसम्मत सिद्धान्तों का प्रतिपादन बड़ी सूक्ष्मता से किया है। उपनिषदों में हमें नैतिक आदर्शवाद से पृथक् नीति प्रामाण्यवाद का अधिक विवेचन नहीं मिलता क्योंकि जहाँ नैतिक आदर्शवाद में मानव जीवन के मोटे–मोटे प्रश्नों का विवेचन करना है वहाँ नीति–प्रमाण्यवाद की समीक्षा के अतिसूक्ष्म विचारों की आवश्यकता होती है।

उपनिषदों में नीतिशास्त्र विषय के तत्त्वों का विवेचन इस प्रकार है–

१. परायत्तवादः– मानव जीवन में परायत्तवाद नैतिक आचार का प्रथम नियामक सिद्धान्त है। यह मानव की शैशवास्था से ही लागू होता है। इस सन्दर्भ में अरिस्टोटल का विचार है कि जब अज्ञान के कारण मनुष्य अपने लिए नैतिक पथ का निर्णय लेने में समर्थ न हो तो उसे संस्कृत आचार वाले मनुष्य की सम्मति का नैतिक प्रमाण मानना चाहिए। तैत्तिरीयोपनिषद् का एक प्रसिद्ध अवतरण है जिसमें एक शिष्य को उपदेश दिया गया है कि उसे अपने धर्मगुरु के केवल सदाचरणों का अनुकरण करना चाहिए और भी अधिक कल्याण के लिए उसे अपने गुरु से भी श्रेष्ठ आचरण वालों के सत्कर्मों का अनुशीलन करना चाहिए।

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। (तै. १/२)

२. अन्तः प्रेरणावादः– अन्तः प्रेरणावाद या स्वायत्तता नैतिक आचार का असली नियम है। हमारे नैतिक आचरण के लिए लोक, राष्ट्र और ईश्वर कोई भी मूल नियम प्रदान नहीं कर सकता। इसका उद्भव हमारे अन्तःकरण से होना चाहिए। इस सन्दर्भ में छान्दोग्योपनिषद् में मन को ही चरम सत्य माना गया है तथा उसी के चिन्तन पर बल दिया गया है तथा मन को आत्मा तथा परम सत्य ब्रह्म मानने का उपदेश है।

मनो ब्रह्मेत्युपासीत्। (छा.३/१८/१)

मनो ह्यात्मा .....मनो हि ब्रह्म मन उपास्वेति (छा.३।३।१)

३. सुखविरोधवादः– कठोपनिषद् के एक प्रसङ्ग में हमें सुखविरोधवाद सिद्धान्त देखने को मिलता है। यहाँ बताया गया है कि लोक में दो मार्ग हैं– श्रेयस् तथा प्रेयस्। ये

दोनों मार्ग मनुष्य को अपनी और खींचने का प्रयास करते हैं। इनमें से हमे श्रेयस् मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। क्योंकि जो श्रेयस् मार्ग का अनुसरण करता है उसे अन्त में अपनी लक्ष्य सिद्धि प्राप्त होती है तथा जो प्रेयस् मार्ग को चुनता है वह अपने उद्दिष्टध्येय को खो देता है। बुद्धिमान मनुष्य श्रेयस् को चुनता है तथा मूर्ख प्रेयस् मार्ग को-

'...श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः। श्रेयो हि धीराद भिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।' (कठो. १/२/१-२)

४. **संन्यासवाद/शान्तिवादः**- मनुष्य की जब जीवन के प्रति रुचि नहीं रहती तब उसका मन संन्यास वृत्ति की ओर अग्रसर हो जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है कि तत्वज्ञानी का वैभव, कीर्ति और सन्तान से कोई प्रयोजन नहीं। उनका प्रश्न होता है कि 'हमें सन्तान से क्या करना है' यह वह हमें शाश्वत के नजदीक नहीं लाती? इस प्रकार वे कामना, कीर्ति आदि को छोड़ संन्यास ग्रहण कर लेते थे-

एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति। एतद्ध स्मवै तत् पर्वे विद्वान्सः प्रजाम् न कामयन्ते किम् प्रजया करिष्यामो। येषाम् नोऽयमात्माऽयम् लोक इति। (बृह.४/४/२२)

५. **आधिभौतिक कर्मवाद** :- ईशोपनिषद् में बताया गया है कि मनुष्य को अपने सौ वर्ष का समस्त जीवन निरन्तर साधना में व्यतीत करना चाहिए अर्थात् हमें अपना समस्त जीवन कर्म करने में व्यतीत करना चाहिए इस प्रकार यहाँ निष्काम कर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवम् त्वयिनान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।। (ईश.-२)

ईशोपनिषद् में ही बताया गया है कि ज्ञान हमें एक परिणाम तक पहुँचाता है तो कर्म दूसरे पर। ज्ञानी व्यक्ति कर्म व ज्ञान दोनों में सामञ्जस्य स्थापित कर कर्म के द्वारा अमरत्व की प्राप्ति कर लेता है-

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते.....।।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।। (ईश. - ९-११)

६. **सुखार्थवादः**- एक ओर जहाँ कठोपनिषद् में श्रेय मार्ग को श्रेष्ठ तथा कल्याणकारी माना है वही दूसरी तरफ श्वेताश्वतरोपनिषद् में लौकिक प्रेम की याचना उसे परम श्रेय की कल्पना में महत्त्वपूर्ण मानकर की गई है। उपनिषद् का कथन है कि 'हमें अपने बच्चों अथवा पुत्रों के वियोग से पीड़ित न करो। हे रुद्र! हमारे बलवान् वीरों को मत मारो, जिससे हम तुम्हें चिरकाल तक आहुति देते रहे -

मा नस्तो के तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्त्वा हवामहे।

(श्वेता.४/२२)

७. **आत्मानुभूतिः**– आत्मानुभूति का आनन्द सर्वश्रेष्ठ आनन्द है। बृहदारण्यक उपनिषद् हमें बतलाता है कि आत्मा जो हमारे बाह्याभ्यन्तर सत्य का समवाय है, वह हमारी कामना के भौतिक उपादानों से श्रेष्ठ उपादान है। आत्मा ही हमारे अस्तित्व का सार होने के कारण हमारे निकटतम है। इसलिए हमें केवल आत्मा को ही अपनी कामना का उपादान मानकर उसी का ध्यान करना चाहिए। जो आत्मा की इसी रूप में उपासना करता है उसकी किसी प्रियवस्तु का नाश नहीं होता है तथा जो आत्मा को प्राप्त कर लेता है उसकी कोई अतृप्त कामना नहीं रह जाती –

तद्वा अस्यैतदाप्तकामं आत्मकामम् अकामं रूपं शोकान्तरम्।(बृह.४/३/२१)

८. **पापपुण्यातीतवादः**– मुण्डकोपनिषद् में बताया गया है कि 'जब नैतिककर्त्ता एक बार कार्य-अकार्य, सर्वशास्ता पुरुष का साक्षात्कार कर ब्रह्म से पूर्ण साम्य प्राप्त कर लेता है तब समस्त पाप-पुण्य की कल्पनाओं से मुक्त हो जाता है अर्थात् सद्गुण-दुर्गुण, सत्-असत् से परे पहुँच जाता है–

यदा पश्यःपश्यते रूक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।। (मुण्ड.३/१/३)

इसके अलावा और भी कहा गया है कि जो आत्मा का ध्यान करता है वह स्वयं उसी शक्ति को प्राप्त कर लेता है जबकि उसकी महत्ता न तो सत्कर्मों से बढ़ती है और न ही घटती है।

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्।(बृह.४/४/३)

९. **सद्गुणः**– उपनिषदों में नैतिक आचरण के साथ-साथ नीतिशास्त्र के व्यावहारिक पक्ष सम्बन्धी ज्ञान भी निहित हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् के अवतरण में तीन सद्गुणों का अर्थ आता है जिसमें बताया गया है कि एक बार देवता, मनुष्य और असुर सभी पिता प्रजापति के पास गये और कहा कि आप हमें उपदेश दीजिए। प्रजापति ने देवताओं के लिए 'द' अक्षर कहा और पूछा, समझ गये। उन्होंने उत्तर दिया कि आपने हमसे 'दमन करो' ऐसा कहा है। इसके बाद प्रजापति ने मनुष्यों को भी 'द' अक्षर का उपदेश दिया और पूछा की समझ गये। इस पर मनुष्यों ने कहा कि आपने हमसे 'दान करो' ऐसा कहा है। असुरों को भी प्रजापति ने 'द' अक्षर का उपदेश दिया और कहा कि क्या वे इसका आशय समझ गये तो उत्तर मिला कि 'दया करो'। इस पर प्रजापति सन्तुष्ट हुए–

त्रयः प्राजापत्यः प्रजातौ पितरि ब्रह्मचर्यमूषुर्देवा मनुष्या असुरा उषित्वा ब्रह्मचर्य देवा ऊचुर्ब्रवीत नो भवानिति तेभ्यो हैतदक्षमुवाच द इति व्यज्ञासिष्टा.....। (बृह. ४/२/१-३)

यद्यपि यहाँ जिज्ञासुओं को प्रजापति ने एक ही उपदेश दिया था लेकिन उन्होंने अपने सामर्थ्यानुसार अर्थ समझकर कर्त्तव्य ग्रहण किया। मनुष्यों में भी तीन सद्गुण पाये जाते हैं- सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। जो मनुष्य देवताओं के समान हैं उन्हें 'दमन करो' ऐसा प्रेरित किया गया है। जो मनुष्यों की स्थिति में हैं, उन्हें 'दानशील' बनने की प्रेरणा दी गई तथा जो असुरों की प्रकृति वाले हैं उन्हें 'दयावान्' बनने का उपदेश दिया गया है।

इसके उपरान्त छान्दोग्योपनिषद् में हमें घोर अङ्गिरस तथा देवकी पुत्र कृष्ण के संवाद से भी सद्गुणों की सूची मिलती है। उसमें हमें बताया गया है कि मनुष्य के तप, दान, ऋजुता, अहिंसा और सत्य ये प्रधान गुण हैं-

'अथ यत्र यो दानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।

(छा.३/१७/४)

इसके बाद आगे चलकर छान्दोग्योपनिषद् में ही मनुष्य के पाँच महापातकों का उल्लेख मिलता है। हमें बताया गया कि 'जो स्वर्ण की चोरी करता है, सुरापान करता है, गुरु पत्नी के साथ गमन करता है अथवा ब्राह्मण का वध करता है, वह नरक का भोगी बनता है तथा उसके सहयोगी भी -

''स्तेनो हिरण्यस्य, सुरां पिबंश्च, गुरोस्तल्पमावसन्, ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरस्तैरिति।'' (छा. ८/१०.९)

१०. सत्य की महिमाः- उपनिषद्कारों ने सत्य को सर्वश्रेष्ठ गुण माना है। छान्दोग्योपनिषद् के एक प्रसिद्ध अवतरण में हमें बतलाया गया है कि जाबाला नाम की एक स्त्री ने यौवनकाल में व्यभिचार(उच्छृङ्खल) किया। उसका पुत्र वयस्क हुआ तो उसने माता से अपने पिता का नाम पूछा तो जाबाला ने उत्तर दिया कि वह उसका पुत्र है लेकिन वह पिता के विषय में अनिश्चित थी कि किस पिता के उत्पन्न हुआ है। सत्यकाम जब दीक्षा लेने गुरु के पास गया तब गुरु ने पूछा कि यह मैं नहीं जानता। इस प्रकार का उत्तर गुरु द्वारा यह पूछे जाने पर दिया कि तुम किस वंश से उत्पन्न हो, तुम्हारा गोत्र, कुल क्या है। सत्यकाम ने यह भी कहा कि मैं केवल अपनी माता का नाम जानता हूँ, उसने कहा कि वह भी नहीं जानती कि मैं किस पिता की सन्तान हूँ। इस पर गुरु ने कहा कि 'वत्स; ये शब्द किसी ब्राह्मण के मुख से ही निकल सकते हैं। आओ मैं तुम्हें दीक्षा दूँगा क्योंकि तुम सत्य से विचलित नहीं हुय—

सत्यकामोऽहं जाबालो जबालां मातरमामंत्रयांचक्रे ब्रह्मचर्य भवति विवत्स्यामि कि गोत्रोऽहम स्मीति.....। (छा.४/४/१-५)

प्रश्नोपनिषद् के छठे प्रश्न में जब सुकेशा ऋषि ने अपनी अल्पज्ञता और सत्यभाषण का महत्त्व प्रकट करते हुए सोलह कलाओं वाले पुरुष के विषय में प्रश्न किया तब इस प्रसङ्ग में बताया गया है कि असत्य बोलने का साहस मत करो, असत्य बोलने से मूलोच्छेद हो जाता है। इस लोक या परलोक में कहीं भी प्रतिष्ठा नहीं पा सकता –

'.....समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।
तस्मान्नार्हामि अनृतम् वक्तुम्। (छा. ४/१६/१-२)

दूसरी ओर मुण्डकोपनिषद् हमें यह बतलाती है कि संसार में सत्य की ही विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्य देवताओं का पथ प्रशस्त करता है, जिसके द्वारा वे ऋषि लोग जिनकी समस्त कामनाएँ तृप्त हो चुकी हैं, परम सत्य लोक को जाते हैं–

सत्यमेव जयति नानृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्। (मुण्ड. ३/१.५)

११. सङ्कल्पः– सङ्कल्प के विषय में बृहदारण्यकोपनिषद् में बड़ी सूक्ष्मता से विवेचन किया गया है इसमें बताया गया है कि मनुष्य काम, सङ्कल्प और कर्म का समीकरणमात्र है जैसी उसकी कामना होगी। वैसे उसके सङ्कल्प होंगे, वैसे ही उसके कर्म होंगे तथा वैसे ही वह फल अपने लिए प्राप्त करेगा –

अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति। स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति, यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते, यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।

(बृह.४/४/५)

१२. स्वातन्त्र्यः– छान्दोग्योपनिषद् में उपदेश किया गया है कि हमारे लिए समस्त लोकों में स्वतन्त्रता, आत्मज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही मिल सकता है किन्तु यदि आत्मज्ञान प्राप्त नहीं किया है तो हमारे लिए तनिक भी स्वतन्त्रता नहीं है :–

य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्ति तेषाम् सर्वेषु लोकेषु अकामचारो भवति।
य इहात्मानं अनुविद्य व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।।

(छा.३/६/१)

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उपनिषद्कारों ने नीतितत्त्वों का बड़ी सूक्ष्मता से परिशीलन कर इसमें स्थान दिया है और पाठकों के लिए अमृत के समान पानयोग्य बनाया है।

उपनिषदों में काव्य-तत्त्व

डॉ. दीप्ति राठौड़
व्याख्याता,
राजकीय महाविद्यालय, बाड़मेर

उपनिषद् शब्द का साधारण अर्थ है वह विद्या जो गुरु के अत्यन्त निकट बैठकर सीखी जाती है। इस आधार पर उपनिषद् पद का निर्वचन **'उप ब्रह्मसामीप्यं नि निश्चयेन सीदति प्राप्नोति यया सा उपनिषद्'** — इस प्रकार से किया जा सकता है। ऐतरेय-आरण्यक में भी उप-नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु बैठने अर्थ में प्रयुक्त हुआ है-

विश्वामित्रं ह्येतदहः शंसिष्यन्तमिन्द्र उपनिषसाद्।[1]

उपनिषद् शब्द उप+नि+षद्लृ (सद्) धातु से क्विप् प्रत्यय का योग करने से होती है। षद्लृ धातु के विशरण (विनाश), गति (ज्ञान) और अवसादन (शिथिलीकरण) तीन अर्थ हैं। शङ्कराचार्य ने भी कठोपनिषद् की भूमिका में उपनिषद् शब्द की निरुक्ति इस प्रकार से की है- **'सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विपप्रत्यायान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः 'आयुर्वै घृतम्' इत्यादिवत्।'**

उपनिषद् शब्द की सभी व्युत्पत्तियाँ इसी अर्थ की बोधक है कि ब्रह्मविद्या तथा मोक्ष, जन्म-मरण अथवा संसार के बन्धन अथवा अज्ञान का उच्छेद करने वाली विद्या का नाम उपनिषद् है। ब्लूमफील्ड के शब्दों में भारतीय चिन्तन का कोई भी रूप ऐसा नहीं, बौद्धधर्म भी नहीं, जो उपनिषदों से निस्सृत न हो।[2] वेदों के समान उपनिषदों के विषय में भी अन्त तक सामान्यतः यही धारणा रही है कि ये मानव-जीवन के गूढ़ रहस्यों के प्रकाशक तथा आत्मिक शान्ति प्रदान करने वाले अद्वितीय ग्रन्थ हैं। इनकी दार्शनिक महत्ता को विभिन्न युगों एवं देशों के मनीषियों ने एकमत से स्वीकार किया है। फलतः अब तक इनका अनुशीलन आध्यात्मिक दृष्टि से ही होता आ रहा है। लेकिन इनके सूक्ष्म अध्ययन से

---

१ ऐतरेय आरण्यक २.२.३

२ Religion of Veda, P. 51

प्रतीत होता है कि उपनिषद्-साहित्य न केवल गम्भीर तथा उदात्त विचारों के कारण ही गौरवान्वित है, अपितु अभिव्यक्ति की कलात्मकता की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

उपनिषदों में यद्यपि प्रभुसम्मित वाक्यों की प्रधानता है, पर देखा जाय तो कान्तासम्मित[३] वाक्यों की भी कमी नहीं। इतना होते हुए भी, इस महान् आर्ष-ग्रन्थों का काव्यगत अध्ययन कहीं इनकी पवित्रता को खण्डित न कर दे अथवा इनके गौरव को किसी प्रकार हानि न पहुँचा दे, सम्भवत: इसलिए काव्य के रूप में इनका अध्ययन उचित नहीं समझा जाता रहा। परन्तु उपनिषदों की रचना शैली बताती है कि ऋषित्व और कवित्व दर्शन तथा काव्य परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरे के पूरक हैं।

वेद ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ईश्वर का काव्य है। ऐसी स्थिति में ईश्वर और उसकी सृष्टि के गूढ़ रहस्य का प्रकाशन करने वाले उपनिषद् काव्यत्व से शून्य कैसे रह सकते हैं। भरतमुनि ने इसी कारण नाट्य के सभी अङ्गों की उत्पत्ति वेदों से ही मानी है-

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।
वेदोपवेदै: सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा ललितात्मक:।।[४]

आचार्य राजशेखर ने भी त्रयी और आन्वीक्षिकी के उपरान्त साहित्य विद्या को पाँचवीं विद्या मानते हुए उसे चारों विद्याओं का निष्यन्द माना है तथा अलङ्कार-शास्त्र को सप्तम वेदाङ्ग भी, क्योंकि इसके बिना वेदार्थ का ज्ञान सम्भव नहीं।

ऋग्वेद के नासदीय सूक्त से स्पष्ट विदित होता है कि दर्शन और काव्य का सङ्गम होता है। इसे शताब्दियों के बाद उपनिषदों के ऋषियों ने देखा और कई प्रयोग किए। काव्य और दर्शन दोनों कल्पना की भूमि पर पनपते हैं। अन्तर यह है कि दर्शन की कल्पना को तर्क की कसौटी पर कसा जाता है, परन्तु काव्य के लिए ऐसी बाध्यता नहीं है। तर्क की भी कोई ऐसी बनी बनाई कसौटी नहीं है, जो सर्वत्र एक-सी ही काम कर सके। राजा जनक को आत्मा का स्वरूप समझाते हुए याज्ञवल्क्य ने कहा—

तस्य वा एतस्य पुरुषस्य द्वे एव स्थाने भवत:। इदं च परलोकस्थानं च। सन्ध्यं तृतीयं स्वप्नस्थानम्। तस्मिन् सन्ध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यतीदं च परलोक स्थानं च।[५]

तथावर्णित इस पुरुष के दो स्थान हैं- इहलोक और परलोक। तीसरा सन्धि स्थान है- स्वप्न। इस सन्धि स्थान के रूप में स्वप्न को जो मान्यता दी गई है क्या इसे तर्क द्वारा

३ काव्यप्रकाश मम्मट १।२
४ ना.शा. १/१७, १८
५ बृहदारण्यकोपनिषद् ४।३।९

प्रमाणित किया जा सकता है? नहीं। तो इसे दर्शन कहा जाए या कविता? दर्शन और काव्य के सन्धि-स्थल पर रचित होने के कारण उपनिषदों को साहित्य की एक नई विधा के रूप में स्वीकृत किया जाना चाहिए।

आत्मा और ब्रह्म का विषय जितना दर्शन का हो सकता है उतना साहित्य का भी तभी परमानन्द की प्राप्ति तथा शिवेतर की क्षति का विषय भी जितना दर्शन का है, उतना काव्य का। दर्शनकार अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए बौद्धिकयुक्तियों का सहारा लेता है, तो साहित्यकार कल्पना एवं मनोवेगों का।

उपनिषदों में प्रकृति-काव्य सहज काव्य है प्रेम काव्य नहीं है अत: इनमें काव्य का सत्य और शिव पक्ष ही प्रबल है। सुन्दर का औपनिषदिक विचारधारा के साथ प्रत्यक्ष सम्बन्ध भी नहीं हैं। उपनिषदों में प्रकृति तथा मानसिक प्रदेश के उदात्त रूप और लोकोत्तर जगत् का सुन्दर एवं विशद वर्णन है, जो इन्हें अनायास ही काव्य की कोटि में सम्मिलित करता है।

अत: वेदों और उपनिषदों के अन्य पक्षों के साथ काव्य के रूप में भी इनका अध्ययन, इनमें निहित विचारों की पूर्णत: अधिगति के लिए नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत शोध पत्र इसी दृष्टिकोण से कठोपनिषद् एवं ईशावास्योपनिषद् में वर्णित काव्य के विभिन्न प्रस्तुत तत्त्वों रस, ध्वनि, गुण, अलङ्कार इत्यादि पर प्रकाश डाला गया है।

काव्य का प्रभाव सीधा हृदय पर भिन्न-भिन्न रूप से पड़ता है। यही कारण है कि काव्य का लक्षण परिभाषित करते समय आचार्यों में न केवल मतभेद रहा, अपितु उस मतभेद के आधार पर काव्य शास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों का भी जन्म हुआ है। रस, औचित्य, अलङ्कार, गुण, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्त वास्तव में आचार्यों के ऐसे दृष्टिकोण हैं, जिनके द्वारा उन्होंने काव्य के सभी अनुभूति तत्त्व और अभिव्यक्ति तत्त्व को उद्घाटित किया है। ध्यातव्य है कि आचार्य मम्मट ने **'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि'**[६] कहकर शब्द तथा अर्थ अर्थात् अभिव्यक्ति तथा अनुभूति दोनों का महत्त्वपूर्ण समझा है।

१. अलङ्कार – १.१ अनुप्रास – आचार्य मम्मट ने अनुप्रास को लक्षण करते हुए लिखा है- सूत्र १०३- वर्णसाम्यमनुप्रास:।[७] वर्णों की समानता अनुप्रास है।

इसके दो भेद हैं- छेकानुप्रास और वृत्यानुप्रास

छेकानुप्रास – सोऽनेकस्य सकृत्पूर्व। अनेक वर्णों का एक बार आवृत्ति होकर छेकानुप्रास कहलाते हैं। उदाहरण – अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।

१. सस्यमिव मर्त्य: पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुन:।। कठ - १/६

२. त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।

६ काव्य प्रकाश

७ काव्यप्रकाश ९।१०३

ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति।। कठ – १/१७

वृत्यनुप्रास– एकस्याप्यसकृत्पर:। एक वर्ण का भी अनेक बार आवृत्ति पर वृत्यनुप्रास: कहलाता है।

१. इमा:रामा: सरथा: सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यै:।
आभिर्मत्प्रत्ताभि: परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मामानुप्राक्षी:।। कठ – १/२५

२. यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानत:।
तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:।। ईश–७

३. अन्धंतम: प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता:।। ईश–१२

१.२ यमक– आचार्य मम्मट ने यमक का लक्षण दिया है **अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुन: श्रुति: यमकम्** अर्थात् अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की उसी क्रम से पुन: श्रवण (पुनरावृत्ति) होने पर यमक (नामक शब्दालंकार कहलाता) है।

यथा– विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते।।

ईश–११

इस मन्त्र में विद्याम्, विद्याम् दो पदों की आवृत्ति है, किन्तु प्रथम विद्याम् पद सार्थक तथा द्वितीय विद्याम् पद अकार के बिना निरर्थक होने से सार्थक और निरर्थक पदों का यमक है। इसी प्रकार द्वितीय पद विद्यया विद्यया की आवृत्ति में प्रथम पद निरर्थक तथा द्वितीय सार्थक होने से यमकालंकार है।

तदेतदिति मन्यन्ते निर्देश्यं परमं सुखम्।
कथं नु तद्विजानीयां किमु भाति विभाति वा।।

कठ २/१४

यहाँ भाँति–भाँति में सार्थक और निरर्थक वर्णों की आवृत्ति होने ये यमकालङ्कार है।

१.३ उपमा–आचार्य मम्मट ने उपमा का लक्षण दिया है।

साधर्म्यमुपमा भेदे।[८] पूर्णा लुप्ता च

उपमान तथा उपमेय का भेद होने पर (उनके) साधर्म्य का वर्णन उपमा कहलाता है। वह उपमा पूर्णोपमा और लुप्तोपमा दो प्रकार की होती है।

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे:।।

कठ. ३/६

इस मन्त्र में ऋषि ने विज्ञानवान् व्यक्ति की संयत इन्द्रियों की तुलना सारथि के

८ काव्यप्रकाश १०।१२५

वशीकृत घोड़ों से की है। यहाँ इन्द्रियाणि उपमेय सदश्वा उपमान, इव वाचक शब्द तथा वश्यानि साधारण धर्म है। उपमा को चारों घटकों का स्पष्ट उल्लेख होने से यहाँ पूर्णोपमा है।

यहाँ उपमा का प्रयोग किसी आलङ्कारिक कवि के समान श्रमसाध्य न होकर अत्यन्त सरल रूप में हुआ है। औपनिषदिक कवियों, में रथ, घोड़े, लगाम, सारथि आदि जीवन में प्रतिदिन दृष्टिगोचर होने वाले एवं प्राय: अनुभूत तथा प्रयुक्त भौतिक पदार्थों के माध्यम से आध्यात्मिक विषयों को स्पष्ट करने की प्रवृत्ति अनेक पाई जाती है।

पूर्णोपमा – जहाँ उपमेय, उपमान, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म सभी वाच्य हो, वहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार होती है। यथा–

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तो मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः।।

कठ. – ३/६

इस मन्त्र में ऋषि ने विज्ञानवान् व्यक्ति की इन्द्रियों की तुलना दुष्ट घोड़ों से की है। उपमेय, उपमान, वाचक शब्द तथा साधारण धर्म का प्रयोग होने से यहाँ पूर्णोपमा अलङ्कार है।

अधोलिखित मन्त्र में कृषक जीवन में सामान्यत: उपलब्ध उपमान के द्वारा कर्मवश जन्म और मृत्यु के नियम को कवि ने स्पष्ट किया है। यहाँ मर्त्य, उपमेय, सस्य उपमान, इव उपमा वाचक पद तथा पच्यते, आजायते (नाश और उत्पत्ति) साधारण धर्म है।

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः।।

कठ. १/६

लुप्तोपमा– उपमेय, उपमान, साधारण धर्म एवं वाचक शब्द में से किसी एक का दो का या तीन का उल्लेख न होने से लुप्तोपमा होती है– आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ एवं अन्य परवर्ती आचार्यों ने लुप्तोपमा के अनेक भेदों का विवेचन किया है।

उदाहरण– **अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।**
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते।। एतद्वै तत्।।

कठ. १/१/१२

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः।। एतद्वै तत्।।

कठ. १/४/१३

इन दोनों मन्त्रों में साधारण धर्मों का उल्लेख न होने के कारण धर्मलुप्तोपमा अलङ्कार है।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायापतौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः।।

कठ. १/३/१

'छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति' में दो तत्त्वों, आत्मा और परमात्मा को छाया और

आतप के समान कहा गया है, किन्तु इस साम्य में न वाचक पद का प्रयोग किया गया है, न ही किसी साधारण धर्म का। उपर्युक्त साम्य के द्वारा कवि ने आत्मा और परमात्मा की स्वस्वरूपात्मक स्थिति को छाया एवं प्रकाश के मिलाप के समान कहकर यह भी व्यञ्जित कर दिया है कि जैसे प्रकाश में छाया का अभाव हो जाता है, वैसे परमात्म ज्ञान युक्त होने पर आत्मा का अभाव नहीं होता।

१.४ रूपक- आचार्य मम्मट के अनुसार-

तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययो:[९] अर्थात्- उपमान और उपमेय का जो अभेद है वह रूपक अलङ्कार है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मन: प्रग्रहमेव च।।

कठ. ३/३

इन्द्रियाणि हयानाहुविषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:।।

कठ. ३/४

उपर्युक्त मन्त्रों में आत्मा पर रथ के स्वामी का, शरीर पर रथ का, बुद्धि पर सारथि का मन पर लगाम का, इन्द्रियों पर घोड़ों का तथा विषयों पर मार्ग का आरोप होने से साङ्गरूपक अलङ्कार है।

१.५ अतिशयोक्ति - आचार्य मम्मट के अनुसार -

सूत्र-१५२- निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्।।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्यय:।
विज्ञेयोऽतिशयोक्ति: सा।[१०]

उदाहरण - प्र ते ब्रवीमी-तदु में निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेत: प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्।।

कठ. १/१४

यहाँ उपमान गुहा ने उपमेय हृदय को निगीर्ण कर लिया है। इस मन्त्र में रूपकाति-शयोक्ति अलङ्कार है।

१.६ दीपक - आचार्य मम्मट के अनुसार

सूत्र-१५५- **सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्।**
सैव क्रियासु वह्नीषु कारकस्येति दीपकम्।।१५

१. जहाँ अप्रस्तुत तथा प्रस्तुत का एक धर्म से सम्बन्ध हो वहाँ दीपक होता है तथा

९ काव्यप्रकाश १०।१३८
१० काव्यप्रकाश १०।१५२

२. जहाँ कारक एक हो और उसका अनेक क्रियाओं के साथ सम्बन्ध हो वहाँ भी दीपक होता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

कठ -२/१८

इस मन्त्र में विपश्चित् इस एक काक जायते म्रिते बभूव, हन्यते इन अनेक क्रियाओं के सांथ सम्बन्ध होने से दीपक अलङ्कार है।

१.७ निदर्शना – आचार्य मम्मट ने लक्षण दिया है-

सूत्र-१४८-निदर्शना।

अभवन् वस्तुसम्बन्ध उपमापरिकल्पकः।।१६

अर्थात् जहाँ वस्तु का (अभवन्) असम्भव या अनुपद्यमान सम्बन्ध (प्रकृत की अप्रकृत के साथ) उपमा का परिकल्पक (उपमा में पर्यवसित) होता है वह निदर्शना नामक अलङ्कार होता है।

उदाहरण –

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया, दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।

कठ. ३/१४

इस मन्त्र में उस्तरे की धारा तथा मार्ग की दुर्गमता का परस्पर सम्बन्ध असम्भव होते हुए भी उनका सादृश्य(सम्बन्ध) बिम्बप्रतिबिम्बभाव से स्थापित किया गया है। जिस प्रकार छुरे की धारा तीक्ष्ण तथा दुस्तर होती है, तत्त्वज्ञानी लोग आत्मज्ञान के मार्ग को वैसा ही दुर्गम बतलाते हैं। अतः यहाँ निदर्शना अलङ्कार है।

२. गुण – वेद और उपनिषद् हमारे साहित्य के पूर्णरूप हैं। उनमें काव्य के अन्य तत्त्वों के समान गुणों की भी विद्यमानता दिखाई देती है, जो इनमें शब्दार्थ धर्म के रूप में मिलते हैं। वैदिक ऋषि सुन्दरता, नीरसता, अस्पष्टता आदि उक्ति के गुण-दोषों से परिचित थे। इन्हें ही परवर्ती आचार्यों ने काव्य शास्त्र के ग्रन्थ लिखते समय गुण-दोष के रूप में प्रतिपादित किया।

वैदिक साहित्य की कोमल वर्ण-योजना, माधुर्य-गुण, विकट वर्ण योजना, ओज गुण तथा पदों की तुरन्त अर्थप्रत्यायकता प्रसादगुण के रूप में अभिहित हुई है।

१ – माधुर्य गुण– आचार्य मम्मट ने माधुर्य के व्यञ्जक वर्णों तथा वृत्तियों का इस प्रकार प्रतिपादन किया है-

सूत्र-९८- **मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।**

अवृत्तिमध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।१७

(अटवर्गाः) ट,ठ,ड,ढ को छोड़कर, (स्पर्शा) क से लेकर म पर्यन्त शिर पर अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से युक्त और (ह्रस्व) से व्यवहित रेफ तथा नकार ये माधुर्य के व्यंजक हैं। एवं अवृत्ति-समास रहित अथवा अल्पवृत्ति-छोटे समासों वाली मधुर रचना भी माधुर्य की व्यंजक होती है।

उदाहरण - **तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।**
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।।

ईश.-५

अशरीरँ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।

कठ.१/२/२२

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।

कठ.२/२/१५

२ ओज-गुण- आचार्य मम्मट ओज गुण का लक्षण देते हुए कहते हैं-

सूत्र-९९ **योग आद्यतृतीयाभ्यासमन्त्ययो रेण तुल्ययोः।**
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि।।[११]

अर्थात्- १. वर्ग के प्रथम तथा तृतीय वर्ण के साथ उनके बाद के अर्थात् द्वितीय और चतुर्थ वर्णों का (२) ऊपर, नीचे अथवा दोनों जगह विद्यमान रेफ के साथ योग और ऊपर, नीचे अथवा दोनों जगह विद्यमान रेफ के साथ योग और (३) तुल्यवर्णों का योग (४) टादि (अ ठ ड ढ) तथा (५) श-ष (६) दीर्घ समास एवं (७) उक्त रचना ओज गुण व्यञ्जक होते हैं।

यथा- ओजगुण की छटा निम्न मन्त्रों में द्रष्टव्य है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञानमात्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।।

कठ. १/३/१३

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।

कठ. २/१/११

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।

११ काव्यप्रकाश ८।३९

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।।

ईश-८

३ प्रसाद गुण- आचार्य मम्मट ने प्रसाद के व्यञ्जक वर्णों तथा रचना का इस प्रकार विवेचन किया है -

सूत्र - १००- **श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।**
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।। १९

जिस (शब्द समास या रचना) के द्वारा श्रवणमात्र से शब्द से अर्थ की प्रतीति हो जाय, वह सब (वर्णों, समासों तथा रचनाओं) में रहने वाला प्रसाद गुण माना जाता है।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः।।

ईश.-७

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।

कठ. - १/३/३

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।।

कठ. - २/२/९

उपर्युक्त मन्त्र में सृष्टिक्रम का वर्णन अत्यन्त सरलता से ग्राह्य शब्दों में किया गया है।

३. रीति - वामन ने संस्कृत-साहित्य शास्त्र में रीति की स्थापना के साथ-साथ उसके स्वरूप का निर्धारण भी किया। उन्होंने सर्वप्रथम रीति को काव्य की आत्मा कहकर उसके महत्त्व को स्थापित किया। उनके मत में विशिष्ट पद रचना रीति है। अतः गुण रीति का मुख्य आधार हैं। ये रीतियाँ तीन है- (अ) वैदर्भी, (ब) गौड़ी और (स) पाञ्चाली।

गुण रीति के निष्पादक हैं, उसके अङ्ग हैं तथा रीति अङ्गी है। रीति एक पद्धति है और वह कवि के रचना-प्रकार को व्यक्त करती है। परन्तु गुण अपने में अलग-अलग इकाई हैं।

१ वैदर्भी रीति -

१. **उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।**
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति।।

कठ. १/३/१४

२. **स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।**
उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके।।

कठ. १/१/१२

२ गौड़ी रीति –

परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्।।

कठ. २/१/११

३. पाञ्चाली रीति–

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकाँस्तान्स गच्छति ता ददत्।।

कठ. १/१/३

४. ध्वनि – काव्य-विशेष के लिए ध्वनि के व्यपदेश का श्रीगणेश आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में किया तथा 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' कहकर उसे काव्य का परमतत्त्व घोषित किया। ध्वनि के प्राण प्रतीयमानार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं–

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु।।[१२]

यह प्रतीयमान अर्थ जब काव्य में प्रधानरूप से अवस्थित होता है, तब उसे ध्वनि कहते हैं। ध्वनि सिद्धान्त के संस्थापक आनन्दवर्धन ने ध्वनि का लक्षण किया है। –

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यक्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः।।

ध्वन्यालोक – १/१३

जहाँ शब्द अपने वाच्यार्थ को तथा वाच्यार्थ अपने आपको गौण करके व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं, उस काव्य विशेष को ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि के दो प्रमुख भेद हैं–

१. अविवक्षितवाच्य ध्वनि जिसे लक्षणामूलक ध्वनि भी कहते हैं– इसके दो भेद है– (क) असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य, (ख) संलक्ष्यक्रमव्यंग्य

यथा–

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः लप्स्यामहे वित्तमदाक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव।।

कठ. – १/१/२७

यहाँ जीविष्यामों यावदीशिष्यसि त्वम् में प्रयुक्त 'त्वम्' पद न केवल सामने बैठे यमराज को सङ्केतित कर रहा है अपितु सम्पूर्ण विश्व पर एकमात्र अकण्टक राज्य करने

१२ ध्वन्यालोक १।४

वाले यमराज को द्योतित कर रहा है। अत: यहाँ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि है।

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता:।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना:।।

ईश. -३

इस मन्त्र में 'अन्धेन' और 'आत्महन' पदों में लक्षणा है। 'अन्धेन' का मुख्यार्थ है 'चक्षुरहित' और 'आत्महन' का 'आत्मा का नाशक'। पर यहाँ 'अन्धेन' पद 'तमस्' का विशेषण है। 'तम: चक्षुरहित नहीं हो सकता, एवम् 'आत्मा' का विनाश नहीं किया जा सकता। इस प्रकार मुख्यार्थ का बाध होने से यहाँ दोनों ही पदों ने वाक्यार्थ की सिद्धि के लिए अपने-अपने अर्थों को क्रमश: -'अज्ञान' या 'अदर्शन' एवं 'अज्ञानी' कर दिया। अपने अर्थ का सर्वथा त्याग करने से यहाँ अत्यन्तिरस्कृतवाच्य ध्वनि है।

५. रस- रस के अन्तर्गत न केवल शृंगार, करुण और वीर आदि रसों का ही समावेश है, अपितु रस शब्द से भाव, रसाभास, भावाभास, भावोदय, भावसन्धि, भावशान्ति, भावशबलता का भी ग्रहण होता है-

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धि: शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद् रसा:।।[१३]

रसों की संख्या के विषय में आचार्यों में मतभेद है। भतरमुनि के आठ रस स्वीकार किए हैं-

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका:।
वीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा: स्मृता:।।

आचार्य मम्मट ने—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रस:।

कहकर नवम शान्तरस भी स्वीकार किया है।

उपनिषदों का विषय ब्रह्मज्ञान तथा मोक्ष है। अत: इसमें प्रमुख रूप से शान्त रस है। परन्तु ब्रह्म की अज्ञेयता, सर्वव्यापिता, शक्तिमत्ता, विलक्षणता, सर्वनियन्त्रित्व आदि के विचित्र रूप से प्रतिपादन के कारण उपनिषदों में अद्भुत रस भी आ गया है।

साहित्यशास्त्रियों के रस की दृष्टि से उपनिषदों में शान्तरस का विश्लेषण नहीं किया जा सकता, पर मोक्ष विषयक तथा आत्मविषयक विवेचन होने के कारण उपनिषदों में शान्त रस की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

कठोपनिषद् के ऋषि ने यम और नचिकेता के संवाद से संसार की अनित्यता तथा ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता का चित्रण किया है। नचिकेता के ये वचन उद्दीपन विभाव के

---

१३ साहित्यदर्पण ३।२५९

रूप में कितने उपयुक्त हैं-

श्वो भावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।।

कठ. -१/२६

यमराज नचिकेता के बार-बार प्रलोभन देता हुआ कहता है -

शतायुषः पुत्रपौत्रान् वृणीष्व बहून्-पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि।।
ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामांश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।

कठ. १/१/२३, २५

परन्तु नचिकेता पर उसके इस प्रलोभन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि वह जानता है कि ये सभी पदार्थ नश्वर हैं। वह कहता है-

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत।।

कठ. १/१/२८

नचिकेता तो अपने तृतीय वर पर ही दृढ़ है कि उसे मृत्यु का रहस्य ज्ञात हो और शाश्वत ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो।

इस प्रकार यहाँ सांसारिक पदार्थों की क्षणभङ्गुरता के ज्ञान से उत्पन्न निर्वेद भाव की परिपुष्टि होने के कारण शान्त रस है। नचिकेता की तृष्णा का क्षय हो गया है। उसमें शम का प्रादुर्भाव हो गया है। वह ब्रह्मानुभूति तथा मोक्ष का अधिकारी है। अतः यमराज उसे मृत्यु का रहस्य समझाता है। यह सम्पूर्ण प्रसङ्ग शान्त रस का ही उपयुक्त उदाहरण प्रतीत होता है।

उपनिषदों के ऋषि वास्तविक कवि थे। वे लक्षण-ग्रन्थों के अभाव में भी ब्रह्मज्ञान के आनन्द में, सुन्दर काव्य-रचना कर गए। प्लेटो ने भी कहा है कि 'सभी धार्मिक तथा आध्यात्मिक काव्यों का मूल 'उन्मादक दैवी-उत्प्रेरणा' है। इन महान् काव्यों के रचयिताओं ने काव्यरचना में उत्कर्ष किसी कला के नियमों का पालन करके प्राप्त नहीं किया था, अपितु आनन्दमय ईश्वरीय ज्ञान की चेतनावस्था में मधुर गीत गाए थे।'

अतः सत्य ही कहा गया है - **'वेदोऽखिलो काव्यमूलम्'**।

ब्रह्मसूत्रेषु चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म

डॉ. एन.आर. श्रीधरन
सहायक प्रोफेसर, नया राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
मानित विश्वविद्यालय, (गुरुवयार केम्पस)
पुनराटुकरा, त्रिश्शुर, केरला

'शारीरकमीमांसा' इति वेदान्तशास्त्रस्य नामान्तरमस्ति। शारीरकशब्दो हि परमात्मपरः। तद्विषयविचाररूपत्वेन अस्य निबन्धस्य तथात्वव्यवहारः। 'जगत्सर्वं शरीरं ते' इति सर्वस्यापि परमात्मशरीरत्वात् शारीरः परमात्मा। 'तस्यैष ह वा शारीर आत्मा' इति श्रुत्या परमात्मनः शारीरत्वोक्तेः तदुपरि कप्रत्ययः। यद्वा शारीरं परमात्मानं प्रतिपादयतीति शारीरकं वेदान्तशास्त्रम्। किञ्च 'संहितमेतत् शारीरकं जैमिनीयेन' इति भगवद्बोधायन-कृतवृत्तावपि इदं स्पष्टम्। अतः शारीरकशब्दः ब्रह्मप्रतिपादक वेदान्तशास्त्रपरः। तादृशशास्त्रविचाररूपं सूत्रनिबन्धतात्मकं भगवद्बादरायणमहर्षिप्रणीत 'शारीरकमीमांसा शब्देन व्यवह्रियते।'

अस्य भगवद्बादरायणमहर्षिविरचितस्य शारीरकमीमांसासूत्रस्य श्री भगवद्रामानुज-मुनिभिः कृतं श्रीभाष्यं सुप्रसिद्धं वर्तते। तत्र चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म इति प्रतिपादितं च। अतः श्रीभगवद्रामानुजमतं विशिष्टाद्वैतम् इति लोके व्यवहारो वरीवर्त्ति। अर्थात् स्थूलसूक्ष्म-चिदचिद्विशिष्टं ब्रह्म इति। तदिदं तत्त्वत्रं श्रीभगवद्रामानुजमुनिसिद्धान्ते श्रीभगवद्बादरायण-महर्षिप्रणीतब्रह्मसूत्रप्रमाणपुरस्सरम् अङ्गीकृतं वर्तते। तथाहि –

विशिष्टाद्वैतसिद्धान्ते चित् अचित् ईश्वरश्चेति त्रीणि तत्त्वानि अङ्गीक्रियन्ते। ईश्वरस्य चिदचिद्भ्यां सह शरीरात्मभावाख्यः सम्बन्धोऽस्ति। ईश्वरः श्रीमन्नारायण एव। श्रीमन्नारायण एव परतत्त्वम् श्रीमन्नारायणप्राप्तिरेव मोक्षश्च भवति। अपि च अस्मिन् विषये भेदश्रुतयः अभेदश्रुतयः घटकश्रुतयश्च प्रमाणानि भवन्ति।

।। चित्।।

चित् इति शब्दवाच्यःज्ञानवान् जीवात्मा भवति। सः जीवात्मा ज्ञानस्वरूपः-ज्ञानगुणकश्च अर्थात् धर्मिभूतज्ञानं जीवात्मा इति, ज्ञानाख्यः गुणः धर्मभूतज्ञानम् इति च

व्यवह्रियते। जीवात्मा नित्यः अणुस्वरूपः प्रतिशरीरं भिन्नश्च। सः जीवात्मा त्रिविधःबद्धः मुक्तः नित्यश्चेति। धर्मभूतज्ञानमपि नित्यम्। परन्तु धर्मिभूतज्ञानरूपस्य जीवस्य संसारदशायां (जीवनिष्ठस्य) धर्मभूतज्ञानस्य सङ्कोचः मोक्षदशायां विकासश्च संभवति। इमे विषयाः ब्रह्मसूत्रेषु सूक्ष्मतया स्पष्टतया च निर्दिष्टाः प्रतिपाद्यन्ते –

जीवात्मा ज्ञानगुणकः इति 'ज्ञोऽत एव' (ब्रह्मसूत्रम् २.१-३-१९) इति । श्रुतिषु 'विज्ञाता, बौद्धा' इत्यादिपदैः जीवात्मानिर्देशात् जीवात्मा ज्ञानगुणकः इति सिद्ध्यति। जीवात्मा ज्ञानगुणकश्चेत् 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' इति श्रुतिवाक्ये 'विज्ञान' शब्देन जीवनिर्देशः कथं कर्तुं शक्यते ? इति प्रश्नस्य त्रिविधं समाधानमुक्तमस्ति सूत्रकारेण– (१) यथा प्राज्ञस्य परमात्मनः आनन्दाख्यः गुणः सारन्नुतः, अत एव 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' इति श्रुतिवाक्ये आनन्दशब्दे ब्रह्मनिर्देशःक्रियते तथा जीवात्मनः(धर्मभूत) ज्ञानं गुणः अतः ज्ञानशब्देन जीवनिर्देशः क्रियते इति। (२) जीवात्मस्वरूपस्थितिपर्यन्तं तस्य (जीवात्मनः धर्मभूत) ज्ञानाख्यगुणः विद्यते इति ज्ञानशब्देन जीव व्यवहारः युक्त इति। (३) जीवात्मा ज्ञानस्वरूपः अतः (धर्मिभूत) ज्ञानपदव्यवहारभाक् भवति इति च त्रिविध समाधानम्।

'तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यलपदेशः प्राज्ञवत्' (ब्रह्मसूत्रम् २-३-२९)

'यावदात्मभावित्वाच्च न दोषः तद्दर्शनात्' (ब्रह्मसूत्रम् २-३-३०) इति सूत्रद्वयमत्रानुसन्धेयम्। सूत्रस्थेन च शब्देन तृतीयः प्रकारः (अर्थात् तृतीयं समाधानम्) कथ्यते इति श्रीभाष्यकाराः।

न जायते म्रियते वा विपश्चित् (= जीवात्मा), 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् एको बहूनां यो विदधाति कामान्' नित्यानां बहूनां चेतनानां कामान् एकः नित्यः चेतनः यः (=ईश्वरः) विदधाति इत्यन्वयः) इत्यादिश्रुतिवाक्यप्रमाणमाधारीकृत्य जीवात्मनः उत्पत्तिः नाशश्च नास्ति इति 'नात्मा श्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः' इति सूत्रेण कथयति श्रीबादरायणमहर्षिः।

जीवस्य धर्मभूतज्ञानं नित्यम् इति 'यावदात्मभावित्वाच्च' इति सूत्रेण वदति। जीवात्मरूपस्थितिपर्यन्तं तस्य (जीवात्मनः धर्मभूत) ज्ञानं वर्तते इत्युक्त्या धर्म भूतज्ञानं नित्यम् वात्मनः धर्मभूत) ज्ञानं वर्तते इत्युक्त्या धर्मभूतज्ञानं नित्यम् इति सिद्ध्यति, अर्थात् 'नित्यत्वाच्च' (ब्रह्मसूत्रम् २-३-१८) इत्यादिना जीवात्मा नित्य इति सूत्रकारः पूर्वमुक्त्वा तस्य जीवात्मनः (धर्मभूत) ज्ञानं यावदात्मभावि इति 'यावदात्मभावित्वाच्च' इत्यादिना कथनात् धर्मभूतज्ञानं नित्यम् इति सूत्राकाराभिप्रायः।

तस्य (जीवात्मनः) धर्मभूतज्ञानस्य सङ्कोचविकासौ वर्तेते इति 'संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्' (ब्रह्मसूत्रम् ४-४-१) इति सूत्रे प्रतिपादितमस्ति। जीवः अर्चिरादिमार्गेण परमात्मानं संप्राप्य ततः परं जीवस्य (स्थितिः) स्वरूपाविर्भावः अर्थात् ज्ञानानन्दादि-

गुणानामभिव्यक्तिः इति सूत्रार्थः। अत्र श्रीभाष्यकाराः ज्ञानानन्दादिगुणाः जीवात्मनः संसारदशायां सङ्कुचिता आसन्। परमात्मप्राप्त्यनन्तरं ज्ञानं सङ्कोचकारणीभूतकर्मविधूननात् ज्ञानविकासः जायते अयमेव 'आविर्भावः' इति वदन्ति। एतदुपोद्बलकतया 'पुंस्त्वादिवत्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात्' (ब्रह्मसूत्रम् २-३-३१) इति सूत्रमपि उक्तमस्ति।

जीवात्मा अणुस्वरूपः इति ''उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्'' (ब्रह्मसूत्रम् २-३-२०) इति सूत्रेण निर्धार्यते अर्थात् उत्क्रान्तिः = उत्थितिः, गतिः = गमनम् आगतिः = आगमनम् इत्यादिस्तु जीवात्मनः विभुत्वे न संङ्गच्छते अतः जीवात्मा अणुस्वरूपः इति।

'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेत् न इतराधिकारात्' (ब्रह्मसूत्रम् २-३-२१) इति। अस्य सूत्रस्य अयं भावः = ननु जीवात्मा न अणुः 'स वा एष महानज आत्मा' इति श्रुत्या जीवस्य महत्त्वप्रतिपादनात् इति चेत् 'न सा श्रुतिः परमात्मविषयकप्रकरणे वर्तते, अतः परमात्मा महान् न जीवः इत्यर्थः' इति।

'एषोऽणुरात्मा' इति श्रुतौ अणुशब्देन जीवनिर्देशःक्रियते। अणु सदृशं वस्तूद्धृत्य तन्मानत्वं जीवस्य श्रूयते। अतः जीवः अणुस्वरूपः इति। तदिदं 'स्वशब्दोन्मानाभ्यां च' (ब्रह्मसूत्रम् २-३-२३) इति सूत्रेणापि सिद्धान्तितम्।

जीवात्मनां नानात्वं तावत् - 'वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति' (ब्रह्मसूत्रम् २-१-३४) इति सूत्रेण निर्दिष्टमस्ति। तथाहि-ईश्वरस्य जगत्कारणत्वाङ्गीकारे ईश्वरः कांश्चन जीवन उत्तमत्वेन कांश्चन जीवान् अधमत्वेन च सृजति। अतः पक्षपाताख्यदोषः दुःखानुभवकल्पनात् निर्दयत्वाख्यदोषश्च ईश्वरस्य संभवतीति न शङ्कनीयम्। जीवात्मनां पुण्यपापाख्यकर्मानुसृत्य ईश्वरः तथा सृजति, अर्थात् पुण्यात्मानः, उत्तमासुखानुभवशालिनश्च, एवं पापात्मानः अधमाः दुःखानुभवशालिनश्च भवन्ति इति तु श्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणानुसारेण कथयति सूत्रकारः। अतः जीवात्मनां नानात्वं सिद्ध्यति।

''कर्त्ता शास्त्रार्थवत्वात् (ब्रह्मसूत्रम् २-३-३३) इति सूत्रेण शास्त्रोक्तकर्मफलभोक्तारः जीवाः अतः कर्मकर्त्तारः जीवाः इत्यपि सिद्ध्यति इति।

।।अचित्।।

तद् अर्थात् ज्ञानहीना प्रकृतिः, प्रकृतिपरिणामरूपत्रयोविंशतितत्वानि, तेभ्यः तत्वेभ्यः उत्पन्नः लोकदृश्य अचित इत्युच्यते। अचितां (परमात्मना सृज्यमानत्वात्) सत्यत्वं परमात्माधीनत्वं च वर्तते इति विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः। तदिदं सूत्रकारः 'तदधीनत्वादर्थवत् (ब्रह्मसूत्रम् १-३-४) इति भावः। तत्र श्री भाष्यकाराः-प्रकृतिः तत्परिणामश्च नास्तीति न वयं वदामः। ते परमात्मनः शरीरभूताः अतः परमात्मात्मकाः। साङ्ख्यवत् अब्रह्मात्मकप्रकृत्यादिः नास्तीत्येव तात्पर्यम्' इति।

अपि च 'नाभाव उपलब्धेः' (ब्रह्मसूत्रम् २-२-२७) इति सूत्रे प्रत्यक्षतया दृश्यमानप्रपञ्चस्य निषेधः अयुक्तः अतः अचेतनरूपप्रपञ्चः सत्यः इत्येव सूत्रकाराभिप्रायः। अत्र उपोद्बलकतया ज्योतिरूपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके (ब्रह्मसूत्रम् १-४-९) इति सूत्रमपि द्रष्टव्यम्।

।। ईश्वरः।।

सर्वेषां वस्तूनां ज्योतिर्भूतः सर्वजगन्नियन्ता सर्वकर्मसमाराध्यः सर्वकर्मफलप्रदः अनन्तकल्याणगुणगणनिधिः श्रीमन्नारायण एव ईश्वरः। अपि च सः ईश्वरः दिव्यमङ्गल-विग्रहवान् मत्स्य कूर्मादिनानाऽवतारवान् अपहतपाप्मा प्रपञ्चस्य उपादान-कारणभूतः निमित्तकारणभूतश्च इति विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तः। अस्य सिद्धान्तस्य सूत्रकाराभिमतत्वं कथमिति विव्रियते-

अन्तर्याम्यधिकरणे सूत्रकारः अन्तर्यामिब्राह्मणस्थवाक्यं प्रमाणं प्रदर्श्य चेतना-चेतनरूपसर्वजगच्छरीरकःअथ च तदन्तर्यामी सन् जगन्नियमनं करोति परमात्मा इति स्पष्टं वदति।

फलाधिकरणे, 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्रम् ३-२-३८) इति सूत्रे 'पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात्' (ब्रह्मसूत्रम् ३-२-४१) इति सूत्रं च सर्वकर्मसमाराध्यः सर्वकर्मफलप्रदश्च सर्वेश्वर एवेति प्रतिपादयति सूत्रकारः।

उभयलिङ्गाधिकरणे, परमात्मनः अपहतपाप्मत्वं अनन्तकल्याणगुणवत्त्वेति लक्षणद्वयमस्तीति निर्गुणब्रह्मवादनिरसनं कृत्वा सगुणब्रह्मवादं स्थापति सूत्रकारः।

अपि च सर्वत्रप्रसिद्ध्यधिकरणे, 'विवक्षितगुणोपपत्तेश्च' (ब्रह्मसूत्रम् १-२-२) इति सूत्रे शाण्डिलविद्योक्तपरमात्मगुणाः सर्वेपि विवक्षिताः अर्थात् श्रुतिविवक्षित इति कथनात् श्रुतीनां परमात्मगुणकथने तात्पर्यमस्तीति प्रतिपादयति। किञ्च आदरादलोपः (ब्रह्मसूत्रम् ३-३-४०) इति सूत्रं-श्रुतिषु भगवद्गुणाः आदरेण कथ्यन्ते अतः भगवतः गुणाः न सन्तीति कथनमयुक्तमिति वदति।

अपि च 'आकाशस्तल्लिङ्गात्' (ब्रह्मसूत्रम् १-१-२३), 'अन्तस्तद्धर्मोपदेशात्' (ब्रह्मसूत्रम् १-१-२१), इत्यादिषु बहुषु सूत्रेषु, 'चिदचिद्भिन्नं ब्रह्म' इति स्थापनार्थं चेतनाचेतनेषु अविद्यमानगुणात् स्वभावांश्च हेतुत्वेन कथनात्, ब्रह्म अनन्तकल्याण-गुणसहितम् इत्येव सूत्रकाराभिप्रायः। अपि च परमात्मा दिव्यमङ्गलविग्रहवान् इति अन्तरधिकरणे सुदृढं वदति सूत्रकारः। तथाहि - 'य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुः हिरणकेशः आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः- तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीक मेवमक्षिणी इति छान्दोग्योपनिषद्विषयवाक्यं भवति। नीलमेघश्यामल भगवन्तं नारायणम्

उद्दिश्य 'हिरण्मयः' इति कलनात् भगवत्याः महालक्ष्म्याः सम्बन्धोऽपि वर्तते इति। अर्थात् 'हिरण्यवर्णां हरिणीम्' इत्यादिश्रुत्या भगवत्याः महालक्ष्म्याः वर्णः हरिण्यवर्णः इति ज्ञायते। अतः भगवत्याः तेजस्सम्बन्धेन भगवतः अति हरिण्मयत्वम् उपपद्यते। तथाच श्रीमन्नारायणः सूत्रकाराभिप्रेत इति।

प्रपञ्चस्य उपादानकारणं निमित्तकारणञ्च ब्रह्मैव इति 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्' (ब्रह्मसूत्रम् १-४-२३) इत्यादि सूत्रैः निष्कर्षं करोति।

उपनिषत्सु विद्यमानानि 'परब्रह्म', 'परमात्मा' इत्यादिपदानि श्रीमन्नारायणमेव निर्दिशन्ति इति 'लिङ्गभूयस्त्वात् तद्धि बलीयस्तदपि' (ब्रह्मसूत्रम् ३-३-४४) इति सूत्रेण सिद्धान्तयति।

अपि च वैश्वानराधिकरणे 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि' इति विषयवाक्ये 'वैश्वानर' पदं परमात्मानमेव निर्दिशति इति बहुभिः हेतुभिः उपपाद्य 'पुरुषमपि चैनमधीयते' (ब्रह्मसूत्रम् १-२-२७) इति सूत्रखण्डे 'स एषोऽग्निर्वै नर' इति वैश्वानरमुद्दिश्य पुरुष इति पदं परमात्मानं निर्दिशति इत्यभिप्रेत्य तथा उक्तम्। पुरुष इति पदं विष्णुमेव अर्थात् नारायणमेव निर्दिशति इति सर्वैरपि अङ्गीकृतम्। अनेन नारायण एव 'परमात्मा', 'परमतत्त्वम्' च इति सूत्रकार अभिप्रैति इति सङ्ग्रहः।

श्री अरविन्द का गीता दर्शन

डॉ. (श्रीमती) अल्का थानवी

श्रीमद्भगवद् गीता परमात्म स्वरूप श्री कृष्ण के मुखारविन्द से निःसृत ऐसा दिव्यामृत है जिसका प्रत्येक शब्द अपने अन्दर अत्यन्त गूढ़ रहस्य को समेटे हुए है। यही कारण है कि पूर्व में भी कई विद्वानों द्वारा इस ग्रन्थ की धार्मिक, दार्शनिक, यौगिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या की जा चुकी है। परन्तु योगिराज श्री अरविन्द का गीता के साथ अद्वितीय संबंध है। सन् 1908-09 में जब वे अलीपुर जेल में थे, तब उनको एक विशेष अनुभव प्राप्त हुआ जिसकी चर्चा उन्होंने उत्तरपाड़ा के भाषण में इस प्रकार की - ''भगवान् ने मेरे हाथों में गीता रख दी। उनकी शक्ति ने मेरे भीतर प्रवेश किया और मैं गीता की साधना कर पाया। मुझे केवल बुद्धि से कुछ समझना मात्र नहीं था, बल्कि भगवान् के आदेश को सत्यशः चरितार्थ करना था, राग-द्वेष से रहित होना था, निष्काम होकर सङ्कल्पशून्य होकर, समत्व में स्थित होकर भागवत् कार्य के लिये उनका निमित्त बनना था।'' श्री अरविन्द के जीवन में घटित इस घटना ने उनके जीवन के दृष्टिकोण को ही बदल दिया उन्हें सजीव और निर्जीव सभी में श्री कृष्ण ही दिखायी देते थे। इसी प्रसङ्ग में श्रीमद्भगवद्-गीता का यह कथन द्रष्टव्य है:-

'वासुदेवः सर्वमिदं स महात्मा सुदुर्लभः।' वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ होता है जिसके लिए यह सब कुछ वासुदेव ही है।

सर्वप्रथम गीता प्रबन्ध में श्री अरविन्द, गीता के आध्यात्मिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहते है कि— गीता में तीन बातें आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है श्री गुरु कृष्ण का भागवत् व्यक्तित्व, उनका अपने शिष्य के साथ विशेष सम्बन्ध तथा उनके उपदेश का प्रसङ्ग जो कि उनके परम शिष्य सखा अर्जुन की समस्या से प्रारम्भ होता है। धर्म क्षेत्र है कुरुक्षेत्र, जहाँ पाण्डवों और कौरवों की सेनाएँ परस्पर युद्ध के लिए उद्यत हो रही हैं। अर्जुन के कहने पर उसके साथी श्री कृष्ण उनके रथ को दोनों सेनाओं के बीच ले जाकर खड़ा कर देते हैं। अर्जुन दोनों पक्षों में अपने ही बन्धु-बान्धवों को देखता है तो वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता है। अगर वह युद्ध क़रता है तो कुल घातक बनता है और अगर नहीं करता है तो क्षत्रियोचित मार्ग से पतित होता है। इस परिस्थिति के परिणामस्वरूप अर्जुन तमोगुण से पूरी तरह आवृत्त हो गया और वह आश्चर्य, शोक, भय, निरुत्साह, विषाद, मन की व्याकुलता

और अपने ही तर्कों के परस्पर संग्राम में व्यथित होकर अज्ञान एवं जड़ता में डूब गया। इस 'कार्पण्य' और 'विषाद' की दशा में विमोहित चित्त होकर श्री कृष्ण के प्रति आत्म समर्पण कर दिया।'' श्री अरविन्द अर्जुन और श्री कृष्ण के साहचर्य को विशेष मानते हुए कहते हैं कि 'अर्जुन' है, 'मानव शिष्य' और 'श्री कृष्ण' 'दिव्य गुरु'। अर्जुन की समस्त समस्या व्यक्तिगत प्रतीत होती है किन्तु गहराई से देखने पर यह शोक, भय, अशुभ, अधर्म की समस्या है। इस समस्या के निवारण के लिए मानव चेतना का परिवर्तन और विकास आवश्यक है। चेतना के विकास के लिए मनुष्य को वीर, साहसी, संयमी और दूसरे शब्दों में पुरुषव्याघ्र बनना होगा। मनुष्य के जीवन में एक व्यापक संघर्ष है और उस संघर्ष में उसके हृदय में स्थित भगवान् ही उसके जीवन का सम्पादन कर रहे हैं, वही हमारे जीवन के नायक हैं इसलिये मनुष्य-मात्र को अपने जीवन की बागडोर उन्हीं को सौंप देनी चाहिए इसलिये अर्जुन भी जब कुरुक्षेत्र के संघर्ष में पूरी तरह से हताश हो गया तो श्री कृष्ण को उसने अपने आपको श्री कृष्ण के प्रति समर्पित कर दिया और अपने आगे के मार्गदर्शन के लिए उनसे निवेदन किया श्री कृष्ण ने उसे जो उत्तर दिया वह था एक बड़ी फटकार। अर्जुन की दुर्बलता और उसके मन में उत्पन्न दया उन्नत आर्य पुरुषों का मार्ग नहीं है, क्योंकि उसे एक काम सौंपा गया है, उसके समीप उसके रथ पर स्वयं भगवान् विराजमान हैं और उसके सामने भगवान् के नेतृत्व के विरोधी लोग खड़े हैं। उसे यह अधिकार नहीं कि वह अपने भावावेगों और आवेशों के अनुसार कर्म और अकर्म का निर्णय करे। उसका अधिकार बस अपने ''कर्त्तव्य कर्म'' को देखने का है। उसे चाहिये कि केवल भगवान् के उस आदेश को सुने जो उसे क्षात्र स्वभाव में से होकर दिया जा रहा है और यही अनुभव करे कि जगत् और मानव जाति का भवितव्य उसे अपना देव प्रेषित मनुष्य जानकर इसलिये पुकार रहा है कि वह जगत् और मानव जाति के आगे बढने में सहायक हो और अंधकार के पक्षधर मार्ग में अवरोध उपस्थित करने वाली शत्रु सेनाओं को मार भगाये। अतः श्री गुरु कृष्ण द्वितीय अध्याय में उसे वीरोचित कर्म करने हेतु प्रेरित करते हैं-

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोतिष्ठ परन्तप।।

अर्जुन की धार्मिक तथा नैतिक समस्या का समाधान केवल वीरभाव जगाने से नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त उसकी एक और भी समस्या है, मृत्यु और शोक की समस्या। श्री कृष्ण तो अर्जुन की समस्त समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं इसलिये श्री कृष्ण, अर्जुन में वीर भाव जगाकर उन्हें देह और देही की वास्तविक स्थिति से परिचित करवाते हैं। यहाँ देह-देही विवेक में जगने और देही भाव में प्रबुद्ध होने का जो सन्देश श्री कृष्ण ने दिया उसके सन्दर्भ में श्री अरविन्द कहते हैं— 'सत्य तो एकमात्र यही है और

इसी में हमें रहना होगा कि मनुष्य को आत्मा की यात्रा के इस महान् चक्र में मानव जीवन रूप से वह शाश्वत पुरुष ही स्वयं प्रकट होता है, जिसमें जन्म और मृत्यु उस यात्रा के मार्ग में मील का पत्थर हैं, परलोक उसके विश्राम स्थान हैं, जीवन की सारी अवस्थाएँ चाहें सुखद हो या दुःखद हमारी प्रगति, संग्राम और विजय के साधन हैं और अमरत्व हमारा धाम है, जहाँ के लिए आत्मा यात्रा कर रही है।' अर्जुन को शोकमुक्त करने के पश्चात् उसके उच्च आत्मविकास के लिये योग का उपदेश करते हैं— योगमयी बुद्धि जिसे सांख्य बुद्धि भी कहा जाता है उसके विषय में बताते हैं और उन्हें बुद्धि का उपदेश देते हैं।

श्री अरविन्द के अनुसार गीता के योग में कोई नियमबद्ध और शास्त्रीय श्रेणी विभाग का विधान नहीं है, यह योग आत्म विकास की सामान्य प्रक्रिया है। वे कहते हैं— 'निरे कर्म की अपेक्षा बुद्धियोग अधिक श्रेष्ठ है, बुद्धियोग के द्वारा मनुष्य जब अपनी असंस्कृत प्राकृत मन-बुद्धि और उसकी कामनाओं से ऊपर उठकर सर्वकामरहित ब्राह्मी स्थिति की पवित्रता और समता को प्राप्त होता है तभी वह उन कर्मों को कर सकता है जो भगवान् के द्वारा स्वीकार्य होते हैं।' बुद्धियोग के पश्चात् गीता में वर्णित सांख्य और योग के विषय में श्री अरविन्द की यह दृष्टि परिलक्षित होती है कि जगत् कारण रूप से ईश्वरवाद, बहुदेववाद और अद्वैतवाद इन सभी सिद्धान्तों को स्वीकार और सूक्ष्म समन्वय गीता में दिखाई देता है। गीता चाहती है कि मानव अन्दर की सन्तुलित अवस्था द्वारा और कर्म के कुछ सिद्धान्तों के अवलम्बन द्वारा जीवन का पुनरुद्धार करे। निम्न प्रकृति से दिव्य प्रकृति में कोई परिवर्तन, आरोहण या नवजन्म लाये।

गीता की दृष्टि समन्वयात्मक है इसलिए उसमें सांख्य, योग और वेदान्त की विभिन्न विचाराधाराओं का वर्णन किया गया है जिससे कि मानव-मन को क्रमशः अन्तिम महान् वचन के लिए तैयार किया जाये। गीता के अनुसार सांख्य और योग परस्पर विरोधी न होकर सिद्धान्त और उद्देश्य की दृष्टि से एक हैं भेद केवल उनकी प्रक्रिया और प्रारम्भ में है। सांख्य भी एक योग है जो ज्ञान मार्ग में आगे बढ़ता है और हमारी सत्ता के बाद सत्य दर्शन करके अपने लक्ष्य पर पहुँचता है। योग कर्ममार्ग में अग्रसर होता है जिसका प्रथम सिद्धान्त है कर्मयोग जिसका अभिप्राय है एक ऐसा निस्वार्थ समर्पण जिसमें हमारी समस्त आन्तरिक और बाह्य कर्म यज्ञ रूप से उस सनातन परब्रह्म को भेंट कर देने होते हैं, जो जीव की समस्त ऊर्जा और तपस्या के स्वामी हैं।

नैसर्गिक यज्ञ का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए श्री अरविन्द बताते हैं नैसर्गिक यज्ञ, वैश्विक जीवन में नैसर्गिक आदान-प्रदान है। सभी वस्तुएँ, प्राणी और मनुष्य निरन्तर सृष्टि से ही पोषण प्राप्त करते हैं और उसी की हवि बन जातें हैं। कोई भी पदार्थ, कोई भी जीवन, कोई भी व्यक्ति किसी भी क्षण में सम्पूर्ण सृष्टि से विच्छिन्न/विलग अथवा

अपने आप में सीमित नहीं रहता। सभी सत्ता आदान-प्रदान वाली होती है और यह आदान-प्रदान एक सृष्टि व्यापक यज्ञ है। इस यज्ञ की आधायिका है प्रकृति और भोक्ता और अधीश्वर है स्वयं भगवान्। इस यज्ञ की अग्नि भौतिक नहीं प्रत्युत ब्रह्माग्नि, आभ्यन्तर अग्नि, यज्ञ पुरोहित-स्वरूप अन्तःशक्ति है जिसमें आहुति दी जाती है। इस अग्नि में मनुष्य के द्वारा शारीरिक अथवा मानसिक क्रिया के रूप में देवताओं के लिये, अथवा देवाधिदेव के लिये, आत्मा के लिए अथवा विश्वसंचालक शक्तियों के लिये, अपनी ही उच्चतर सत्ता के लिये अथवा मानव जाति और सर्वभूतों की अन्तरात्मा के लिये उत्सर्ग की गई हर क्रिया हव्य है।

गीता के चतुर्थ अध्याय में वर्णित 'अवतारवाद' के सन्दर्भ में उनके विचार द्रष्टव्य हैं। मानव विभूति और अवतार दोनों अलग हैं मानव विभूति भागवत् सिद्धि प्राप्त करने के लिए मानव जाति के संघर्ष का अग्रणी नेता होता है। कोई भी महान् पुरुष जो हमारी औसत कक्षा से ऊपर उठ जाता है वह अपने उस कर्म से साधारण मानव जाति को ऊपर उठा देता है। वह हमारी भागवत सम्भावनाओं का एक सजीव आश्वासन, परमेश्वर की एक प्रतिश्रुति और भागवत प्रकाश की एक प्रभा तथा भागवत् शक्ति का एक उच्छ्वास होता है। मनुष्यों में महामनस्वी और वीर पुरुषों में देवता की तरह पूजन की जो स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है उसके मूल में यही सत्य है। पर अवतार में एक विशेष अभिव्यक्ति होती है, यह दिव्य जन्म ऊपर से होता है, सनातन विश्वव्यापक विश्वेश्वर व्यष्टिगत मानवता के एक आकर में उतर आते हैं। वे केवल परदे के अन्दर ही अपने स्वरूप में सचेतन नहीं रहते, बल्कि बाह्य प्रकृति में भी उन्हें अपने स्वरूप का ज्ञान रहता है।

गीता के चतुर्थ अध्याय में ही वर्णित दिव्य जन्म के विषय में उनका दृष्टिकोण इस प्रकार है 'दिव्य जन्म के दो पहलू हैं, एक है अवतरण, मानव जाति में भगवान् का जन्म ग्रहण, मानव आकृति और प्रकृति में भगवान् का प्राकट्य, यही सनातन अवतार है दूसरा है आरोहण, भगवान् के भाव में मनुष्य का जन्म ग्रहण, भागवत् प्रकृति और भागवत् चैतन्य में उसका उत्थान, यह जीवन का नवजन्म द्वितीय जन्म है।'

इसी प्रकार गीता के पञ्चम अध्याय में दिव्यकर्मी अर्थात् मुक्त पुरुष के लक्षण का वर्णन श्री कृष्ण के द्वारा किया गया है। श्री अरविन्द उस मुक्त पुरुष दिव्य कर्मी की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि ''कृर्तृत्व-अभिभान से शून्य इस मोक्षदायक ज्ञान में स्थित होकर समस्त कर्मो को करना यह दिव्यकर्मी का प्रथम लक्षण है। दूसरा लक्षण है कामना से मुक्ति-व्यक्तिगत अंहकार का सर्वथा परित्याग। आध्यात्मिक नैर्व्यक्तित्व अर्थात् मानव व्यक्तित्व की अंह भावनापन्न प्रतिक्रियाओं से पूर्णतः मुक्त। यह दिव्य कर्मी का तीसरा लक्षण है। पुरुष और प्रकृति में पूर्ण समत्व उसका चौथा लक्षण है।

दिव्यकर्मी का सर्वप्रमुख लक्षण वह है जो कि स्वयं भागवत् चेतना का केन्द्रिक लक्षण है, अर्थात् पूर्ण आन्तरानन्द और शान्ति। इसके अतिरिक्त त्रैगुणातीत्य भी दिव्यकर्मी का एक महान् लक्षण है। इस प्रकार के लक्षणों से सम्पन्न मुक्त पुरुष यही सोचता है कि 'नैव किञ्चित् करोमीति' अर्थात् कर्म मैं नहीं करता देखते, सुनते, चखते, सूँघते, खाते, बोलते, चलते, सोते, सांस लेते, छोड़ते, आँख खोलते बंद करते वह यही धारणा करता है कि इन्द्रियाँ विषयों पर क्रिया कर रही हैं। वह स्वयं अक्षर अविकार्य आत्मा में सुप्रतिष्ठित होने के कारण त्रिगुणातीत हो जाता है।

तत्पश्चात् श्रीमद् भगवद्गीता के पाँचवे अध्याय में जो यह निर्वाण के विषय में कहा गया है:-

योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।

अर्थात् जो पुरुष अन्तरात्मा में ही सुख वाला है और आत्मा में ही आराम वाला है तथा जो आत्मा में ही ज्ञान वाला है। ऐसा वह परमब्रह्म परमात्मा के साथ एकीभाव हुआ सांख्ययोगी शान्त ब्रह्म को अथवा ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त हो जाता है। श्री अरविन्द निर्वाण के विषय में कहते हैं "निर्वाण उस परम आत्मस्वरूप में अहङ्कार का लोप होना है, जो सदा देशकालातीत, कार्यकारण बंधन से परे क्षरणशील जगत् के परिवर्तनों के अतीत हैं और जो सदा आत्मानन्दमय, आत्मप्रकाशमय और शान्तिमय है। वह योगी जब निर्वाण को प्राप्त कर लेता है तो अहङ्कार स्वरूप नहीं रह जाता वह छोटा सा व्यक्तित्व नहीं रह जाता जो मन और शरीर में सीमित रहता है, वह ब्रह्म हो जाता है, उसकी चेतना पुरुष की उस अक्षर दिव्यता के साथ एक हो जाती है जो उसकी प्राकृत सत्ता में व्याप्त है।" निर्वाण प्राप्ति के लिए इच्छुक व्यक्ति की सांसारिक प्रवृत्ति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि "भावनामय मन, काममूलक मन और इन्द्रियों पर उसे जो देना चाहिए क्योंकि वे बाह्य स्पर्शो को ग्रहण करते और हमारी अभ्यस्त भावावेगमय प्रतिक्रियाओं के द्वारा उनका प्रत्युत्तर देते हैं; परन्तु उसके साथ ही मानसिक विचार को भी स्वतः सिद्ध आत्मसत्ता की शान्ति में ले जाकर निश्चेष्ट करना होगा। पहले सब कामनाओं को, जो कामनामूलक सङ्कल्प से उठती हैं, एकदम त्याग देना होगा और मन के द्वारा इन्द्रियों को इतना वश में करना होगा कि वे अपनी हमेशा की अव्यवस्थित और चंचल आदत के कारण चारों ओर दौड़ती न फिरें; परन्तु इसके बाद मन को ही बुद्धि से पकड़कर अंतर्मुख करना होगा। निश्चल बुद्धि द्वारा मानस कर्म करना धीरे-धीरे बन्द कर देना होगा और मन को आत्मा में स्थित करके किसी बारे में कुछ भी न सोचना होगा। जब-जब चंचल अस्थिर मन निकल भागे तब-तब उसका नियमन करके उसे पकड़कर आत्मा के अधीन लाना होगा।

जब मन पूर्ण रूप से शान्त हो जाये तो योगी को ब्रह्मभूत आत्मा का उच्चतम, निष्कलंक, निर्विकार परमानन्द प्राप्त होता है।

इस प्रकार गीता के प्रथम छः अध्यायों में कर्म, ज्ञान आदि के विषय में जो कुछ भी कहा गया है उसी का विशद् विवेचन अगले बारह अध्यायों में किया गया है। सातवें से बारहवें अध्यायों में भगवान् के स्वरूप का व्यापक तात्त्विक निरूपण है और इसी के आधार पर ज्ञान और भक्ति में सम्बन्ध स्थापित करके दोनों का समन्वय साधा गया है। ग्यारहवें अध्याय का विश्वपुरुष दर्शन उस समन्वय को शक्तिशाली रूप प्रदान करता है। और इसे कर्म और जीवन के साथ स्पष्ट रूप से जोड़ता है। इसके बाद गीता प्रकृति और पुरुष का भेद दिखाकर त्रिगुण के कर्म और नैस्त्रैगुण्य की अवस्था के विषय में तथा निष्काम कर्मो की उस ज्ञान में परिसमाप्ति, जहाँ वह भक्त के साथ एक हो जाता है, के विषय में अपने सिद्धान्त स्पष्ट करती है। इस प्रकार ज्ञान, भक्ति और कर्म में एकता साधित कर उस परम वचन की ओर मुड़ती है जो सर्वभूत महेश्वर के प्रति आत्म समर्पण के सम्बन्ध में उसका गुह्यतम वचन है। श्री.अरविन्द ने प्रत्येक अध्याय में वर्णित विशेष श्लोकों के अन्तर्निहित अर्थ को अभिव्यक्त करने हेतु लेख लिखे हैं जिनसे उनके गीता के प्रति विशद् दार्शनिक चिन्तन का स्पष्ट ज्ञान होता है। गीता में निहित दिव्य संदेश के विषय में श्री अरविन्द का कहना है कि कर्म का रहस्य भी वही है जो कि समस्त जीवन एवं जगत् का रहस्य है। जगत् केवल प्रकृति का एक ऐसा यन्त्र नहीं है, नियम का एक ऐसा चक्र नहीं है जिसमें जीव अल्पकाल के लिये या युगों के लिए फँसा हुआ है, यह तो परमात्मा की एक अनवरत अभिव्यक्ति है। अतएव अपनी आत्मा को जानो, अपनी वास्तविक आत्मा को ईश्वर समझो और अन्य सबकी आत्मा के साथ एक जानो अपनी अन्तरात्मा को परमेश्वर का एक अंश जानो और फिर जो जानते हो उसी ज्ञान में निवास करो, अपनी आत्मा में स्थित रहो अपनी परा आध्यात्मिक पद्धति में निवास करो, भगवान् के साथ योगयुक्त होकर भगवत् तुल्य बनो। अपनी पद्धति की जिस निम्न गति में मनुष्य आज निवास करता है उससे पीछे हटकर यदि वह अन्तर्मुख हो जाये तो वह प्रकाश रूप में दिखाई देने वाले इस अंधकार से जाग उठ सकता है और नित्य एवं अक्षर स्वयं स्थित सत्ता के ज्योतिर्मय सत्य में निवास करता है।

श्रीमद् भगवद्गीतान्तर्गत अभ्युदय तथा निःश्रेयस तत्त्व चिन्तन

डा. (श्रीमती) निर्मला उपाध्याय
पूर्व सहाचार्य एवं विभागाध्यक्ष
राजनीति शास्त्र, जयनारायण व्यास-
विश्वविद्यालय, जोधपुर

उपनिषदीय उद्घोष

जीवन संजीवनी के रूप में जन-जन की आधि-व्याधि का निरसन करने वाली, प्रस्थानत्रयी में स्थान प्राप्त श्रीमद्भगवद्गीता में उपनिषदों का तत्व-चिन्तन मुखर हुआ है। गीता ध्यानवन्दन में कहा गया है कि सभी उपनिषदों रूपी गौ का गोपाल कृष्ण ने गीतारूपी दुग्धामृत दुहकर वत्स पार्थ को पिलाया है।[1]

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन।
पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृत महत्।।

श्रीमद्भगवद्गीता में उपनिषदों का तत्व-सार तो है ही परन्तु गीता स्वयं उपनिषद् है। गीता के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में कहा गया है- इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्री कृष्णार्जुन संवादे.....।

कथं तरेयं भविन्धुमेतम्

व्यक्ति इस धरा पर जन्म लेकर अपने जीवन का साफल्य कैसे सिद्ध करें? इस भवसागर को कैसे पार करें? यह प्रश्नचिन्तकों, मनीषियों, बुद्धिजीवियों आदि को आलोडित-विलोडित करता रहा है। चिन्तक मुक्ताकणों ने व्यक्ति के मार्ग को प्रशस्त किया है। भगवद्गीता के विषय में कहा गया है कि व्यक्ति गीतारूपी नौका पर आरूढ़ होकर घोर संसार-सागर से सुखपूर्वक पार पहुँच सकता है[2]

संसारसागरं घोरं तरितुमिच्छति यो जनः।
गीतानावं समारूह्य पारं यातु सुखेन सः।।

जीवन ध्येयः पुरुषार्थ साधन

प्राचीन भारतीय वाङ्मय में व्यक्ति के जीवन के चार लक्ष्य निर्धारित किये गये हैं जिन्हें पुरुषार्थ का अभिधान दिया गया है-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। पुरुषार्थ चतुष्टय

में अभ्युदय तथा निःश्रेयस का सार समाहित है। अर्थ और काम अभ्युदय की ओर तथा मोक्ष निःश्रेयस की ओर इङ्गित करते हैं। धर्म में अभ्युदय और निःश्रेयस का समाहार है। महर्षि कणाद ने कहा है कि धर्म भौतिक सुख-साधन, इहलौकिक उन्नति और आध्यात्मिक उन्नति दोनों को सिद्ध करने वाला है[३] – **यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**। अभ्युदय और निःश्रेयस का युग्म मानवजीवन के उत्थान का आधार है। अभ्युदय लौकिक(आधिभौतिक) जीवन जीने की कला का सन्देशवाहक है और निःश्रेयस जीवन के परम ध्येय, आध्यात्मिकता को परिभाषित करता है। आद्य शंकराचार्य ने विवेकचूड़ामणि में कहा है कि मनुष्यत्व, मुमुक्षत्व और महापुरुषों का संश्रय ये तीनों दुर्लभ हैं, भगवत्कृपा से ही सुलभ हैं[४] –

दुर्लभं त्रयमेवैतद्देवानुग्रहहेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षत्वं महापुरुषसंश्रयः।।

मनुष्यत्व अभ्युदय को तथा मुमुक्षुत्व निःश्रेयस को व्याख्यायित करते हैं। अभ्युदय, प्रेय, लौकिक सुख के रूप में जाना जाता है। यह आधिभौतिक प्रगति, उन्नति, सम्पन्नता आदि का द्योतक है। निःश्रेयस, श्रेय, मोक्ष[५], अमृतत्व[६], परमगति[७], (परां गति) परां सिद्धि[८], अनामयपद[९], शाश्वतपद[१०], अव्ययपद[११], कैवल्यपद[१२], ब्राह्मी स्थिति[१३], ब्रह्मभूत स्थिति[१४], ब्रह्मनिर्वाण[१५], आप्तकाम स्थिति[१६], निरंजन स्थिति[१७], नित्यानन्द स्थिति[१८] के रूप में परिभाषित हुआ है।

अर्थ का विनियोग

लौकिक सुख, भौतिक समृद्धि के लिए अर्थ (वित्त) की आवश्यकता है, परन्तु यह द्रष्टव्य है कि अर्थ का समुचित विनियोग होना चाहिये। व्यक्ति को सम्पत्ति का अधिकार हो, धनार्जन (सम्पति संग्रह) का नहीं। धन के मोह में बंधे हुए **"वित्त-मोहेन मूढ़म्"**[१९] व्यक्ति प्रशंसनीय नहीं है। गीता यह कहती है कि आसुरी वृत्तियों वाला व्यक्ति यह विचार करता है कि मुझे आज यह मिल गया, अब मेरा मनोरथ सिद्ध होगा, यह धन मेरा है और मुझे अन्य धन प्राप्त होगा।[२०] सैंकड़ों आशारूपी पाश में बंधा कामक्रोधपरायण व्यक्ति अन्याय से धन अर्जित करने का विचार करता है।[२१] उसकी अर्थसञ्चय की इच्छा तीव्रतर होती जाती है। धनार्जन की वृत्ति अभ्युदय का मार्ग अवरुद्ध कर देती है।

ईशोपनिषद् का प्रथम श्लोक **त्यक्तेन तेन भुंजीथा**[२२] तथा आद्य शङ्कराचार्य का वित्त त्यागसमेतम्[२३] अर्थ के समुचित विनियोग का आधार प्रस्तुत करते हैं। नचिकेता का यमाचार्य के कथन था कि ऐश्वर्यभोग (वित्त) से व्यक्ति तृप्त नहीं होता[२४] – **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो**। विवेकचूडामणि कहता है कि धन से अमृतत्व की प्राप्ति नहीं होती।[२५] याज्ञवल्क्य द्वारा अपनी पत्नियों कात्यायनी तथा मैत्रेयी के बीच अपनी सम्पत्ति के बँटवारे के प्रसङ्ग में मैत्रेयी ने निःस्पृह भाव से कहा था कि जिस धन से मैं अमर नहीं हो सकती,

उस धन का मैं क्या करूँगी[३६] **येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्याम्।** वित्त से अमृतत्व प्राप्त नहीं होता[३७] **अमृतत्वस्य नाशास्ति वित्तेनेत्येव हि श्रुतिः।**

विघस और अमृत भोजन का विधान अर्थ के उचित विनियोग की व्यवस्था देता है। कुटुम्ब में सबके भोजन कर लेने पर शेष रहा विघस और यज्ञशेष भोजन अमृत कहा गया है।[३८] गीता का यह सन्देश है कि यज्ञशेष को ग्रहण करने वाला व्यक्ति सभी दोषों से मुक्त हो जाता है, जो केवल अपने लिये अन्न पकाता है (केवल अपनी उदरपूर्ति करता है) वह पाप (अनाधिकार) का भक्षण करता है[३९]–

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।
भुंजते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।

अन्न और भोजन शब्द साङ्केतिक हैं। वस्तुतः यह धन के उचित विनियोग का दिशा–निर्देश देते हैं। व्यक्ति को अपने कुटुम्ब के भरण–पोषण तथा सामाजिक हित में धन व्यय करने के बाद स्वयं के लिए धन का मर्यादित मात्रा में उपभोग करना है। श्रीमद्भागवत में व्यक्ति की आय का पञ्चधा विभाजन का विधान व्यक्ति की आय के समुचित वितरण पर बल देता है।[४१] यज्ञशेष का उपभोग करने वाला परमपद (ब्रह्म) को प्राप्त करता है[४२]– **यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।** व्यक्ति जिस सम्पत्ति का भोक्ता नहीं है, उस सम्पत्ति का वह वास्तविक स्वामी नहीं है। केवल न्यासधर है।[४३] श्रुति कहती है– सैकड़ों हाथों से कमाओं और सहस्त्र हाथों से बाँट दो[४४]– **शतहस्तं समाहरं सहस्रहस्तं सङ्किर।** धन, अन्न, जल, भूमि आदि का यथायोग्य दान कर अपनी सम्पत्ति का समुचित उपयोग अभीप्सित है। गीता सात्विक दान को श्रेष्ठ दान कहती है।[४५] प्रतिदान की इच्छा, आकांक्षा न रखकर प्रियवाक्यसहित, गर्वरहित होकर दिया गया दान वास्तविक दान है।[४६]

असक्तबुद्धि : सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह :

आशा, आसक्ति, वासना, स्पृहा, इच्छा, तृष्णा आदि काम के ही पर्याय हैं। विषयों का चिन्तन करते–करते व्यक्ति की उसमे आसक्ति होने लगती है।[४७] वासनाओं (काम) के वशीभूत मूढ़ व्यक्ति का ज्ञान नष्ट हो जाता है।[४८] नित्यवैरी कामनारूपी अग्नि कभी तृप्त नहीं होती।[४९] काममाश्रित्य[५०], कामोपभोगरत[५१] व्यक्ति का उन्नति मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। आसक्ति बन्धनकारी है। देहासक्ति, दारासक्ति, सुतासक्ति, मानासक्ति, धनासक्ति आदि को मुख्यतः एषणात्रय–पुत्रैषणा, लोकैषणा तथा वित्तैषणा के रूप में जाना जाता है। विवेकचूड़ामणि में इन्हें देहवासना, लोकवासना ओर शास्त्रवासना के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[५२]

एषणाओं से ममत्व भाव उत्पन्न होता है। मम (मेरा) दो अक्षर ही बन्धनरूप हैं और न मम (मेरा नहीं) इन तीनों अक्षरों का पद अमृतत्व का हेतु है[५३] – **द्वे पदे बन्धमोक्षाय निर्ममेति ममेति च।** मम मृत्यु है और न मम शाश्वत पद प्राप्ति है[५४]– **ममेति च भवेन्मृत्युर्न**

ममेति च शाश्वतम्। व्यक्ति निर्मम भाव को अपनाए।[४५] नित्य और सुखप्रद प्रतीत होने वाले समस्त सांसारिक भोगों को अनित्य और दु:खप्रद समझकर उसमें मोहित नहीं होना चाहिए।[४६] नि:स्पृह: सर्वकामेभ्यो[४७] विगतेच्छाभयक्रोधो[४८] सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वनशेषत:[४९] आदि सूत्र कामनाओं के नि:शेष त्याग का निर्देश देते हैं। आसक्तिरहित व्यक्ति आत्म सुख, अक्षयसुख प्राप्त करता है।[५०] बृहदारण्यक उपनिषद् का उद्घोष है कि जब तक तृष्णा (वासना, कामना) जड़ से नष्ट नहीं हो जाती तब तक सत्य और नित्य सुख प्राप्त नहीं हो सकता।[५१] कठोपनिषद् यह कहता है कि जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ, जो हृदय में बसी हुई रहती हैं, छूट जाती हैं उस समय वह मर्त्य (तत्त्वत: मर्त्य नहीं, अपितु अपने स्वरूप के अज्ञान के कारण स्वयं को मर्त्य समझने वाला) अमर हो जाता है और यहीं का यहीं ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है[५२]-

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदिस्थिता:।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्मसमश्नुते।।

केनोपनिषद् का कथन है कि धीर पुरूष प्रेत्य अर्थात् पुत्र, मित्र, कलत्र और बन्धुओं में अहंता, ममता के व्यवहार रूप इस लोक से विलग होकर अर्थात् सम्पूर्ण एषणाओं से मुक्त होकर अमरणधर्मा हो जाते हैं[५३]- **धीरा: प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति**। गीता कहती है -सुत, दारा, गृह आदि में अनासक्ति हो- **असक्तिनरभिष्वगं: पुत्रदारग्रहादिषु**। सर्वत्र अनासक्त बुद्धिवाला, मन को जीतने वाला तथा नि:स्पृह व्यक्ति नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त करता है।[५४] आसक्ति छोड़कर और नि:स्पृह होकर व्यवहार करने वाले, ममत्व तथा अंहकार से विरत व्यक्ति को शान्ति प्राप्त होती है।[५५]

व्यक्ति को प्रिय वस्तु से राग और अप्रिय (प्रतिकूल) वस्तु से द्वेष होता है। व्यक्ति को इसमें निरपेक्षभाव अपनाना चाहिये।[५७] मोहरूपी संसार-समुद्र से पार उतरने के लिए राग तथा द्वेष रूपी राक्षसों का संहार क़रना आवश्यक है[५८] - **तीर्त्वा मोहार्णवं हत्वा रागद्वेषादिराक्षसान्**। कठोपनिषद् के अनुसार जब तक विषयभोगों में राग और द्वेष की निवृत्ति नहीं होती तब तक मुक्ति नहीं हो सकती[५९]। रागद्वेषरहित और स्वाधीन की हुई इन्द्रियों द्वारा विषयों का सेवन करने वाला व्यक्ति निर्मलता (आनन्द) प्राप्त करता है।[६०] राग तथा द्वेष के द्वन्द्व से मुक्त होना जीवन को सफल बनाता है।[६१] व्यक्ति जलकमलवत् **पद्मपत्रमिवाम्भसा**- जीवन यापन करे।[६२] दुर्जय कामरूप शुत्र को नष्ट करना है[६३] - **जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्**। गीता में धर्मानुकूल काम की गणना ईश्वरीय विभूति में की गई है।[६४]

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयो:।

एषणामुक्ति के लिए मनोनिग्रह नितान्त आवश्यक है। मैत्र्युपनिषद् में कहा गया है कि मन मनुष्य के (कर्म) बन्धन या मोक्ष का कारण है। मन के विषयासक्त होने से बन्धन

और निर्विषय, निःसंग होने से मोक्ष मिलता है[६५] –

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासंगि मोक्षे निर्विषय स्मृतम्।।

मन से बन्धन की कल्पना और उसी से मोक्ष (बन्धनमुक्ति) की कल्पना होती है[६६] मनसा कल्प्यते बन्धो मोक्ष स्तमैव कल्प्यते। मन और इन्द्रियाँ ज्ञान की साधक बनायी जायें तो वे बन्धु हैं, परन्तु यदि इनको वश में न रखा जाय तो वे ही घोर शत्रु बन जाती हैं। विषयों में सञ्चार अर्थात् व्यवहार करने वाली इन्द्रियों की पीछे-पीछे मन जाने लगता है, वह व्यक्ति की बुद्धि का ऐसे हरण कर लेता है जैसे जल में वायु नौका को खींचती है।[६७]

मन चञ्चल, हठीला, बलवान् और दृढ़ कहा गया है। वायु का निग्रह करना (बाँधना) दुष्कर है उसी प्रकार मन का निग्रह दुष्कर है।[६८] अभ्यास और वैराग्य (विरति) से मन को वश में किया जा सकता है। शरीर-रथ का रूपक मननीय है। इन्द्रियों को अश्व, मन को वल्गा और बुद्धि को सारथी की संज्ञा दी गई है। शरीर-रथ का रूपक मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की ओर सङ्केत करता है। जीवात्मा रथ का स्वामी रथी है। इन्द्रियरूपी अश्वों को हाँकने वाली निश्चयात्मक अन्तःकरण की वृत्ति बुद्धि सारथी है। मन वल्गा है, उसे नियन्त्रण में रखता है[७०]–

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।

जिसने विवेकसम्पन्न बुद्धिरूपी सारथी द्वारा मनरूपी वल्गा को नियन्त्रित कर लिया है, वह रथी (जीवात्मा) विघ्नबाधाओं को पार कर परमपद को प्राप्त करता है[७१]–

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः परमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।।

उच्छृंखल इन्द्रियरूपी अश्वों (दुष्टाश्व) को यदि बुद्धिरूपी सारथी द्वारा मनरूपी लगाम से वश में नही किया जाता है, तो शरीररूपी रथ सारथी सहित दुःखमय गड्ढे में गिरता है।[७२] श्वेताश्वतर उपनिषद् में अनियन्त्रित इन्द्रियों को दुष्टाश्व की संज्ञा दी गई है, जो व्यक्ति को विषयरूपी गड्ढे में गिरा देती है।[७३] मन और बुद्धि की सावधानता, स्थिरता तथा विषयवासना से निवृति आवश्यक है।[७४]

महाभारत के स्त्रीपर्व में उपनिषद् का यह उद्घोष मुखर हुआ है। प्राणी शरीर को रथ, सत्वगुणप्रधान बुद्धि को सारथी और मन को वल्गा कहा गया है। यह व्यक्त किया गया है कि जो व्यक्ति स्वेच्छापूर्वक दौड़ते हुए अश्वों-इन्द्रियों का अनुसरण करता है वह तो इस संसार-चक्र (आवागमन) में पहिये की भाँति घूमता रहता है, किन्तु जो संयमशील होकर बुद्धि (सारथी) द्वारा इन्द्रियरूपी अश्वों को नियन्त्रण में रखता है वह फिर आवागमन के चक्र में नहीं फँसता[७५] –

रथः शरीरं भूतानां सत्वमाहुस्तु सारथिम्।
इन्द्रियाणि हयानाहुः कर्मबुद्धिस्तु रश्मयः।।
तेषां हयानां यो वेगं धावतामनुधावति।
स तु संसारचक्रेऽस्मिंश्चक्रवत् परिवर्तते।।

कर्मसातत्यः कर्मफलासक्तित्याग- भगवद्गीता का यह कथन है कि कोई भी व्यक्ति जीवित रहने पर्यन्त क्षणभर भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता[७६] - **नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।** देहधारी द्वारा समग्र कर्मों का त्याग संभव नहीं है[७७] - **न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।** अतः व्यक्ति को निरन्तर कर्म करना चाहिये[७८]- **तस्मादसक्तः सततं कार्यकर्म समाचर।** श्वेताश्वतर उपनिषद् की भी ऐसी ही उक्ति है।[७९] ईशोपनिषद् का घोष है कि कर्म करते रहकर ही सौ वर्ष अर्थात् आयुष्य की मर्यादा के अन्त तक जीवित रहने की इच्छा रखनी चाहिये। ऐसी बुद्धि से कर्म करने वाले को कर्म का लेप (बन्धन) नहीं लगता। इसके लिए अतिरिक्त (बन्धन से बचने के लिये) अन्य मार्ग नहीं है[८०] -

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरः।।

व्यक्ति को अपनी योग्यता के अनुरूप अपने कर्म का सम्पादन करना है। अपने (कर्तव्य) कर्म में तत्पर व्यक्ति सिद्धि प्राप्त करता है।[८१] निरन्तर कर्म करने का विधान है परन्तु कर्मफल की आशा से रहित, निष्काम कर्म का निर्देश है। कर्मफल की आकांक्षा रखने वाला गीता की दृष्टि में कृपण है[८२] - **कृपणाःफलहेतवः।** निष्काम कर्म श्रेयस्कर है।[८३] **न में कर्मफले स्पृहा[८४], त्यक्त्वा कर्मफलासंगं[८५], सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च[८६], सर्वकर्मफलत्याग[८७], मुक्तसङ्गः समाचर[८८], अनाश्रितः कर्मफलं[८९], कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन[९०]** आदि महावाक्य कर्मफलासक्ति त्याग का सन्देश देते हैं। विवेक चूडामणि कर्मफलत्याग को मुक्ति का साधन बतलाती है[९१] - **संन्यस्य सर्वकर्माणि भवबन्ध विमुक्तये।** गीता के अनुसार कर्मफल त्यागी समत्वबुद्धि वाला व्यक्ति जन्मबन्धन से मुक्त हो अनामय (मोक्ष) पद प्राप्त करता है।[९२] उसे नैष्ठिक शान्ति प्राप्त होती है।[९३]

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशयाः

मोक्ष क्या है? इस प्रश्न पर मनीषियों ने पुनः-पुनः चिन्तन-मनन किया है। पुरूषार्थ चतुष्टय में समाहित मोक्ष को परम पुरुषार्थ भी कहा गया है। जीवात्मा का देह से विलग हो जाना मोक्ष नहीं है, यह तो देह का अवसान है। सभी संशयों, अविद्या, अज्ञान आदि का नाश हो जाना मोक्ष कहा गया है। मुण्डकोपनिषद् के अनुसार सभी संशयों का नाश हो जाने पर हृदय की ग्रन्थि का खुल जाना मोक्ष है[९४]-

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्व संशया:।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।।

विवेकचूड़ामणि में अविद्यारूपी हृदयग्रन्थि के नाश को मोक्ष कहा गया है[९५]- **अविद्याहृदयग्रन्थिमोक्षो मोक्षो यतस्तत:।** हृदय की अज्ञानरूपी गाँठ का खुल जाना मोक्ष है[९६] अज्ञानहृदयग्रन्थिर्नाशो मोक्ष इति स्मृता:। श्वेताश्वतरोपनिषद् का कथन है कि अज्ञान के नाश हो जाने पर परब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान होने से व्यक्ति सभी बन्धनों से मुक्त हो जाता है[९७]- **ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै:।** यह उपनिषद् परब्रह्म के ज्ञान को अमरत्व प्राप्ति का आधार मानता है। इसके अतिरिक्त मोक्षप्राप्ति का दूसरा कोई मार्ग नहीं है[९८]- **तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनाय।**

अज्ञान तिमिर का नाश हो जाने पर अन्त:प्रकाश सम्पन्न व्यक्ति ब्रह्मरूप हो जाता है और ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करता है।[९९] ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्मवत् हो जाता है[१००]- **ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।** विवेकचूड़ामणि कहती है[१०१] ब्रह्मात्मैक्य बोधेन मोक्ष: सिद्धयति नान्यथा। ब्रह्मात्मैक्य,[१०२] ब्रह्मभूयाय,[१०३] ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वेति[१०४] आदि सूत्र बह्म के साथ जीवात्मा की तदाकारवृत्ति का प्रतिपादन करते हैं। मुण्डक उपनिषद् के अनुसार प्रणव धनुष है, आत्मा शर है और ब्रह्म (प्राप्ति) उसका लक्ष्य है। जीवात्मा को अप्रमत्त (सावधान तथा एकाग्र) होकर शरसन्धान करना है। सावधान तथा एकाग्रचित्त होकर चलाया गया शर अपने लक्ष्य तक पहुँच जाता है। लक्ष्य और शर एक हो जाते है। जीवात्मा को ब्रह्म में तदाकार होना है[१०५]-

प्रणवो धनु: शरो ह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेधव्यो शरवत् तन्मयो भवेत्।।

याज्ञवल्क्य का जनक के प्रति कथन था कि जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर पूर्ण निष्काम हो गया है, उसके प्राण किसी दूसरे स्थान में नहीं जाते, किन्तु वह तो ब्रह्मभूत है और ब्रह्म में लीन हो जाता है।[१०६] नदी जब सागर में मिल जाती है तब वह नहीं जानती है कि यह मैं हूँ। वह सागर से तदाकार हो जाती है।[१०७]

सर्वभूतात्मैक्य भाव, आत्मौपम्य दृष्टि मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् का **नेह नानास्ति किञ्चन**[१०८] का सूत्र इस भाव को व्यक्त करता है। उसके अनुसार जो इस जगत् में अनेकता देखता है वह जन्म-मरण के चक्र (आवागमन) में पड़ा रहता है। मैं सब प्राणियों में हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं ऐसा भाव व्यक्ति की व्यापक दृष्टि का परिचायक है[१०९] जिसे सब आत्ममय हो गया वह साम्यबुद्धि से सबके प्रति व्यवहार करता है।[११०] ईशोपनिषद्[१११] तथा केनोपनिषद्[११२] का भी ऐसा सन्देश है। सभी प्राणियों में आत्मारूप हुआ व्यक्ति कर्मबन्धन में लिप्त नहीं होता है।[११३]

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः

ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती। विद्या-अविद्या विषय पर चिन्तकों का चिन्तन स्पष्ट करता है कि आधिभौतिक ज्ञान अविद्या है और आध्यात्मिक ज्ञान विद्या है।[११४] **अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्या मुपासते, अन्धेन तमसावृता** अविद्या की ओर इंगित करते हैं। अविद्या बन्धनकारी है विद्या अमृतत्व है। केनोपनिषद् विद्या को अमृतत्व प्राप्ति को आधार मानते है। मुण्डकोपनिषद् में अपरा विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) के रूप में ज्ञान को परिभाषित किया गया है।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः के सन्दर्भ में परा विद्या अभिप्रेत है। भगवतद्गीता कहती है कि ज्ञान के समान अन्य कुछ पवित्र (पावनकारी) नहीं है– **न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।** ज्ञान प्राप्त हो जाने पर परम शान्ति (अमृतत्व) प्राप्त होती है[११३] – ज्ञानं लब्ध्वा परा शान्तिचिरेणाधिगच्छति। ज्ञान-दीपक के प्रकाश से अज्ञानान्धकार दूर हो जाता है।[११४] रज्जुसर्प[११५], मृगमरीचिका[११६], तथा शुक्तिकारजत[११७] का भ्रम ज्ञान से ही दूर होता है। ज्ञानचक्षु से व्यक्ति को अपना परम पथ दीखता है।[११८] ज्ञान अग्नि है, वह व्यक्ति ज्ञानी (पण्डित) कहा गया है जिसके सभी उद्योग फलेच्छा रहित हैं तथा जिसके कर्म ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाते है।[११९] जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि सब(ईंधन)को भस्म कर डालती है उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि सभी कर्मों (बन्धनकारी कर्मों) को भस्म कर देती है[१३०]– **ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरूतेऽर्जुन।** विवेकचूड़ामणि सम्यक्ज्ञान हुताशन के कर्मक्षय की बात कहती है।[१३१] जिस प्रकार दग्ध बीज पुनः उत्पादन करने में सक्षम नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानाग्नि में भस्म हो जाने पर व्यक्ति के क्लेशादि(अज्ञान) का पुनरावर्तन नहीं होता[१३२]–

बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः।
ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैर्नात्मा संपद्यते पुनः।।

ज्ञानाग्नि को चैतन्याग्नि भी कहा गया है।[१३३] ज्ञानरूप असि से व्यक्ति के संशयों का नाश होता है।[१३४] विवेकचूड़ामणि विज्ञान महाखड्ग द्वारा कर्म-कलापों के छेदन पर बल देती है।[१३५] ज्ञान रूपी नौका से व्यक्ति भवसागर से पार उतर सकता है[१३६] – सर्वज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि। अज्ञान के भवसिन्धु से पार उतरने के लिये विज्ञाननौका का आश्रय लेना होता है[१३७]– **विज्ञाननावं परिगृह्य कश्चित्तरेद्यज्ञानमयं भवाब्धिम्।**

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा

पुरूषार्थ चतुष्टय में समाहित धर्म का व्यापक पटल है। यह समग्र सृष्टि की व्यवस्था को, मानव जीवन के बहुआयामी पक्षों को परिभाषित करता है। धर्म विश्व का आश्रयभूत है[१३८]— **धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा।** जो धारण करता है वह धर्म है, धर्म प्रजा (समाज) को धारण करता है[१३९]— **धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मो धारयते प्रजाः।** धर्म

श्रेयप्राप्ति का मूल है। धर्म से पतन न होकर उत्थानं होता है।[१४०]

धर्म आरम्भिक रूप में ऋतु के रूप में जाना जाता था। ऋग्वेद के ऋषियों ने परिवर्तनीय प्राकृतिक व्यवस्था को जिसे नैतिक व्यवस्था कहा गया है, ऋतु की संज्ञा दी है। इस जगत् में सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाला यही ऋत ही है[१४१]— **ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्य-जायतः**। परमेश्वर ने आकाश के मध्य में त्रिपाद परिमित स्थान में त्रिलोक का निर्माण करके इनके भीतर धर्मो (जगन्निर्वाहक कर्म समूहो) को स्थापित किया।[१४२] कठोपनिषद् में धर्म आत्मा नाम से कथित हुआ है।[१४३] आत्मज्ञानरूपी धर्म को श्रेष्ठ कहा गया है।[१४४] यहाँ धर्म का तात्पर्य तत्त्वज्ञान से है। धर्म श्रेयस्वरूप, कल्याणप्रद कहा गया है।[१४५]

आरम्भिक रूप ऋत के रूप में जाना जाने वाला धर्म शनैः शनैः सदाचार के मार्ग, साध्वाचार के नियम के अर्थ में व्यवहृत होने लगा।[१४६] सामाजिक संरचना के सन्दर्भ में व्यक्ति के कर्तव्यों को धर्म का अभिधान दिया गया- सामान्य धर्म,[१४७] वर्णधर्म,[१४८] आश्रमधर्म,[१४९] कुलधर्म,[१५०] जातिधर्म,[१५१] राजधर्म[१५२] आदि। सामान्य धर्म के अन्तर्गत आचारशास्त्र के विधि-विधान हैं जिसका पालन सभी व्यक्तियों से अपेक्षित है जैसे सत्यं वद। धर्मं चर[१५३] सत्य, अहिंसा, दया, दान, तपस्या, आर्जव आदि सामान्य धर्म हैं[१५४] भगवद्गीता में वर्णित दैवी सम्पदा, सद्गुण इस श्रेणी में हैं।[१५५]

वर्णधर्म के अन्तर्गत ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्रों के कर्तव्यों का उल्लेख है।[१५६] आश्रमधर्म में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम के धर्म विहित हैं।[१५७] कुलधर्म तथा जातिधर्म कौटुम्बिक समरसता के परिचायक हैं, इसमें दोष आने पर समाज का पतन होने लगता है।[१५८] राजा (शासक) के कर्तव्यों को राजधर्म की संज्ञा दी गई है। महाभारत में राजधर्मानुशासनपर्व के अर्न्तगत राज्य व्यवस्था के सुचारू संचालन के सूत्र दिये गये हैं।[१५९]

सामाजिक सन्तुलन के सन्दर्भ में भगवद्गीता के चतुर्थ अध्याय के श्लोक संख्या ७ तथा ८ का विशेष अनुदान है। जब जगत् में अन्याय, दुष्टता, अन्धाधुन्धी मचने लगती है, आसुरी वृत्तियों का, अधर्म का प्रभाव बढ़ जाता है, सज्जनों को कष्ट होने लगता है, तब जगत् की सुस्थिति के लिये, सज्जनो की रक्षा के निमित्त, आसुरी वृत्तियों का दमन करने तथा धर्म संस्थापना हेतु धरा पर तेजस्वी शक्ति का अवतरण होता है[१६०]-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।

स्वधर्मे निधनं श्रेयः, श्रेयान् स्वधर्मो आदि सूत्र व्यक्ति को अपने कर्त्तव्य पालन का निर्देश देते है। कर्त्तव्यों का समुचित पालन करने वाला व्यक्ति धर्मात्मा है। जो व्यक्ति

कर्त्तव्यपालन का समय आने पर दिग्मूढ़ हो जाते हैं उन्हें गीता धर्मसंमूढचेता कहती है। कर्त्तव्यकर्म का आचरण बड़े-बड़े सङ्कटों से रक्षा करता है। भगवद्गीता के बारहवें अध्याय में भक्त के गुणों (योग्यताओं) तथा कर्म को धर्म्यामृत (धर्म रूपी अमृत- अमृततुल्य धर्म) कहा गया है।

उद्धरेदात्मनात्मानं

पुरूषार्थ चतुष्टय अभ्युदय और निःश्रेयस की सिद्धि के आधार हैं यह सिद्धि व्यक्ति के स्वप्रयत्न से सम्भव है। आत्मा ही आत्मा का उद्धारक है आत्मा स्वयं ही अपना बन्धु (सहायक) है और अपना शत्रु है। जिसने अपने आप को जीत लिया वह (आत्मा) अपना बन्धु है और जिसने स्वयं को नहीं पहचाना वह शत्रुरूप है[१६६]— **आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।** आत्मा के अतिरिक्त बन्धनकर्ता तथा बन्धन का मोचन करने वाला अन्य कोई नहीं है[१६७]— **बन्धमोचनकर्त्ता तु स्वस्मादन्यो न कश्चन।** भवाब्धि (संसार-सागर) को पार कराने में आत्मा से भिन्न कोई नहीं है।[१६८] अन्तर्बाह्य शुद्ध व्यक्ति आत्मनिष्ठ कहा गया है। व्यक्ति पण्डित, बुद्धिमान् अथवा बहुश्रुत क्यों न हो, आत्मनिष्ठ को ही मुक्ति मिलती है[१६९]— **नायमात्मा प्रवचनेने लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।** बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का उद्घोष है - आत्मा को देखो, सुनो, उसका मनन करो, उसकी साधना करो। आत्मा क्या है यह देखना है, आत्मा क्या कहती है यह सुनना है, आत्मा का चिन्तन करना है और आत्मप्राप्ति (आत्मनिष्ठा) के लिये उसकी साधना करनी है। यह सब होने पर सभी प्रकार की ग्रन्थियाँ (बन्धन) खुल जाती हैं[१७०]— **आत्मा वा अरे दृष्टव्यो श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो।**

जीवः सर्वमलान्मुक्तः स्वर्णवद्योतते स्वयम्

प्रेय और श्रेय, अभ्युदय और निःश्रेयस व्यक्ति के उन्नयन के मूलाधार हैं। आधिभौतिक ऐश्वर्य का समुचित उपभोग प्रेय है और आध्यात्मिक उन्नयन श्रेय है। प्रेय और श्रेय दोनों व्यक्ति के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त करते हैं फिर भी प्रेय की अपेक्षा श्रेय का महत्त्व अधिक आङ्का गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि जब प्रेय और श्रेय, ये दोनों व्यक्ति के सम्मुख उपस्थित हों, तब बुद्धिमान् व्यक्ति उन दोनों में से किसी एक को चुन लेता है। जो व्यक्ति यथार्थ में बुद्धिमान् होता है वह प्रेय की अपेक्षा श्रेय को अधिक महत्त्व देता है, परन्तु जिसकी बुद्धि मन्द होती है उसे आत्म कल्याण की अपेक्षा लौकिक सुख अधिक अच्छा लगता है[१७१]—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते।

नचिकेता ने यमराज से श्रेय माँगा था। पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि व्यक्ति के जीवन का लक्ष्य है। अर्थ और काम का समुचित सेवन वाञ्छनीय है। एषणामुक्ति (वासनामुक्ति)

बन्धनों से छुड़ाती है। वासनाक्षय का नाम ही मोक्ष है, यही जीवन्मुक्ति है। मोक्ष की भी वासना नहीं होनी चाहिए।[१७२] मन और इन्द्रियाँ बुद्धि के वश में होने पर व्यक्ति विपथगामी नहीं होता।

फलासक्तिरहित कर्मसातंत्य जीवन का मूल मन्त्र है। थकने तक प्रयत्न करने वाले व्यक्ति के अतिरिक्त अन्यों के देवता भी सहायता नहीं करते[१७३]— **न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।** सब प्राणियों में मनसा वाचा कर्मणा साम्यबुद्धि (आत्मौपम्य दृष्टि) रखकर अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते रहना ही नित्य मुक्तावस्था, पूर्णयोग या सिद्धावस्था है। मोक्षतरू का बीज क्या है? क्रियासहित सम्यक्ज्ञान।[१७४] आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति उन्नति के शिखर पर आरोहण कर सकता है बलहीन व्यक्ति नहीं[१७५]— नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो।

श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र के रणाङ्गण में अर्जुन को गीताबोध दिया। व्यक्ति का जीवन भी रणांगण है। शुभ-अशुभ, अनुचित, प्रेय और श्रेय का द्वन्द्व व्यक्ति को दोलायमान कर देता है। कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र भी है। धर्मक्षेत्र क्या है? व्यवसायात्मिका बुद्धि द्वारा ग्राह्य-अग्राह्य का नीर-क्षीर विवेक कर अपने कर्त्तव्य कर्मों का सम्पादन कर जीवन का चरम ध्येय प्राप्त करना धर्मक्षेत्र है। गीता का प्रयोजन भी यही कहा गया है। दिग्भ्रमित, मोहग्रस्त अर्जुन के मोह का नाश करने और मोक्ष का हेतु निर्देश (लक्ष्य प्राप्ति) के लिए गीता का उद्बोधन है[१७६]—

कश्मलं यत्र पार्थस्य वासुदेवो महामतिः।
मोहजं नाशयामास हेतुभिर्मोक्षदर्शिभिः।।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण के उद्बोधन को एकाग्रचित से सुनकर हृदयङ्गम किया और बोल उठा[१७७]— **नष्टोमोहस्मृतिर्लब्धा।** अर्जुन का कर्त्तव्याकर्त्तव्य का सन्देह नष्ट हो गया। अर्जुन के प्रति दिया गया श्रीकृष्ण का गीता का उद्बोधन केवल उसके लिये नहीं है, व्यक्तिमात्र के लिये है। यह उद्बोधन देशकालातीत है। भगवद्गीता की उपनिषदीय तत्त्वमीमांसा का शाश्वत सन्देश है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१. श्रीमद्भगवद्गीता ध्यानवन्दन ४
२. वाराहपुराण, गीतामाहात्म्यनुसंधान, ७
३. वैशेषिक सूत्र १.३.२
४. विवेकचूड़ामणि ३
५. वहीं ५५६
६. (अ) कठोपनिषद, ६.८ (ब)श्वेताश्वेतरोपनिषद् ३.७
(स) ईशोपनिषद् २.२ (द) भगवद्गीता, २.१५; १४.२०
७. भगवद्गीता, ३.१६; ६.४५; ८.१३, १५, २१; ६.३२; १३.२८, १६, २२-२३
८. वही, १४.१; ६.४३, ४५; १८.४५ ९. वही, २.५१

१०. वही, १८.५६
११. वही, १५.४
१२. विवेकचूड़ामणि, १२६, ५६८
१३. भगवद्गीता, २.७२
१४. वही, १८.५४
१५. वही, २.७२
१६. मुण्डकोपनिषद, ३.१.६
१७. वही, २.३.२
१८. विवेकचूड़ामणि, १२१
१९. कठोपनिषद् २.६
२०. भगवद्गीता, १६.१३
२१. वहीं, १६.१२
२२. ईशापनिषद्, १
२३.प्रश्नोत्तरमालिका, २७
२४. कठोपनिषद्, १.२७
२५. विवेकचूड़ामणि, ७
२६. बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.३
२७. वही, २.४.२
२८. महाभारत, वनपर्व २.६०
२९. भगवद्गीता, ३.१३
३०. श्रीमद्भागवत, ८.१९.३७
३१. महाभारत, शान्तिपर्व ३२०.१३७
३२. भगवद्गीता, ४.३१
३३. महाभारत, शान्तिपर्व ३२०.१३७
३४. अथर्ववेद, ३.२४.५
३५. भगवद्गीता, १७.२०
३६. प्रश्नोत्तरमालिका, १३, २७
३७. भगवद्गीता २.६४
३८. वही, ७.२०
३९. वही, ३.३९
४०. वही, १६.१०
४१. वही, १६.११
४२. विवेकचूड़ामणि, २७२, २७३
४३. महाभारत, आश्वमेधिकपर्व १३.३
४४. वही, शान्तिपर्व १३.४
४५. भगवद्गीता, ३.३०
४६. वही, १०.४
४७. वही, ६.१८
४८. वही, ५.२८
४९. वही ६.२४
५०. वही, ५.२१; १६.२१
५१. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.४.२२
५२. कठोपनिषद् ६.१४
५३. केनोपनिषद, १.२
५४. भगवद्गीता, १३.९
५५. वही, १८.४९
५६. वही, २.७१
५७. वही, ३.३४
५८. आत्मबोध ४९
५९. कठोपनिषद् ६.१४
६०. भगवद्गीता, २.६४
६१. वही, २.४५
६२. वही, ५.१०
६३. वही ३.४३
६४. वही, ७.११
६५. मैनयुपनिषद्, ६.३४ लोकमान्य तिलक, गीतारहस्य पृष्ठ २८९ पर उद्धृत
६६. विवेकचूड़ामणि, १७४
६७. भगवद्गीता, २.६७
६८. वही, ६.३४
६९. वही, ६.३५
७०. कठोपनिषद् ३.३
७१. वही, ३.९

७२. वही, ३.५
७३. श्वेताश्वतरोपनिषद्, २.६
७४. वही, २.४
७५. महाभारत, स्त्रीपर्व ७.१३-१४
७६. भगवद्गीता, ३.५
७७. वही, १८.११
७८. वही, ३.१६
७९.श्वेताश्वतरोपनिषद, ६.४
८०. ईशोपनिषद, २
८१. भगवद्गीता, १८.४५-४६; ३.२०
८२. वही, २.४६
८३. वही, १७.११
८४. वही, ४.१४
८५. वही, ४.२०
८६. वही, १८.६
८७. वही, १२.११
८८. वही, ३.६
८९. वही, ६.१
९०. वही, २.४७
९१. विवेकचूड़ामणि, १०
९२. भगवद्गीता, २.५१
९३. वही, ५.१२
९४. मुण्डकोपनिषद् २.२.८
९५. विवेकचूड़ामणि, ५५६
९६. शिवगीता, १३.३२ लोकमान्य तिलक, गीता रहस्य पृष्ट २५१ पर उद्धृत
९७. श्वेताश्वेतरोपनिषद, ५.१३
९८. वही, ३.८
९९. भगवद्गीता, ५.२४
१००. मुण्डकोपनिषद्, ३.२.६
१०१. विवेकचूड़ामणि, ५८
१०२. बृहदारण्यक उपनिषद् १.४.१०
१०३. भगवद्गीता, १४.२६
१०४. छान्दोग्य उपनिषद्, २.२३.१
१०५. मुण्डकोपनिषद्, २.२.४
१०६. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.४.१०
१०७. केनोपनिषद, २.१२
१०८. बृहदारण्यक उपनिषद्, ४.४.१
१०९. भगवद्गीता, ६.२६
११०. बृहदारण्यक उपनिषद.२.४.१४
१११. ईशोपनिषद, ६
११२. केनोपनिषद्, २.५
११३. भगवद्गीता ५.७
११४. बृहदारण्यक उपनिषद, ४.४.१४
११५. ईशोपनिषद्, ६
११६.वही, ३
११७. वही, ११
११८. केनोपनिषद्, २.१२
११९. कठोपनिषद, ३.८
१२०. बृहदारण्यक उपनिषद्,
१२१. मुण्डकोपनिषद, १.१.४
१२२. भगवद्गीता, ४.३८
१२३. वही, ४.३६
१२४. वही १०.११
१२५. विवेकचूड़ामणि, ११२, २८८
१२६. (१) आत्मबोध, ४.६२
(२) विवेकचूड़ामणि, १२१, ४६६
१२७. आत्मबोध, ७
१२८. (१) भगवद्गीता, १५.१०
(२) आत्मबोध, ६४
१२९. भगवद्गीता, ४.१६
१३०. वही, ४.३७

१३१. विवेकचूड़ामणि, ४५४

१३२. (१) महाभारत, वनपर्व १९९.१०६-१०७ (२) वही, शान्तिपर्व २११.१७

१३३. विवेकचूड़ामणि, ५५७ १३४. भगवद्गीता, ४.४२

१३५. विवेकचूड़ामणि, १४९, ३०८ १३६.भगवद्गीता, ४.३६

१३७. विज्ञाननौका १०

१३८. नारायणोपनिषद्, कल्याण धर्मांक पृष्ठ ४ पर उद्धृत

१३९. (१) महाभारत, शान्तिपर्व १०९.११ (२) वही, कर्णपर्व ६९.५८

१४०. वही, उद्योगपर्व ३४.३१ १४१. ऋग्वेद, १०.१९०.१

१४२. वही, १.२२.१८ १४३. कठोपनिषद्, १.२१

१४४. वही, २.१३ १४५. बृहदारण्यक उपनिषद्, १.४.१४

१४६. डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन पृष्ठ ६२

१४७. भगवद्गीता, १६.१-३ १४८. वही, ४.१३; १८.४१-४४

१४९. तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२.३ १५०. भगवद्गीता, १.४०

१५१. वही, १.४३-४४ १५२. महाभारत, शान्तिपर्व ६३.२४

१५३. तैत्तिरीय उपनिषद् १.११.१ १५४. छान्दोग्य उपनिषद्, ३.१७.४

१५५. भगवद्गीता, १६.१-३ १५६. वही, १८.४१-४४

१५७. महाभारत, शान्तिपर्व १९१.८ १५८. भगवद्गीता, १.४३

१५९. महाभारत, शान्तिपर्व अध्याय १ से १३०

१६०. भगवद्गीता, ४.७-८ १६१. वही, ३.३५

१६२. वही, १८.४७ १६३. वही, २.७

१६४. वही, २.४० १६५. वही, १२.२०

१६६. वही, ६.५-६ १६७. विवेकचूड़ामणि, ५३

१६८. वही, ९, ६८

१६९. (१) मुण्डकोपनिषद्, ३.२.३ (२) कठोपनिषद, २.२३

१७०. बृहदारण्यक उपनिषद्, २.४.५ १७१. कठोपनिषद, २.२

१७२. मुण्डकोपनिषद्, १.२.९ १७३. ऋग्वेद ४.३३.११

१७४. प्रश्नोत्तरमालिका, ३ १७५. मुण्डकोपनिषद्, ३.२.४

१७६. महाभारत, आदिपर्व २.२४७ १७७. भगवद्गीता, १८.७३

आचार्य शङ्कर का प्रारब्ध विषयक मत

डॉ. प्रभावती चौधरी
सह-आचार्य, संस्कृत विभाग
जयनारायणव्यास वि.वि. जोधपुर

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे।। मुण्डक. २.२.८

कार्य-कारण स्वरूप उस परात्पर ब्रह्म रूप तत्त्व को जान लेने पर इस जीव के हृदय की अविद्यारूपी ग्रन्थि खुल जाती है, सारे संशय नष्ट हो जाते हैं तथा शुभाशुभ सकल कर्म नष्ट हो जाते हैं। सञ्चित, क्रियमाण एवं प्रारब्ध त्रिविधकर्म माने गए हैं । कर्म का आधार मन है। इसी की वासना के कारण कर्मफल होते हैं । अहङ्कार के कारण ही मनुष्य अपने को आत्मा से भिन्न जीव एवं शरीर समझता है जिससे उसे कर्मफलों का भोग करना पड़ता है किन्तु तत्त्व ज्ञान होने पर मनुष्य मन से सर्वथा मुक्त हो जाता है फलस्वरूप मन में संस्कार रूप से सङ्गृहीत सकल कर्म नष्ट हो जाते हैं जिससे वह जन्म मरण के चक्र से छूट जाता है। श्रुति के इस वचन की विभिन्न दर्शन भिन्न-भिन्न व्याख्या करते हैं। तत्त्वज्ञान होने पर सञ्चित एवं क्रियमाण के नाश को तो वे स्वीकार करते हैं, किन्तु प्रारब्ध के नाश को स्वीकार नहीं करते । उनके मत में प्रारब्ध का नाश तो भोग के पश्चात् ही होता है। अध्यात्म उपनिषद् ५३-५४ में भी प्रारब्ध का भोग आवश्यक माना गया है-

ज्ञानोदयात् पुरारब्ध कर्मज्ञानान्न नश्यति।
अदत्त्वा स्वफलं लक्ष्यमुद्दिश्योत्सृष्ट बाणवत्।।

अर्थात् जैसे लक्ष्य की ओर छोड़ा गया बाण लक्ष्य का बेध ही देता है उसे बीच में नहीं रोका जा सकता उसी प्रकार ज्ञान के उदय से पूर्व आरम्भ हुआ कर्म अपना फल दिए बिना नष्ट नहीं होता। वस्तुतः श्रुतिवचन विषयक कर्मक्षय में प्रारब्ध भी समविष्ट है या नहीं इस विषय को आधार बनाकर प्रवृत्त मत-वैभिन्य का न्यायमञ्जरीकार ने अपने ग्रन्थ में निरूपण किया है- **'अन्ये त्वाचक्षते-किमनेन भोगायासेन, अदत्तफलान्येवं कर्माणि योगिनो नङ्क्ष्यन्ति । तत्त्वज्ञानस्यैव भगवतः इयान् प्रभावः यदस्मिन्नुत्पन्ने चिरसंचितान्यापि कर्माणि सहसैव प्रलयमपयान्ति-**

अर्थात् तत्त्वज्ञान के प्रभाव से कर्मों का शीघ्र लय हो जाता है अतः प्रारब्ध का भोग से ही नाश मानना उचित नहीं। **भोगादपि तेषां प्रक्षयः शास्त्रप्रामाण्यादेवावगतः तथा तत्प्रामाण्यादेव तत्त्वज्ञानादपि तत्प्रक्षयं प्रतिपत्स्यामहे।** जिस प्रकार प्रारब्ध का भोग से नाश होने में शास्त्र प्रमाण है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से भी नाश होने में शास्त्र प्रमाण है-

यथैधांसि समिद्धोऽग्नि : भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा। गीता ४.३७

न चेदं श्रद्धामात्रम् वेदविदामग्रगण्या व्यासमुनिनैव समभिधानात्, अवेदार्थ हि नासावभिदधीतेति।

आचार्य जयन्तभट्ट ने प्रारब्ध का भोग बिना नाश सम्भव नहीं है इस मत का भी अपने ग्रन्थ में प्रतिपादन किया है- **तमन्ये न मन्यन्ते, न सर्वात्मना कर्मणां दाहः। किन्तु स्वरूपेण सतामपि सहाकारिकैवल्यात् स्वकार्यकारणोदासीनतां तेषां भवति, भ्रष्टानामिव बीजानामङ्कुरणकरणकौशलहानिः। यतः सामग्री कार्यस्य जनिका न केवलं कारकम्। अतो न कर्माण्येव केवलानि फलोपभोगयोग्य-शरीरेन्द्रियादिजन्मानिमित्ततामुपयान्ति, किन्तु मिथ्याज्ञानेन दोषैश्च सहितानि।**

तदुक्तं- अविद्यातृष्णे धर्माधर्मौ च जन्मकारणम् मोक्षस्य दुर्लभत्वम् ज्ञानाग्नि-दाहवचनं तु ज्ञानप्रशंसार्थमेव । सोऽयं ज्ञानकर्मसमुच्चयान्मोक्ष उच्यत इति।

उपर्युक्त मत ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद को स्वीकार करता है अतः कर्मों का समूल नाश स्वीकार नहीं करता। आचार्य जयन्तभट्ट ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि ज्ञानकर्म समुच्चय से मोक्ष को मानना अनुचित है क्योंकि मोक्ष के प्रति कर्मों का कैसा प्रत्यङ्भाव है, मोक्ष कर्मसाध्य नहीं है। यदि मोक्ष को कर्मसाध्य मानेंगे तो स्वर्गादिवत् अनित्यत्व का प्रसङ्ग उपस्थित होगा-

न हि तत्साध्यो मोक्षः स्वर्गादिवदनित्यत्वप्रसङ्गात् अपि च आत्मैव स्वरूपा-वस्थितो मोक्ष इत्युच्यते न चात्मस्वरूपं कर्मसाध्यम्, अनादिनिधनत्वेन सिद्धत्वात्।

आचार्य शङ्कर ने मुण्डकोपनिषद् के वचन को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हुए अध्यात्मोपनिषद् के वचन का निराकरण किया है-

उत्पन्नेऽप्यात्मविज्ञाने प्रारब्धं नैवमुञ्चति।
इति यच्छ्रूयते शास्त्रे तन्निराक्रियतेऽधुना।।

अपरोक्षानुभूति-९०

अर्थात् शास्त्र में जो सुना जाता है कि आत्मज्ञान होने पर भी प्रारब्ध नहीं छोड़ता उसका अब निराकरण किया जाता है। आचार्य शङ्कर ने तत्त्वज्ञान के पश्चात् भी प्रारब्ध की स्थिति मानने वालों का विभिन्न तर्कों द्वारा मुख मुद्रण करने का प्रयास किया है। आचार्य शङ्कर रचित विभिन्न भाष्यों, टीकाओं तथा ग्रन्थों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता

है कि गीता एवं ब्रह्मसूत्र पर भाष्य रचना पूर्वकालिक है तथा विवेक चूड़ामणि एवं अपरोक्षानुभूति उत्तरकाल को रचनाएँ हैं, श्रीमद्भगवद्गीता के उपर्युक्त श्लोक की व्याख्या में आचार्य शङ्कर का भाष्य द्रष्टव्य है–

यथा एधांसि...काष्ठानि समिद्धः सम्यग् इद्धो दीप्तः अग्निः भस्मसाद् भस्मी–भावं कुरुते अर्जुन! ज्ञानम् एव अग्निः ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा निर्बीजीकरोति इत्यर्थः। न हि साक्षाद् एव ज्ञानाग्निः कर्माणि इन्धनवद् भस्मीकर्तुं शक्नोति, तस्मात् सम्यग्दर्शनं सर्वकर्म्मणां निर्बीजत्वे कारणम् इति अभिप्रायः। सामर्थ्याद् येन कर्मणा शरीरम् आरब्धं तद् प्रवृत्तफलत्वाद् उपभोगेन एव क्षीयते। अतो यानि अप्रवृत्तफलत्वाद् ज्ञानोत्पत्तेः प्राक् कृतानि ज्ञानसहभावीनि च अतीतानेकजन्मकृतानि च तानि एव सर्वाणि भस्मसात् कुरुते।

उपर्युक्त भाष्य से स्पष्ट है कि आचार्य शङ्कर प्रारब्ध का भोग से ही क्षय स्वीकार करते हैं, इसी प्रकार का निरूपण ब्रह्मसूत्र के 'अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वेत दवधेः' (ब्रह्मसूत्र ४।१। ११।१५) सूत्र के भाष्य में प्राप्त होता है–

पूर्वयोरधिकरणयोर्ज्ञाननिमित्तः सुकृतदुष्कृतयोर्विनाशोऽवधारितः स किमविशेषेणारब्धकार्ययोरनारब्धकार्ययोश्च भवत्युत विशेषेणानारब्ध–कार्ययोरेवेति विचार्यते। तत्र उभे उ हैवैष एते तरति (बृ. ४.४.२२) इत्येवमादि श्रुतिष्व विशेष श्रवणादविशेषेणैव क्षय इति। एवं प्राप्ते प्रत्याह अनारब्धकार्ये एव त्विति। अप्रवृत्तफले एव पूर्वे जन्मान्तरसञ्चिते अस्मिन्नपि च जन्मनि प्राग्ज्ञानोत्पत्तेः सञ्चिते सुकृतदुष्कृते ज्ञानाधिगमात् क्षीयते नत्वारब्धकार्ये साभिमुक्तफले याम्या–मेतद्ब्रह्मज्ञानायतनं जन्म निर्मितम् इतरथा हि ज्ञानादशेषकर्मक्षये सति स्थितिहेत्व–भावाज्ज्ञानप्राप्त्यनन्तरमेव क्षेममश्नुवीत।..... तस्मादनारब्धकार्ययोरेव सुकृतदुष्कृतयोर्विद्यासामर्थ्यात् क्षय इति निर्णयः।

इस सूत्र के भाष्य में भी आचार्य शङ्कर ने प्रारब्ध का भोग से ही क्षय स्वीकार किया। परन्तु विवेकचूड़ामणि एवं अपरोक्षानुभूति में तत्त्वज्ञान से प्रारब्ध के नाश का भी पुरजोर समर्थन किया है तथा इस मत का अनेक तर्कों द्वारा उपस्थापन किया है।

१.कारण–कार्य का स्वरूप– कारण–कार्य सम्बन्ध का निरूपण करते हुए आचार्य शङ्कर कहते हैं कि घट का उपादान कारण मिट्टी है, घट कार्य है , उपादान कारण रूप मिट्टी के नाश हो जाने पर कार्य रूप घट का नाश हो जाता है। उसी प्रकार अविद्या जगत् का उपादान कारण है तत्त्वज्ञान होने पर अविद्या का नाश हो जाता है। ऐसी स्थिति में उपादान कारणभूत अविद्या का ज्ञान से नाश हो जाने पर कार्य रूप जगत् की सत्ता कैसे बनी रह सकती है—

उपादानं प्रपञ्चस्य मृद्भाण्डस्येव कथ्यते।।
अज्ञानं चैव वेदान्तैस्तस्मिन्नष्टे क्व विश्वता।। अपरोक्षा ९४

२.स्वप्नप्रपञ्चवत् प्रारब्ध का अभाव:- जैसे जाग्रत पुरुष का स्वप्न में देखे गए पदार्थों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता उसी प्रकार तत्त्वज्ञान हो जाने से अविद्या का नाश हो जाता है। ज्ञानी पुरुष का अविद्याजन्य कार्यों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता -

तत्त्वज्ञानोदयादूर्ध्वं प्रारब्धं नैव विद्यते।
देहादीनामसत्यत्वाद्यथा स्वप्नो विबोधत:।। अपरोक्षा. ९१

अर्थात् जैसे जाग्रत अवस्था में स्वप्न शरीर भासमान मिथ्या का है इसी प्रकार आत्मज्ञान होने पर सकल भासमान जगत् ही मिथ्या है आत्मज्ञानी के लिए ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं । अत: जाग्रत या ज्ञानी पुरुष के लिए प्रारब्ध की स्थिति का कथन अनुचित है-

'उपाधितादात्म्यविहीन केवलब्रह्मात्मनैवात्मनि तिष्ठतो मुने:।
प्रारब्धसद्भावकथा न युक्ता स्वप्नार्थसम्बन्धकथेव जाग्रत:।।

विवेकचूड़ामणि ४५५

३.यथार्थ का बोध होने से भ्रम निवारण:- आचार्य शङ्कर के अनुसार जैसे मनुष्य रज्जु को भ्रमवश सर्प समझ लेता है किन्तु रज्जु का ज्ञान हो जाने पर उसके भ्रम का निवारण हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान हो जाने पर ज्ञानी के लिए प्रपञ्च शून्य हो जाता है। देह भी प्रपञ्च है तो उसके शून्य होने पर प्रारब्ध की स्थिति कैसे हो सकती है । उसी यथार्थ का आचार्य शंकर ने इस प्रकार प्रस्तुतीकरण किया है-

कर्म जन्मान्तरीयं यत्प्रारब्धमिति कीर्तितम्।
तत्तु जन्मान्तराभावात् पुंसो नैवास्ति कर्हिचित्।।

अपरोक्षा.९२

कर्म त्रिविध है सञ्चित, क्रियमाण एवं प्रारब्ध इनमें भाविदेहारम्भक कर्म सञ्चित हैं, वर्तमान देह से सम्पन्न किए जाने वाले कर्म क्रियामाण हैं तथा वर्तमान देह के प्रारम्भक कर्म प्रारब्ध हैं। तत्त्वबोध होने पर जन्मान्तर ही शून्यरूप हो जाते हैं ऐसी स्थिति में न तो पहले जन्म हुआ, न अब जन्म है व न ही भविष्य में जन्म होगा। यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है कि यदि प्रारब्ध नष्ट हो जाता है तो ज्ञानी की देह क्यों दिखाई देती है। इसका समाधान स्वयं आचार्य शङ्कर ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है-

प्रारब्ध: सिद्ध्यति तदा यदा देहात्मना स्थिति:।
देहात्मभावो नैवेष्ट: प्रारब्धं त्यजतामत:।

विवेकचूड़ामणि ४६१

अर्थात् प्रारब्ध तभी तक सिद्ध होता है जब तक देहात्मभाव में स्थिति है देहात्मभाव मुमुक्षु के लिए उचित नहीं है अतः प्रारब्ध की आस्था को छोड़ना ही उचित है किन्तु प्रारब्ध की आस्था रखने वाले अज्ञानी जनों के बोधार्थ ही ज्ञानी के प्रारब्ध का कथन श्रुति करती है–

ज्ञानेनाज्ञानकार्यस्य समूलस्य लयो यदि।
तिष्ठत्ययं कथं देह इति शङ्कावतो जडान्।
समाधातुं बाह्यदृष्ट्या प्रारब्धं वदति श्रुतिः।
न तु देहादि सत्यत्वबोधनाय विपश्चिताम्।
यतः श्रुतेरभिप्रायः परमार्थैकगोचरः।।

विवेकचूड़ा ४६३–४६४

देहस्यापि प्रपञ्चत्वात् प्रारब्धावस्थितिः कुतः।
अज्ञानिजनबोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः।।

अपरोक्षा. ९७

४. बहुवचन का प्रयोगः– श्रुतिवचन 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' में बहुवचन का प्रयोग तीनों कर्मो के क्षय का कथन करता है। यदि प्रारब्ध नाश का अभिप्राय नहीं होता तो बहुवचन का प्रयोग भी नहीं होता क्योंकि श्रुति वचन शब्द प्रधान है न कि अर्थ प्रधान। ऐसी स्थिति में 'कर्माणि' में प्रयुक्त बहुत्व के स्थान पर स्वाभिप्राय द्विवचन का प्रयोग श्लाघनीय नहीं है। आचार्य शंकर ने भी इसका अनुमोदन किया है–

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।
बहुत्वं तन्निषेधार्थं श्रुत्या गीतं च तत्स्फुटम्।।

अपरोक्षा. ९८

५.अद्वैतसिद्धान्त की रक्षाः– आचार्य शङ्कर अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन करते हैं अतः यदि अज्ञानी जनों द्वारा प्रतिपादित ज्ञानी के प्रारब्ध को स्वीकार किया गया तो प्रारब्धरूप द्वैत के होने पर मोक्षभाव एवं ज्ञान सम्प्रदाय के उच्छेदरूप से अनर्थ उपस्थित होंगे तथा अद्वैत मत की हानि होगी–

उच्यतेऽज्ञैर्बलाच्चैतत्तदानर्थद्वयागमः।
वेदान्तमतहानं च यतो ज्ञानमिति श्रुतिः।।

अपरोक्षा. ९९

श्रुति ने ज्ञान से ही मोक्ष माना है अतः प्रारब्ध मानने पर अद्वैत मत की हानि है अर्थात् अखण्डत्व, अपरिच्छिन्नत्व, परिपूर्णत्व एवं अद्वितीयत्व की हानि होनी है तथा मोक्ष भी सिद्ध नहीं होगा। इसके अतिरिक्त ज्ञानी के लिए जन्मान्तर का ही अभाव हो जाता है क्योंकि जगत् रूप प्रपञ्च का उसके लिए सर्वथा अभाव हो जाता है ऐसी स्थिति में जन्मान्तर

में किए गए जिन कर्मों को प्रारब्ध कहा गया है उनका ज्ञानी के साथ किसी भी प्रकार का कोई सम्बन्ध कैसे होगा? अतः ज्ञानी के लिए सकल कर्मों का नाश मानना ही उचित है। शिव गीता भी इसी मत का समर्थन करती है-

मोक्षस्य न हि वासोऽस्ति ग्रामान्तरमेव वा।
अज्ञानहृदयग्रन्थिनाशो मोक्ष इति स्मृतः।।

(अष्टावक्र ज्ञानामृत पृष्ठ संख्या २७)

अष्टावक्रगीता में भी बन्धन का कारण बन्धनमति को माना गया है-

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवति।।

अष्टावक्र.

अष्टावक्र भी अद्वैत के प्रतिपादक हैं तथा एक ही अखण्ड तत्त्व को स्वीकार करते हैं-

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः।
असंगो निःस्पृहः शान्ता भ्रमात् संसारवानिव।

अष्टावक्र १.१२

अद्वैतवादी मोक्षकाल में कर्मों का अत्यन्त अभाव मानते हैं किन्तु ज्ञान कर्म समुच्चयवादी पण्डित मधुसूदन ओझा ने इसका खण्डन किया है-

यत्तु कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्ष इति शङ्कराचार्योमास्वामि प्रभृतयो दार्शनिकाः प्रतिजानते, तदेतदश्रद्धेयं मन्यामहे। (विज्ञान विद्युत् पृ.सं. ८४ कर्मात्यन्त निवृत्ति खण्डनम्)

पण्डित ओझा के मत में अव्ययात्मा ज्ञानकर्मोभयरूप है अतः ज्ञान व कर्म की अत्यन्त निवृत्ति अवैज्ञानिक है, क्योंकि बल, रस में नित्य उत्पन्न व विनष्ट होने के कारण प्रवाह रूप से नित्य है तथा बलों के अभाव से युक्त रस की कल्पना संगत नहीं है ये दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध से अस्तित्व है-

उभयोरप्यनयोः सदसतोरमृतमृत्युसंज्ञयो रसबलयोः परस्परेणाविनाभूतत्वात्। तस्माद् हृदयग्रन्थिभेदनाद्बलबन्धमोक्ष एव मोक्षः प्रतिपत्तव्यः। तत्र हि मोक्षे चिति सम्बन्ध एव बलानां निषिध्यते।

।।इति शुभम्।।

पण्डित मधुसूदनओझा के गीता विज्ञानभाष्य का वैशिष्ट्य

प्रो. सत्यप्रकाश दुबे
आचार्य एवम् अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

भारतीय चिन्तनधारा में उपनिषद्, भगवद्गीता एवं ब्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त हैं। इनमें जहाँ उपनिषद् पराविद्या तथा ब्रह्मविद्या एवं ब्रह्मसूत्र सम्पूर्ण वेदान्तसिद्धान्तों के आकार ग्रन्थ हैं, वहाँ श्रीमद्भगवद्गीता भक्ति, ज्ञान और कर्म की पावन त्रिवेणी के रूप में वेदान्त तथा उपनिषदों के यथार्थ तत्त्व की संरक्षिका है, ज्ञान-सरोवर में कल्लोल करने वाली कपिल मुनि प्रोक्त सांख्य एवं योगतत्त्व की सहोदरा है तथा निष्काम कर्म की प्रकाशिका है—

गीताशास्त्र पुराणतत्त्वजननी धर्मद्रुमोल्लासिनी
वेदान्तोपनिषद्रहस्यमवनी ज्ञानाम्बुकल्लोलिनी।.
गीता कापिलसाङ्ख्ययोगभगिनी निष्कर्मविद्योतिनी
भक्तिज्ञानविरागकर्ममथनी सत्कर्मसम्बोधिनी।।

कुरुक्षेत्र जैसे युद्धक्षेत्र के द्वारा भी धर्मक्षेत्र के स्वरूप को प्राप्त कर उसमें गीता जैसे शास्त्र का जन्म हो जाना एक सुखद आश्चर्य है। अतः गीताशास्त्र जैसे महनीय ग्रन्थ की इस जन्मस्थली पर विहङ्गम दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है—

अद्भुत दृश्य है, कुरुक्षेत्र में एक विश्वयुद्ध होने जा रहा है। दो पक्ष की सेनायें आमने-सामने युद्ध करने के लिए खड़ी हैं। युद्ध के आरम्भ करने की घोषणा के लिए बड़े योद्धाओं ने शङ्खनाद कर दिया है। सभी इसी आशा में है कि अगले ही क्षण घमासान युद्ध आरम्भ हो जायेगा। लेकिन इसी बीच पाण्डव पक्ष के सबसे बड़े योद्धा अर्जुन एक समस्या खड़ी कर देते हैं। वह समस्या भी शास्त्रीय न होकर एकदम व्यावहारिक है। उस समस्या का समाधान रथ में बैठे-बैठे ही रथ चलाने वाले सारथी श्रीकृष्ण दे डालते हैं और वह समाधान ही शास्त्र बन जाता है, जिसे 'गीता' कहा जाता है और जिसके लिए यह घोषणा कर दी गई है कि यदि मनुष्य इस गीता-शास्त्र को ठीक से समझ ले तो फिर उसे

किसी दूसरे ग्रन्थ के पढ़ने की आवश्यकता नहीं है—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।...
वज्रादप्यधिके कठोरहृदये कारुण्यसम्पूरिते
क्षुद्रं दुर्बलभावमप्युपगते कम्पायमानेऽर्जुने।
कृष्णः कर्मकलापकर्षणगुरुर्गीतां तदा प्रोक्तवान्
यां ज्ञात्वा सहसा तरन्ति मनुजा दुर्धर्षमोहार्णवम्।।

कविता की भाषा में यहाँ यह भी कहा गया है कि शरीर का मैल छुड़ाने के लिए मनुष्य को प्रतिदिन जल में स्नान करना पड़ता है किन्तु यदि वह एक बार गीता के जल में अवगाहन कर ले तो उसके समस्त सांसारिक मैल सदा-सर्वदा के लिए छूट जाते हैं—

मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने-दिने।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्।।

ध्यान देने की बात यह है कि गीता युद्ध क्षेत्र में सुनाई जा रही है। किसी मठ या मन्दिर में नहीं। गीता का सुनने वाला एक योद्धा है, कोई मुमुक्षु या ब्रह्म जिज्ञासु नहीं और वह जो प्रश्न उठा रहा है, वह कोई गूढ़ दार्शनिक प्रश्न नहीं है अपितु एकदम व्यावहारिक जगत् का प्रश्न है। अर्जुन का प्रश्न यह है कि क्या अपने भाई-बन्धुओं के रक्त से रञ्जित राज्य को प्राप्त करने की अपेक्षा भिक्षा करके जीवन यापन करना अधिक उचित नहीं होगा? इस बिल्कुल व्यावहारिक प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण जो कुछ कहते हैं वह गीता बन जाता है—

रे रे पार्थ वृथा पृथातनयतां मा त्वं कृथा साम्प्रतं
कर्तव्यं निजमाशु पालय सखे। क्लैब्यं वृथा मा गमः।।
न्याय्यं युद्धमिदं स्वयं ह्युपगतं स्वर्गार्गलोद्घाटकं
धर्म्ये चापि रणे हता नरवरा गच्छन्ति देवालयम्।।
आत्मा नैव निहन्यते शरशतैर्नायं परान् हन्ति वा,
नो वा चण्डदवानलैरपि पुरा दग्धोऽधुना दह्यते।
नित्यः शाश्वतनिर्विकल्पधवलो निर्लेपर्निद्वन्द्ववान्,
नैवादिर्न कुतश्चनापि निधनः स्थाता स्थितस्तिष्ठति।।

यह सब कहने का हमारा प्रयोजन यही है कि गीता की भूमिका में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे सामान्यतः हम धर्म के नाम से जोड़ कर देखा करते हैं। अरे! किसी युद्धभूमि में रथ के अन्दर बैठे रथी और सारथी आपस में बात करें तो कौन विश्वास करेगा कि वे आत्मा की, धर्म की चर्चा कर रहे होङ्गे। लेकिन गीता में यही हुआ है। गीता ने धर्म को तथाकथित धर्मस्थानों की चारदीवारी से बाहर लाकर जीवन के सङ्घर्ष से जोड़ दिया है—

कुर्वन्त्येव कृष्णीवला प्रतिदिनं क्षेत्रस्य सङ्कर्षणं
धान्यं भूरि वपन्ति क्लृप्तसमये सिञ्चन्ति सद्वारिभिः।

लाभालाभकरो जगत्त्रयविभुरीशो हि तैर्मन्यते
कर्मण्येव तथा जनोऽप्यधिकृतो लाभे जगन्नायकः।।

अर्जुन के सामने जो समस्या है, वह सम्पूर्ण मानव जाति की समस्या है, इसलिए तथाकथित जाति, धर्म, सम्प्रदाय के कारा को तोड़कर हम सबको गीता पढ़ने का पूरा अधिकार है क्योंकि—

गीता ज्ञानमयी कुकर्मदमनी सत्कर्मप्रोद्भासिनी
द्वैतध्वान्तनिवारणैकतरणिश्चात्मार्थ- सञ्जीवनी।
दुःखद्वन्द्वदवानलप्रशमनी संसारसारस्वती
माद्यच्चित्तकरीन्द्रमानमथनी गीताभवाब्धौ तरी।।

राष्ट्रपिता महात्मा गान्धी के शब्दों में कहें तो, 'जब मुझे शङ्कायें घेरती हैं, निराशायें मेरा सामना करती हैं और मुझे कोई ज्योति की किरण दृष्टिगोचर नहीं होती, उस समय मैं गीता की ओर ध्यान देता हूँ। उसमें कोई न कोई श्लोक मुझे शान्तिदायक अवश्य मिल जाता है और उस घोर शोकाकुल अवस्था में मैं तुरन्त मुस्कुराने लगता हूँ।...जो इस माता की शरण ग्रहण करता है, उसे वह ज्ञानामृत से तृप्त करती है।

गीता को शास्त्र कहा गया है— गीताशास्त्रमिदं...। किन्तु स्वयं गीता अपने को उपनिषद् कहती है। यद्यपि प्रचलित परम्परा का अनुकरण करते हुए हमने भी 'गीता' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु इसका वास्तविक नाम 'भगवद्गीतोपनिषद्' है। इसका शब्दार्थ है— भगवान् के द्वारा गायी गयी उपनिषद्। स्वयं गीता शब्द का अर्थ है– गायी गयी। यह एक विशेषण है, संज्ञा उपनिषद् है। विशेषण का उपयोग संज्ञा (विशेष्य) के साथ ही होता है लेकिन 'गीता' विशेषण होकर भी स्वतन्त्र रूप में संज्ञा की तरह प्रयुक्त होने लगता है। संक्षेप की दृष्टि से ऐसा हो गया है। वस्तुतः इसका पूरा नाम 'भगवद्गीता' उपनिषद् ही है। इस नाम में तीन शब्द हैं—भगवत् गीता और उपनिषद्। इन तीनों ही शब्दों पर विचार करना आवश्यक है।

भगवत् – भगवान् के द्वारा गायी गयी उपनिषद् कहते समय हम कृष्ण को भगवान् कह रहे हैं। कृष्ण हमारी तरह मनुष्य थे फिर उन्हें भगवान् क्यों कहा जा रहा है। यह समझने के लिए हमें भगवान् शब्द का अर्थ समझना आवश्यक है। 'भग' का अर्थ है जिससे मनुष्य में भा अथवा तेज से युक्त हो जाए। शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य में भग अर्थात् तेज छः शक्तियों से युक्त होता है—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा।।

यों तो छः ही शब्द प्रसिद्ध हैं और इनको जानकर कोई भी व्यक्ति सहमत हो जाएगा कि इन छः शक्तियों के कारण ही मनुष्य तेजस्वी बनता है किन्तु फिर भी इन छः शक्तियों

का थोड़ा सा विवरण जान लेना उपयोगी होगा। इन छः ओं शक्तियों में प्रथम **ऐश्वर्य** है। ऐश्वर्य का सम्बन्ध ईश्वर से है। उपनिषद् कहते हैं कि ईश्वर का ऐश्वर्य यह है कि वह अणु से भी अणु और महान् से भी महान् है। **अणोरणीयान् महतो महीयान्** पातञ्जलयोगसूत्र में ऐसे आठ ऐश्वर्य बताये गये हैं, जिनमें पहला ऐश्वर्य है अणिमा अर्थात् अपने को छोटा बना लेना, महिमा अर्थात् बड़ा बना लेना, गरिमा = बोझिल बना लेना, लघिमा अर्थात् हल्का बना लेना, प्राप्ति अर्थात् दूरस्थ पदार्थ को प्राप्त कर लेना, प्राकाम्य अर्थात् किसी भी स्थान पर रुकावटों को तोड़ते हुए जा सकना, ईशित्व अर्थात् दूसरों में मन चाहा परिवर्तन कर लेना और वशित्व अर्थात् किसी को भी अपने वश में कर लेना— ये आठ सिद्धियाँ ही ऐश्वर्य कहलाती हैं। पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र के विभूतिपाद में इन सिद्धियों की प्राप्ति के उपाय भी बताये हैं। कृष्ण में ये आठों सिद्धियाँ थीं इसलिए उन्हें ऐश्वर्य सम्पन्न कहा जाता है। कृष्ण के जीवन में जितनी अलौकिक घटनायें हुई हैं उन सबका आधार उनका योगबल ही है। इसलिए योगाचार्य तो कोई भी बन सकता है किन्तु योगेश्वर तो भगवान् कृष्ण ही हैं।

इसी प्रकार 'भग' अर्थात् तेज को प्रदान करने वाला दूसरा तत्त्व **धर्म** है। धर्म के दो रूप हैं— आत्मधर्म और व्यवहारधर्म। कृष्ण का तो अवतरण ही धर्म की संस्थापना के लिए हुआ था— **धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवानि युगे युगे।।** वे ऐश्वर्य के साथ धर्म से भी जुड़े थे। कृष्ण का **यश** सर्वत्र फैला हुआ है और उनकी **श्री** अथवा **शोभा** का यह रूप है कि—**मधुराधिपतेरखिलं मधुरम्।** उनका **ज्ञान** 'गीता' जैसे ग्रन्थ में पद-पद पर प्रकट होता है और उनका **वैराग्य** इसी से जाना जा सकता है कि उन्होंने कंस आदि अनेक राजाओं को मारकर भी उनके राज्य पर अधिकार नहीं किया। वैराग्य शक्ति के कारण मनुष्य सांसारिक सम्पदा को तुच्छ समझता है, यह उसकी परम सम्पन्नता का सूचक है। यहाँ अभी ज्ञान के सम्बन्ध में कहा गया। यह ज्ञान तीन प्रकार का होता है— प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर होने वाला ज्ञान, जिसे यह ज्ञान होता है उसे हम ऋषि कहते हैं। यदि यह ज्ञान अलौकिक विषय का हो तो ज्ञानयुक्त व्यक्ति ऋषि कहलाता है, किन्तु यदि यह ज्ञान लौकिक विषय का हो तो वह ऋषि तो नहीं कहलाता है किन्तु यथार्थवक्ता होने से वह आप्त पुरुष अवश्य कहलाता है और उस विषय में उस व्यक्ति का वचन भी प्रमाण माना जाता है। 'न्यायसूत्र' पर भाष्य लिखते समय वात्स्यायन ने कहा है कि अपने-अपने विषय के आप्त पुरुष आर्य ही नहीं, म्लेच्छ भी होते हैं क्योंकि ज्ञान किसी की बपौती नहीं है। जो भी अनुभव के द्वारा जान लेगा वही प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। ऋषियों ने इन अलौकिक विषयों का ज्ञान किया और उन्होंने जब उस ज्ञान को कहा तो हमने सुना, इसलिए वे शब्द 'श्रुति' कहलाये। जब हमने उस सुने हुए ज्ञान को आगे लोगों में बाँटा तो उसका आधार हमारी स्मृति थी। अतः हमारा ज्ञान

'स्मृति' कहलाया। यह तो प्रत्यक्ष ज्ञान का विस्तार हुआ किन्तु जब हम तर्क के द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं तो वह दर्शन कहलाता है। इस कसौटी पर कसें तो यह स्पष्ट होगा कि गीता के ज्ञान का स्वयं कृष्ण ने साक्षात्कार किया था इसलिए भले ही परम्परा गीता को श्रुति न कहती हो किन्तु स्वयं गीता अपने को उपनिषद् अर्थात् श्रुति ही कहती है स्मृति या दर्शन नहीं। किन्तु यहाँ उपनिषद् की चर्चा करने से पूर्व गीता शब्द की भी चर्चा आवश्यक है।

गीता — गीता का शब्दार्थ है–गायी हुई। यह उपनिषद् का विशेषण है। उपनिषद् शब्द संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग है अतः उसका विशेषण भी स्त्रीलिङ्ग में है। जब हम किसी वाक्य या वाक्यांश को पढ़ते हैं तो उसके पढ़ने में जितना समय लगता है उससे कहीं अधिक समय उसी वाक्य अथवा वाक्यांश को गाने में लगता है। ऋग्वेद में जब मन्त्र पढ़ा जाता है तो उसका नाम साम हो जाता है– **गीतिषु सामाख्या।** यद्यपि शब्द वही हैं तथापि उनके पढ़ने और गाने का अलग–अलग प्रभाव पड़ता है। श्रीकृष्ण ने जो कुछ कहा, वह केवल उपनिषद् नहीं थी, गायी गयी उपनिषद् थी इसलिए गीतोपनिषद् का प्रभाव अन्य उपनिषदों से बढ़कर है।

गीता शब्द (गै शब्दे) शब्दार्थक गै धातु से निष्पन्न है। फलतः गीता अर्थात् कथिता, प्रोक्ता, शब्दिता, उक्ता यह यौगिकार्थ ही सिद्ध होता है। चूँकि इस शास्त्र में जितनी भी उपनिषदें हैं वे सब श्रीकृष्ण के द्वारा गायी गयी हैं इसी का एकमात्र हेतु होने से इसे गीता कहा गया है— **या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिःसृता।**

इसे हम एक चमत्कार ही कहेंगे कि यहाँ यौगिक अर्थ के वाचक अनेक शब्दों के होने पर भी 'गीता' शब्द का ही प्रयोग किया गया। इसके सम्बन्ध में पं. ओझा के प्रधान शिष्य पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने गम्भीर चिन्तन किया है। यहाँ उनके कथन का आशय यह है कि वागिन्द्रिय से शब्द के बाहर निकलने का नाम ही शब्द व्यवहार या शब्द कथन है। इस शब्द व्यवहार का वाक्तत्त्व से गहरा सम्बन्ध है। वाक् समुद्र में जो तरङ्गें उत्पन्न होती हैं हमारे प्रज्ञान मन से परिगृहीत वे तरङ्गें ही शब्दवाक् को जन्म देती हैं। यही शब्दवाक् 'श्रुति' कहलाती है। इसी प्रकार हम जो शब्द मुख से बोलते हैं उनकी जननी भी वाक् ही है। लोम और नखाग्रों को छोड़कर हमारे सर्वाङ्ग शरीर में वैश्वानर अग्नि की सत्ता है। यह वैश्वानराग्नि ही **'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषद्'** (शत.ब्रा. १०/५/१/१) के अनुसार वाक् कहा जाता है। यही वागाग्नि मन की प्रेरणा से वायु द्वारा प्रत्याहत होकर तत्तत् स्थानों से सम्पर्क को प्राप्त करके शब्दरूप में परिणत होती है।

गीताशास्त्र चूँकि वाङ्मय है, शब्दवाक् प्रधान है। श्रुति से सम्बन्धित उपनिषदों का विज्ञानवाक् से सम्बन्ध है। अतः इसी वाक्भाव को सूचित करने के लिए यहाँ अन्य शब्दों से न कह कर 'गीता' शब्द से निर्देश किया है।

उपनिषत् — उपनिषत् शब्द 'उप' तथा 'नि' उपसर्गपूर्वक 'षद्' धातु से निष्पन्न हुआ

है। यहाँ उप का अर्थ समीप, नि का अर्थ निश्चय तथा षद् का अर्थ प्रतिष्ठा है। इस तरह 'उपनिषीदति यया' इस निर्वचन द्वारा जिस मूलभूत उपपत्ति के आधार पर आत्मा जिस विषय के समीप निश्चित रूप से बैठ जाता है वह ही उपनिषद् है। यह गीताशास्त्र हमें कर्म एवं ज्ञान की वास्तविक उपनिषद् को बतलाता हुआ ज्ञानमय कर्म में प्रवृत्त करता है। यह गीताशास्त्र ज्ञान अर्थात् बुद्धियोग के मौलिक रहस्य का उद्घाटन करता है जिससे हमारी आत्मा उस बुद्धियोग के समीप (उप) निश्चय (नि) रूप में बैठ (षत्) जाता है, इसीलिए बुद्धियोग का प्रतिपादन करने वाली गीता उपनिषद् है।

यहाँ यह अवधेय है कि श्रौती उपनिषद् एवं स्मार्ती गीतोपनिषद् में विज्ञान की दृष्टि से समानता होने पर भी वाक्दृष्टि से अन्तर होने के कारण इसे अपौरुषेय नहीं कहा गया। चूँकि श्रौती उपनिषद् का सम्बन्ध विज्ञानवाक् से तथा स्मार्ती गीतोपनिषद् का सम्बन्ध शब्दवाक् से है इसलिए गीता के श्लोक मन्त्र न कहे जाकर श्लोक शब्द से सम्बोधित किए जाते हैं। मन्त्रवाक् का शब्द भी कामनाओं की पूर्ति करता है किन्तु शब्दवाक् का अर्थ ही मुख्य रूप से फलप्रद होता है इसलिए गीता महात्म्य में गीता के पारायण के महत्त्व का वर्णन होने पर भी उसके अर्थानुसरण को विशेष लाभप्रद बताया गया है। उदाहरणतः गीता का बुद्धियोग शब्द के सुनने या पारायण से हमारा कल्याण सम्भव नहीं है अपितु इसके लिए हमें बुद्धियोग सम्पत्ति प्राप्त करनी पड़ेगी। इस तरह विज्ञानवाक् और शब्दवाक् के इसी अन्तर के कारण गीतोपनिषद् को श्रौती उपनिषद् से भिन्न स्मार्ती उपनिषद् कहा गया है।

भग सम्पत्ति को प्रदान करने वाला यह गीताशास्त्र मन्वादिस्मृतियों की तरह केवल विधि-निषेधात्मक शास्त्र न होकर श्रुति की तरह अपने रहस्य ज्ञान का प्रतिपादन करने वाला है। फलतः अपने विधि-निषेध भावों के कारण जहाँ गीता की स्मृति रूप में गणना की गई है वहीं श्रौती उपनिषद् की शैली में रहस्य का प्रतिपादक होने से यह उपनिषद् रूप भी मानी गई है। इस तरह गीता से भगवत् प्राप्ति होती है इसलिए यह भगवत् है, शब्दवाक् होने से यह गीता है तथा रहस्य का प्रतिपादक होने से यह उपनिषद् है। इस तरह 'भगवद्गीतोपनिषद्' नाम का निष्कर्ष है— **'भगवत्प्राप्त्युपायभूतशब्दवाङ्मयरहस्यशास्त्र'** यह इस नाम की अलग व्याख्या पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने प्रस्तुत की है।

पण्डित मधुसूदन ओझाकृत विज्ञानभाष्य का वैशिष्ट्यः

यह स्पष्ट है कि श्रीमद्भगवद्गीता प्रस्थानत्रयी की हृदयरूपा है। 'सर्वशास्त्रमयी गीता' वचन से इसकी सर्वशास्त्रमयता के कारण तथा भगवान् श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से विनिःसृत होने के कारण इस ग्रन्थ पर सर्वाधिक भाष्य, टीका, व्याख्यायें तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं में अनुवाद उपलब्ध हैं, जिनमें अभिनव गुप्त पादाचार्य विरचित 'भगवद्गीतार्थसंग्रह' नामक बुद्धियोग निरूपिका व्याख्या विलक्षण है।

प्राचीन व्याख्या एवं भाष्यकारों ने गीता के १८ अध्यायों को जो ६-६-६ अध्यायों के क्रम से तीन भागों में विभक्त करते हुए उन्हें ज्ञान-भक्ति एवं कर्म का प्रतिपादक माना

प्राचीन दृष्टिसम्मत विषयविभाग

ज्ञानकाण्डम् १	१. विषादयोग : ..... ४७ २. सांख्ययोग : ..... ७२ ३. कर्मयोग : ..... ४३ ४. ज्ञानकर्मसंन्यासयोग : ..... ४२ ५. कर्मसंन्यासयोग : ..... २९ ६. आत्मसंयमयोग : ४७	२८०	ज्ञानयोगप्रतिपादिका षडध्यायी	सांख्यनिष्ठा
भक्तिकाण्डम् २	७. (१) ज्ञानविज्ञानयोग : ..... ३० ८. (२) अक्षरब्रह्मयोग : ..... २८ ९. (३) राजगुह्ययोग : ..... ३४ १०. (४) विभूतियोग : ..... ४२ ११. (५) विश्वरूपदर्शनयोग : ..... ५५ १२. (६) भक्तियोग : २०	२०९	भक्तियोगप्रतिपादिका षडध्यायी	भक्तिनिष्ठा
कर्मकाण्डम् ३	१३. (१) प्रकृतिपुरुषविभागयोग : ..... ३४ १४. (२) गुणत्रयविभागयोग : ..... २७ १५. (३) पुरुषोत्तमयोग : ..... २० १६. (४) देवासुर सम्पत्तियोग : ..... २४ १७. (५) श्रद्धात्रययोग : ..... २८ १८. (६) संन्यासयोगः ७८	२११	कर्मयोगप्रतिपादिका षडध्यायी	योगनिष्ठा
स एष गीताशास्त्र निष्कर्षो दार्शनिकः		७००		

इनमें भी कतिपय भाष्यकार सम्पूर्ण गीताशास्त्र को विशुद्ध ज्ञान योग का निरूपक, कतिपय सम्प्रदायानुयायी इसे विशुद्ध भक्तियोग का प्रतिपादक एवं कतिपय राष्ट्रभक्त इसे केवल कर्मयोगशास्त्र के रूप में स्वीकार करते हैं। विद्यावाचस्पति पण्डित मधुसूदन ओझा की स्वयं की अलग दृष्टि है। इन्होंने सम्पूर्ण गीता शास्त्र के सात सौ श्लोकों को इतिहास और विज्ञानभेद से दो भागों में विभक्त करके ६४ श्लोकों में ऐतिहासिक विषयों के प्रतिपादन की बात तथा ६३६ श्लोकों में विज्ञान की दृष्टि से ६-२-४-६- क्रम में गीता को चार काण्डों में बाँटकर प्रथम काण्ड में राजर्षिविद्या एवं वैराग्य लक्षण बुद्धियोग का, द्वितीय काण्ड में सिद्धविद्या एवं ज्ञानलक्षणयोग बुद्धियोग का, तृतीय काण्ड में राजविद्या एवम् ऐश्वर्यलक्षण बुद्धियोग का तथा चतुर्थकाण्ड में आर्षविद्या एवं धर्मलक्षण बुद्धियोग का प्रतिपादन करने वाला माना है। गीतोपदेश की आवश्यकता क्यों? कब एवं किसके प्रति हुई? उन प्रश्नों के समाधान के लिए मौलिक विषय से कुछ भी सम्बन्ध न रखते हुए भी व्यासजी द्वारा ६४ श्लोकों को अपनी ओर से गीता के प्रारम्भ में दे दिया गया है जिसे पण्डित ओझा ने ऐतिहासिक गीता नाम दिया है तथा आगे के ६३ श्लोकों में ज्ञानगर्भित विज्ञान को दृष्टिगत करके उसे विज्ञान गीता कहा है—

गीताशास्त्रप्रकरणं द्वेधा तावद् विभज्यते।
ऐतिहासिकमस्त्यन्यदन्यद् वैज्ञानिकं पृथक्।।
चतुःषष्टिमिताः श्लोकाः इतिहासप्रसङ्गाः।।(६४)
वैज्ञानिकास्तु षट्त्रिंशत् परं षट्शत (६२६) संख्यकाः।।
...सर्वशोकशमोपाया बुद्धियोगाश्चतुर्विधाः।
वैराग्यं ज्ञानमैश्वर्यं धर्म्म इत्यभिधानतः।।
एषां चतुर्णां या विद्यास्तासां गीता प्रकाशिका।
चतुर्विधास्ता राजर्षिसिद्धराजर्षिभेदतः।।

इस तरह इतिहास के अतिरिक्त ६२६ श्लोकात्मिका विज्ञानगीता में जो विषय वर्णित है उनका पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने अपनी भाष्यभूमिका में जिस प्रकार विषय विभाजन किया है उसे मैं कृतज्ञतापूर्वक उन्हीं के शब्दों में अविकल रूप में भावी पीढ़ी के अवबोध हेतु उद्धृत कर रहा हूँ—

	प्रकरण	विद्या में उपनिषत्	उपनिषदों में उपदेश	श्लोकक्रम विभाग	
१ (१)	ऐतिहासिकसन्दर्भप्रकरण	०	०	५९	६४
१ (२)	चातुर्विद्योपक्रमप्रकरण	१	२	५	
१ (३)	रागद्वेषविनाशकवैराग्यबुद्धियो-१ गलक्षण राजर्षिविद्याप्रकरण	८	४ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ७।७।७।३।३।५।९।९।	२१६	६१४
३ (४)	संमोहविनाशक ज्ञानबुद्धियोग-२ लक्षण सिद्धविद्याप्रकरण	२	१९ १ २ १०।९	५८	
३ (५)	अस्मिताविनाशक ऐश्वर्यबुद्धि-३ योगलक्षणराजविद्याप्रकरण	३	३२ १ २ ३ ११।१५।६	१५१	
४ (६)	अभिनिवेशविनाशकधर्म्मबुद्धि-४ योगलक्षण आर्षविद्याप्रकरणं	७	४९ १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ९। ५। ७। ४। २०।२।२	१८९	
१ (७)	चातुर्विद्योपसंहारप्रकरण	३	८ १ २ ३ ४ २ २	१४	२२
१ (८)	ऐतिहासिक सन्दर्भप्रकरण	०	०	५	
	८	२४	१६०	७००	

विस्तृतविषयविभागप्रदर्शन—

यहाँ पूर्व में प्रस्तुत संक्षिप्त विषयविभाग को देखकर यह जिज्ञासा हो सकती है कि इन चारों विद्याओं, विद्यान्तर्गत उपनिषदों एवं उपनिषदन्तर्गत उपदेशों के द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण ने क्या विषय हमारे सामने रखा है? इस प्रश्न का यथार्थ समाधान तो स्वयं गीताविज्ञानभाष्य ही करेगा। यहाँ थोड़े विस्तार से गीता के प्रतिपाद्य विषयों का उपस्थापन किया जा रहा है—

(१) १– ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति : (१।१ से १।४६ पर्यन्त (१।४५ को छोड़कर)
(५६) ४५.....)
२।४ से २।१० पर्यन्त। एवं २।३१। से २।३७ पर्यन्त
७ ७

(२) १– चातुर्विद्योपक्रमरूपा 'लोकवृत्तोपनिषत्'
(१।४५।, १।४७, २।१।, २।२, २।३।)

१–(१)१–उपदेश–प्राकृतिकशोकप्रदर्शन— (१–उपदेश)। (१।४५, १।४७)।

२–(२)२– उपदेश– प्राकृतिकशोकनिराकरणोपक्रम–(१–उपदेश) (२।१, २।२, २।३)।

(३) राजर्षिविद्या

(३) १–वैराग्यबुद्धियोगप्रवर्तिक राजर्षिविद्याप्रथमा (८ उपनिषत्)
(२।११ से ६ अध्याय समाप्ति पर्यन्त)

(२)१– उपनिषत्– कर्म्मपरित्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा में अनुशोक व्यर्थ है। (२।११ से २।३० पर्यन्त) एवं २।३८।

(३)२– उपनिषत्– बुद्धियोगी को कामासक्ति छोड़ देनी चाहिए। (२।३९ से २।७२ प.)

(४) ३– उपनिषत्– बुद्धियोगी को कर्म्म नहीं छोड़ना चाहिए। (३।१ से ३।३२ प.)

(५) ३– उपनिषत्– बुद्धियोग के विरोधी दोष छोड़ देने चाहिए। (३।३३ से ३।४३ प.)

(६) ५– उपनिषत्– बुद्धियोग श्रीकृष्ण का निजी मत है। (४।१ से ४।९ पर्यन्त)

(७) ६– उपनिषत्– बुद्धियोग से विरोध न रखने वाले ज्ञान–कर्मो में प्रवृत्त रहना चाहिए। (४।१० से ४।४२ पर्यन्त)।

(८) ७– उपनिषत्– बुद्धियोग में ज्ञान–कर्म्म दोनों का समावेश है। (५।१ से ६।९ प.)

(९) ८– उपनिषत्– बुद्धियोग साधक को कर्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। (६।१० से ६।४७ प.)।

१. कर्म्मपरित्यागलक्षण सांख्यनिष्ठा में अनुशोक व्यर्थ है। (७–उपदेश)

१— (३) १–उपदेश : लौकिक कर्मों से बहिर्भूत, असङ्ग आत्मा (अव्यय, सर्वथा

नित्य है।) देहधारण एवं देह परित्याग का उस पर कोई असर नहीं होता। ऐसी दशा में शरीरविनाश के भय से युद्धादि लौकिक कर्म छोड़ना अच्छा नहीं। २।११।, २।१२, २।१३।

२— (४) २-उपदेश : शरीर के विद्यमान रहने पर प्रज्ञा-प्राण-भूतमात्राओं के संसर्ग से आक्रमण करने वाले सुख-दुःखों की आवश्यक प्रवृत्ति को जब हम रोकने में असमर्थ हैं तो ऐसी दशा में इनसे शोकाकुलित होना मूर्खता है। (२।१४।, २।१५।, २।१६)

३— (५) ३-उपदेश : आत्मा का कभी नाश नहीं हो सकता, शरीर कभी नित्य बन नहीं सकता, ऐसी दशा में अनित्य शरीरनाश के भय से शोक करना व्यर्थ है। (२।१७।, २।१८, २।१९)।

४— (६) ४-उपदेश : अव्ययात्मा में क्षर-अक्षर नाम की प्रकृतियों से जन्म-मृत्यु का प्रवाह नित्य प्रवाहित रहता है। परन्तु अव्यय इस प्रवाह में रहता हुआ भी निर्विकार है। फलतः शोक करना व्यर्थ है। (२।२०।२।२१।२।२२)

५— (७) ५-उपदेश : अव्ययात्मा गुण-अणु-महाभूतों से सर्वथा पृथक् है। ये पदार्थ नश्वर हैं। जब वह इनसे अतीत है तो उसका नाश असम्भव है। फलतः नाशप्रयुक्त शोक करना व्यर्थ है। (२।२३, २।२४, २।२५)।

६— (८) ६-उपदेश : जन्म-मृत्युधर्मों से युक्त भोक्तात्मा में रहने वाले जन्म-मृत्यु-सुख दुःखादि द्वन्द्वभावों को जब रोका नहीं जा सकता तो इनके लिए शोक व्यर्थ है। (२।२६, २।२७, २।२८)।

७— (९) ७-उपदेश : नित्य, आत्मा, अनित्य शरीर-असङ्ग आत्मा, ससङ्ग शरीर दोनों का सम्बन्ध बन नही सकता, परन्तु बन रहा है, यह सचमुच एक आश्चर्य का विषय है। परन्तु इस सम्बन्ध में इतना निश्चित है कि आत्मा का कभी वध नहीं किया जा सकता। फलतः ज्ञानयोगी (सांख्यनिष्ठ) की दृष्टि में शरीरनाशभयजनित शोक का कोई महत्त्व नहीं रहता। (२।२९, २।३०।, २।३८।)।

सप्तोपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त

२. बुद्धियागी को कामासक्ति छोड़ देनी चाहिए (७-उपदेश)

८-(१०) १-उपदेश- कर्मत्यागलक्षण ज्ञानयोग की अपेक्षा फलत्यागलक्षण बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ समझना चाहिए। (२।३९, २।४०, २।४१)

९-(११) २-उपदेश- फल कामासक्तिप्रधान उत्तम वैदिक कर्म भी बन्धन के ही कारण हैं। अतः इनका अनुष्ठान फल कामासक्ति छोड़कर ही करना चाहिए। (२।४२ से २।४६)

१०-(१२) ३-उपदेश- फलकामासक्ति छोड़कर किया हुआ आधिकारिक कर्म बुद्धियोग का उपोद्बलक बनता हुआ ग्राह्य है। (२।४७ से २५१)

११-(१३) ४-उपदेश- बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त करने के लिए अपनी प्रज्ञा को स्थिर करना आवश्यक है। (२।५२, २।५३)

१२-(१४) ५-उपदेश- वैराग्यबुद्धियोग सम्बन्धिनी स्थितप्रज्ञता के ६ स्वरूप हैं।

(२।५४ से २।६१)

१३–(१५) ६–उपदेश– सङ्ग, काम, क्रोध, सम्मोह, स्मृतिभ्रंश यह सब बुद्धियोग के विरोधी धर्म हैं। (२।६२, २।६३)

१४–(१६) ७–उपदेश– रागद्वेषजनित वासना जब बुद्धियोग के प्रभाव से नष्ट हो जाती है तो उस समय वह योगी ब्राह्मी स्थिति में प्रतिष्ठित हो जाता है। (२।६४ से २।७२) (द्वितीयाध्याय समाप्त)

सप्तोपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त

३. बुद्धियोगी को कर्म नहीं छोड़ना चाहिए। (७–उपदेश)

१५–(१७) १–उपदेश– कर्मसंन्यासलक्षण संन्यास (ज्ञानयोग), एवं कर्म्मारम्भलक्षण योग (कर्मयोग) दोनों में बुद्धियोग नाम का योग ही श्रेष्ठ है। (३।१, ३।२, ३।३)।

१६–(१८) २–उपदेश–६ अव्यर्थ हेतुओं के कारण कर्म का परित्याग नहीं किया जा सकता। (३।४।, ३।५।, ३।६।, ३।७।, ३।८।)।

१७–(१९) ३–उपदेश– यज्ञकर्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। (३।९ से ३।१६)

१८–(२०) ४–उपदेश– उपेक्षाबुद्धि से किए कर्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। (३।१७ से ३।२०)।

१९–(२१) ५–उपदेश– लोकसंग्रहदृष्टि से किए गए कर्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। (३।२०। से ३।२६।)।

२०–(२२) ६–उपदेश– प्राकृतिक कर्म कभी बन्धन के कारण नहीं बनते। (३।२७। से ३।३०)।

२१–(२३) ७–उपदेश– हमारी (भगवान् की) दृष्टि में कर्म का परित्याग कभी नहीं करना चाहिए। (३।३१।, ३।३२।)

सप्तोदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त

४. बुद्धियोग के विरोधी दोष छोड़ देने चाहिए। (३–उपदेश)

२२–(२४) १–उपदेश– राग-द्वेष बुद्धियोग के महा प्रतिबन्धक हैं। इन का परित्याग करना चाहिए। (३।३३।, ३।३४।, ३।३५।)।

२३–(२५) २–उपदेश– राग-द्वेष के आक्रमण से अव्यय की ज्ञानज्योति मलिन बन जाती है। फलतः ऐसा व्यक्ति बुरे कर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। (३।३६। से ३।४०)।

२४–(२६) ३–उपदेश– इन्द्रिय, मन, बुद्धि भावों के संयम से राग-द्वेषादि बुद्धियोग के प्रतिबन्धक धर्म नष्ट हो जाते हैं। (३।४१।, ३।४२।, ३।४२)।

तृतीय अध्याय समाप्त

त्र्युपदेशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त।

५– बुद्धियोग भगवान् कृष्ण का अपना मत है। (३–उपदेश)

२५-(२७) १-उपदेश- इस बुद्धियोग के प्रथम द्रष्टा भगवान् कृष्ण हैं। (४।१।, ४।२।, ४।३।)

२५ (२८) २-उपदेश- अनेक विग्रह धारण करने वाले कृष्ण चूँकि अच्युत भगवान् थे, अतएव विश्वास करना चाहिए कि उन्हें पूर्व जन्मों की सारी परिस्थिति विदित थी। (४।४।, ४।५।)

२६ (२९) ३-उपदेश- भगवान् कृष्ण आधिकारिक पुरुष थे। अतएव इन्हें सामान्य मनुष्य न समझ कर अव्यय का अवतार समझना चाहिए। (४।६। से ४।९।)।

त्र्युपदेशयुक्ता ५ उपनिषत् समाप्त

६- बुद्धियोग से विरोध न रखने वाले ज्ञान-कर्म में प्रवृत्त रहना चाहिए। (५ उपदेश)

२८- (३०) १-उपदेश- अव्ययात्मा का अनुगमन करने वाले ज्ञान-कर्म्म-भक्ति तीनों ही योग उपादेय हैं। (४।१०।, ४।११।, ४।१२)।

२९- (३०) २-उपदेश- चातुर्वर्ण्य कर्मों का चूँकि अव्ययात्मा से सम्बन्ध है, अतः इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए। (४।१३।, ४।१४।, ४।१५)।

३०- (३२) ३-उपदेश- निवृत्तकर्म चूँकि अव्ययात्मा के अनुगामी है, अतः इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए। (४।१६। से ४।२२।)।

३१- (३३) ४-उपदेश- १३ प्रकार के यज्ञकर्म अव्ययात्मानुगामी बनते हुए अबन्धन हैं, अतः इनमें प्रवृत्त रहना चाहिए। (४।२३। से ४।३२।)।

३२- (३४) ५-उपदेश- सम्पूर्ण यज्ञकर्मों में ज्ञानयज्ञकर्म को ही सर्वश्रेष्ठ समझना चाहिए। (४।३३। से ४।४२)।

चतुर्थ अध्याय समाप्त

पञ्चोपदेशयुक्ता ६ उपनिषत् समाप्त

७- बुद्धियोग में ज्ञान-कर्म दोनों का समावेश है। (९ उपदेश)

३३- (३५) १-उपदेश- कर्मयोग एवं ज्ञानयोग दोनों में कौन श्रेष्ठ है? यह प्रश्न विचारणीय है। (५।१।)।

३४- (३६) २-उपदेश- कर्मज्ञान दोनों का बुद्धियोग में समावेश है। अतः तीनों में इसे ही उत्तम समझना चाहिए। (५।२। से ५।१३।)।

३५- (३७) ३-उपदेश- रागद्वेषवियुक्त विशुद्ध अव्ययात्मा को सदा एक रस समझना चाहिए। (५।१४। से ५।१६।)।

३६- (३८) ४-उपदेश- सांसारिक सुख के सामने आत्मसुख को श्रेष्ठ मानकर उसी का अनुगामी बनना चाहिए। (५।१७। से ५।२२।)।

३७- (३९) ५-उपदेश- रागद्वेषविरहित आत्मयोगी ही शाश्वत आत्मानन्द के अधिकारी बनते हैं। (५।२३। से ५।२६।)।

३८– (४०) ६–उपदेश– आत्मसम्पत् प्राप्ति के लिए बुद्धियोगानुगामी योगाभ्यास करना आवश्यक है। (५।२७। से ५।२६।)

पञ्चम अध्याय समाप्त

३९– (४१) ७–उपदेश– बुद्धियोगी कर्मपरिग्रह से कर्मयोगी एवं कामना के परित्याग से ज्ञानयोगी बन जाता है। (६।१। से ६।४।)।

४०– (४२) ८–उपदेश– जो अपने आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेता है, वह शाश्वत आनन्द का अधिकारी बन जाता है एवं आत्मज्ञान से वञ्चित मनुष्य दुःखार्णव में निमग्न रहता है। (६।५।, ६।६।)।

४१– (४३) ९–उपदेश– कर्मयोग की अपेक्षा बुद्धियोग लक्षण ज्ञानयोग को ही उत्तम समझना चाहिए। (६।७। से ६।९।)।

नवोपदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त

८. बुद्धियोगसाधक कर्मों में प्रवृत्त रहना चाहिए। (९ उपदेश)

४२– (४४) १–उपदेश– योगाभ्यास ही बुद्धियोग प्राप्ति का अनन्य उपाय है। (६।१०। से ६।१५।)।

४३– (४५) २–उपदेश– योगाभ्यास से विरोध रखने वाले एवं अनुकूलता उत्पन्न करने वाले धर्मों को लक्ष्य में रखकर ही योगाभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिए। (६।१६।, ६।१७।)।

४४– (४६) ३–उपदेश– जिस में परिगणित विशेष गुणों का उदय देखो, समझ लो उसने बुद्धि योग निष्टा प्राप्त कर ली। (५।१८।, ६।१९।)।

४५– (४७) ४–उपदेश– जिस योग में आत्मा सदा प्रसन्न रहे, उसी योग (कर्म) को बुद्धियोग समझना चाहिए। (६।२०। से ६।२३।)।

४६– (४८) ५–उपदेश– बुद्धियोग प्राप्ति के लिए प्रतिज्ञात योग का अभ्यास विशेष नियमों से करना चाहिए। (६।२४। से ६।२८।)।

४७– (४९) ६–उपदेश– बुद्धियोग के साधनकाल में समता का अभ्यास करना परमावश्यक है। (६।२९। से ६।३२।)।

४८– (५०) ७–उपदेश– बुद्धि योग की स्थिति के लिए मनःसंयम प्रत्येक दशा में अपेक्षित है। (६।२३। से ६।३६।)।

४९– (५१) ८–उपदेश– जिस मनुष्य में परिगणित लक्षण देखो, समझ लो उसने पूर्व जन्म में बुद्धियोग का अनुष्ठान किया था। (६।३७। से ६।४५।)।

५०– (४२) ९–उपदेश– कर्मयोगी, तपोयोगी, ज्ञानयोगी इन तीनों की अपेक्षा से तो बुद्धियोगी को, एवं इसकी अपेक्षा श्रद्धायुक्त बुद्धियोगी को श्रेष्ठ समझना चाहिए। (६।४६।, ६।४७।)।

षष्ठाध्याय समाप्त

नवोपदेशयुक्ता ८ उपनिषत् समाप्त

८ उपनिषद्युक्ता, ५० उपदेशगर्भिता, २१६ श्लोकात्मिका इति राजर्षि विद्या

4. सिद्धविद्या

(४)-२- ज्ञानबुद्धियोगप्रतिपादिका सिद्धविद्या द्वितीया (२-उपनिषत्)

१-(१०) १-उपनिषत्- सम्पूर्ण विश्व प्रकृति पुरुष का ही लीलाक्षेत्र है। (७।१ से ७।१८ प.)

२-(११) २-उपनिषत्- ब्रह्म-कर्म, अहोरात्र, सर्ग-प्रलय एवं भक्तियोग ही प्रकृति का प्रकृतित्व है। (७।३९ से ८ अध्याय समाप्ति पर्यन्त)।

१. सम्पूण विश्व प्रकृति-पुरुष का ही लीलाक्षेत्र है। (१० उपदेश)

१-(५३) १-उपदेश- अव्ययात्मा के साक्षात्कार के लिए ज्ञानयुक्त विज्ञान का आश्रय लेना आवश्यक है। (७।१।, ७।२।, ७।३।)।

२-(५४) २-उपदेश- अव्यय पुरुष के सम्यक् परिज्ञान के लिए उसके पराप्रकृतिरूप अक्षर का एवं अपराप्रकृतिरूप क्षर का ज्ञान आवश्यक है। (७।४।, ७।५।)।

३-(५५) ३-उपदेश- प्रकृति को सम्पूर्ण विश्व का उपादान एवं पुरुष को सम्पूर्ण विश्व का आलम्बन समझना चाहिए। (७।६।, ७।७।)।

४-(५६) ४-उपदेश- एक ही पुरुष को अक्षर प्रकृति के सहयोग से १५ स्थानों में विभक्त समझना चाहिए। (७।८। से ७।११।)।

५-(५७) ५-उपदेश- प्रकृति से सम्बन्ध रखने वाले जितने भी पदार्थ हैं, वे सब प्रकृति द्वारा पुरुष को लक्ष्य बना रहे हैं। (७।१२)।

६-(५८) ६-उपदेश- दैवीमाया एवं आसुरीमाया की प्रतिद्वन्द्विता में दैवीमाया परास्त हो रही है। आसुरीमाया को ही आत्मसाक्षात्कार में महा प्रतिबन्धक समझना चाहिए। (७।१३।, ७।१४।, ७।१५।)।

७-(५९) ७-उपदेश- ज्ञाननिष्ट भक्त को सर्वोत्तम समझना चाहिए। (७।१६। से ७।१९।)।

८-(६०) ८-उपदेश- आध्यात्मिक देवता की आराधना करने वालों को देवपद मिलता है एवं आत्मा की उपासना करने वाले को आत्मपद मिलता है। (७।२०। से ७।२२)।

९-(६१) ९-उपदेश- योगमाया की कृपा से आवृत्त आत्मस्वरूप को देखने में असमर्थ व्यक्ति ही देवता की उपासना करते हैं। (७।२३।, ७।२४।)।

१०-(६२) १०-उपदेश- राग-द्वेष के हट जाने पर मनुष्य आत्मसाक्षात्कार करना हुआ त्रैकालज्ञ बन जाता है। (७।२५। से ७।२८।)

दशोपदशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त

२– ब्रह्मकर्म, अहोरात्र, सर्ग–प्रलय एवं भक्तियोग ही प्रकृति का प्रकृतित्त्व है। (९–उपदेश)।

११–(६३) १–उपदेश– आत्मा के १२ आयतनों में से किसी एक का आश्रय ले लेने से आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। (७।२९।, ७।३०)।

(सातवाँ अध्याय समाप्त)

१२–(६४) २–उपदेश– प्रकृति के ब्रह्मकर्म, आविदैविक–आधिभौतिक, आधियाज्ञिक–आध्यात्मिक, सृष्टि–प्रलय, भुक्ति–मुक्ति, गति–आगति। इन ५२ विवृत्तों को जान लेने से प्रकृति पर अधिकार हो जाता है। (८।१।, ८।२।, ८।३।, ८।४।)।

१३–(६५) ३–उपदेश– स्व–स्व कर्मानुसार कर्मात्मा उत्तम–मध्यम–अधम लोकों में जाया करता है। (८।५।, ८।६।, ८।७।)।

१४–(६६) ४–उपदेश– अध्यात्मस्थ ईश्वराव्यय के साक्षात्कार से आधिदैविक ईश्वराव्यय की प्राप्ति होती है। (८।८।, ८।९।,८।१०।)।

१५–(६७) ५–उपदेश– 'ओम' इस एकाक्षर की उपासना से प्रेतात्मा आधिदैविक अक्षर भाव को प्राप्त होता है। (८।११।,८।१२।, ८।१३।)।

१६–(६८) ६–उपदेश– विशुद्ध अव्ययात्मा का उपासक जन्म–मृत्यु से सदा के लिए विमुक्त होता हुआ परामुक्ति का भागी बन जाता है। (८।१४।, ८।१५।)

१७–(६९) ७–उपदेश– क्षर की उपासना करने वाला लौकिक पुरुष जन्म–मृत्यु प्रवाह में प्रवाहित रहता है। (८।१६।, ८।१७।, ८।१८।, ८।१९।)

१८–(७०) ८–उपदेश– व्यक्त क्षरप्रपञ्च की उपेक्षा कर अव्यक्त किंवा व्यक्ता–व्यक्तातीत अव्यय की आराधना करने वाला समवलयभाव को प्राप्त हो जाता है। (८।२०।, ८।२१।, ८।२२।)।

१९–(७१) ९–उपदेश– विद्यासापेक्ष प्रवृत्तिकर्म करने वाले देवयान मार्ग से स्वर्गलोक में जाते हैं एवं विद्यानिरपेक्ष सत्कर्म करने वाले पितृयाण द्वारा पितृलोक में जाते हैं। (८।२३। से ८।२७।)।

आठवाँ अध्याय समाप्त

नवोदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त

२ उपनिषद्युक्ता, १९ उपदेशगर्भिता, ५८ श्लोकात्मिका

इति सिद्धविद्या

5– राजविद्या

(५)–३– ऐश्वर्यबुद्धियोगप्रतिपादिका राजविद्या तृतीया (३–उपनिषत्)

(९।१ से १२ अध्याय पर्यन्त)

(१२) १–उपनिषत्– ईश्वर के स्वरूपज्ञान से ऐश्वर्यसिद्धि मिलती है। (९।१ से ९।३४)

(१३) २-उपनिषत्- ईश्वर सम्बन्धी योग एवं विभूतिविज्ञान ही ईश्वरभावप्राप्ति में मुख्य कारण हैं। (१०।१ से ११ अध्याय पर्यन्त)

(१४) ३-उपनिषत्- ईश्वर की उपासना ही ईश्वरभावप्राप्ति का अन्यतम द्वार है। (१२-अध्याय)

१- ईश्वर के स्वरूपज्ञान से ऐश्वर्यसिद्धि मिलती है। (११-उपदेश)

१-(७२) १-उपदेश- ज्ञान-विज्ञान सहिता राजविद्या का सम्यक् परिज्ञान ही ईश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार है। (९।१।, ९।२।, ९।३।)।

२-(७३) २-उपदेश- अव्यक्तमूर्ति ईश्वर ही अपने प्रकृतिभाव को आगे कर सम्पूर्ण विश्व का निर्माण करता है। (९।४। से ९।१०)

३-(७४) १-उपदेश- आसुरीमाया के समावेश से मूर्ख लोग ईश्वर ही ईश्वरता जानने में असमर्थ है। (९।११।, ९।१२।)।

४-(७५) ४-उपदेश- दैवीमाया के अनुग्रह से सात्त्विक मनुष्य ईश्वरता पर पहुँचते हुए सम्पूर्ण रूप से एवं व्यष्टिरूप से ईश्वर की उपासना किया करते हैं। (९।१३ से ९।१५)।

५-(७६) ५-उपदेश- उस ईश्वर की यज्ञ, पुरुष, वेद, प्रकृति आदि किसी भी रूप से आराधना की जा सकती है। कारण ये सब उसी के रूप हैं। (९।१, ९।, ९।१७।)।

६-(७७) ६-उपदेश- एक ही ईश्वराव्यय की उसके गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत्, प्रभल, प्रलय, स्थान, विधान, बीज इन १२ विवर्त्तों में से किसी एक को आधार मानकर उपासना की जा सकती है। (९।१८)।

७-(७८) ७-उपदेश- संसार में जितने भी द्वन्द्वभाव हैं, उन सब को ईश्वर की विभूति समझते हुए इनसे भी आत्मकल्याण किया जा सकता है। (९।१९।)

८-(७९) ८-उपदेश- सांसारिकफलों की कामना से यज्ञकर्म करने वाले कर्मठ ईश्वर की उद्देश्य मान कर यह कर्म करते हुए मुक्त हो सकते हैं। (९।२०।, ९।२१)

९-(८०) ९-उपदेश- चतुर्विध (लय-राज-मन्त्र-हठयोगविध) भक्तियोग के अनुयायी ईश्वराव्ययप्राप्ति में असमर्थ ही रहते हैं। (९।२२। से ९।२५।)

१०-(८१) १०-उपदेश- अपने सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वरार्पणबुद्धि से करता हुआ कर्मठ कर्मबन्धन से छूट जाता है। (६।२६।, ६।२७।, ६।२८।)

११-(८२) ११-उपदेश- निर्गुण ब्रह्म के उपासक ज्ञानयोगियों की आत्मभक्ति सर्वश्रेष्ठ है। (९।२९। से ६।३४।)

नवम् अध्याय समाप्त

एकादशोदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त

२- ईश्वर सम्बन्धी योग एवं विभूति विज्ञान ही ईश्वरभावप्राप्ति में मुख्य कारण है। (१५ उपदेश)

१२–(८३) १–उपदेश– ईश्वरविभूति के परिज्ञान से आत्मा सब पापों से विमुक्त होता हुआ भूमाभाव को प्राप्त हो जाता है। (१०।१।, १०।२।, १०।३।)।

१३–(८४) २–उपदेश– बुद्धि, ज्ञान, असंमोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव, भाव, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यज्ञ, यश, अयश इन सम्पूर्ण आध्यात्मिक सदसद्गुणों की प्रतिष्ठा आधिदैविक ईश्वर ही है। (१०।४।, १०।५।)।

१४–(८५) ३–उपदेश– ऋषि, मनु, प्राण आदि आधिदैविक मानसभाव ईश्वराव्यय के आधार पर प्रतिष्ठित है। (१०।६।)।

१५–(८६) ४–उपदेश– ईश्वर के योग एवं विभूतिभावों के सम्यक् परिज्ञान से ऐश्वर्यलक्षणः बुद्धियोगनिष्ठा प्राप्त हो जाती है। (१०।७)

१६–(८७) ५–उपदेश–ईश्वर के साक्षात्कार के लिए ऐश्वर्यबुद्धियोग आवश्यक है। इसकी प्राप्ति के लिए इसके साधक उपायों का अनुगमन करनाआवश्यक है। (१०।८। से १०।११।)

१७–(८८) ६–उपदेश– प्रत्येक व्यक्ति को अपने आत्मकल्याण के लिए ईश्वराव्यय की दिव्य विभूतियों को जानने का प्रयास करना चाहिए। (१०।१२। से १०।१८।)

१८–(८९) ७–उपदेश– ईश्वर का विभूतिभाव १. आत्मा, २. आदि–मध्य–अन्त, ३. विष्णु ४. रवि, ५. मरीचि, ६. शशि, ७. सामवेद, ८. वासव, ९. मन, १०. चेतना, ११. शङ्का, १२. कुबेर, १३. पावक, १४. मेरु, १५. बृहस्पति, १६. स्कन्द, १७. सांस, १८. भृगु, १९. एकाक्षर, २०. जपयज्ञ, २१. हिमालय, २२. ....., २३. नारद, २४. चित्ररथ, २५. कपिल, २६. उच्चैःश्रवा, २७. ऐरावत, २८. राजा, २९. वज्र, ३०. कामधेनु, ३१. कन्दर्प, ३२. वासुकि, ३३. अनन्त, ३४. वरुण, ३५. अर्य्यमा, ३६. यम, ३७. प्रह्लाद, ३८. काल, ३९.मृगेन्द्र, ४०. गरुड़, ४१. पवन, ४२. राम, ४३. मकर, ४४. गङ्गा, ४५. आद्यन्त, ४६. अध्यात्मविद्या, ४७. वाद, ४८. अकार, ४९. द्वन्द्व, ५०. अक्षय, ५१. धाता, ५२. उद्भव, ५४. कार्त्ति श्रीवाक्–स्मृति–मेधा–धृति–क्षमा, ५५. बृहत्साम, ५६. गायत्री, ५७. मार्गशीर्ष, ५८. बसन्त, ५९. द्यूत, ६०. तेज, ६१. जप, ६२. व्यवसाय, ६४. सत्त्व, ६४. वासुदव, ६५. अर्जुन, ६६. व्यास, ६७, उशना, ६८. दण्ड, ६९. नीति, ७०. मौन, ७१. ज्ञान, ७२. बीज संसार में इन ७२ भावों में प्रधानरूप से विभक्त है। जो पुरुष इनका रहस्य जान लेता है, वह ईश्वर के समकक्ष बन जाता है। (१०।१६। से १०।४२ तक)।

दशम अध्याय समाप्त

१९–(९०) ८–उपदेश– प्रत्येक व्यक्ति को ईश्वर की उक्त विभूतियों के सम्यक् परिज्ञान के लिए उसके विराट् स्वरूप को पहिचानने का प्रयास करना चाहिए। (११।१। से ११।४।)।

२०–(९१) ९–उपदेश– विराट्स्वरूप के परिज्ञान के लिए योगप्रक्रिया द्वारा दिव्यदृष्टि

प्राप्त करना आवश्यक है। (११।५। से ११।८।)।

२१-(९२) १०-उपदेश- योगविद्या के प्रभाव से उसी प्रकार मनुष्य स्वयं भी अपने आप को विराट्स्वरूप में परिणत कर सकता है जैसे कि योगेश्वर कृष्ण ने अपना विराट् स्वरूप बना लिया था। (११।९। से ११।१४ पर्यन्त)।

२२-(९३) ११-उपदेश- विराट्स्वरूप से चमत्कृत अर्जुन की तरह प्रत्येक व्यक्ति को उस रूप की स्तुति करनी पड़ती है। (११।१५ से ११।३१ पर्यन्त)।

२३-(९४) १०-उपदेश- विराट्स्वरूप के दर्शन से स्वयं विराट्पुरुष की ओर से कर्तव्य कर्म के लिए बल प्राप्त होता है। (११।३२।, ११।३३।, ११।३४।)

२४-(९५) १३-उपदेश- जो व्यक्ति विराट्स्वरूप के दर्शन से पहिले अज्ञानवश ईश्वरत्व की उपेक्षा किया करता है, विराट्दर्शन के अनन्तर अर्जुन की भाँति उस के यशोगान (स्तुति) में प्रवृत्त हो जाता है। (११।३५ से ११।४६)।

२५-(९६) १४-उपदेश- भक्त की इन श्रद्धाञ्जलियों से आकर्षित विराट् पुरुष की ओर से उसे पूर्ण आश्वासन मिलता है। (११।४७।, ११।४८।, ११।४९)।

२६-(९७) १५-उपदेश- विश्वरूपदर्शन से भयत्रस्त बने हुए भक्त के भय को दूर करने के लिए विराट् पुरुष को अपने उस महामायाविच्छन्नरूप का परित्याग कर योगमायामय विग्रह से भक्त के सामने उपस्थित होना पड़ता है। (११।५० से ११।५५)।

एकादश अध्याय समाप्त

पञ्चोपदेशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त

३- ईश्वर की उपासना ही ईश्वरभाव प्राप्ति का मुख्य द्वार है। (६-उपदेश)

२७-(९८) १-उपदेश- उपासनातत्व के परिज्ञान के लिए सगुण एवं निर्गुण दोनों प्रकार की उपासना जानने का प्रयास करना चाहिए। (१२।१।)।

२८-(९९) २-उपदेश- लोकसंग्रही कर्मठ मनुष्य के लिए सगुण-निर्गुण दोनों में सगुणोपासना ही श्रेयस्कर है। (१२।२।)।

२८-(१००) ३-उपदेश- चूँकि निर्गुणोपासना का अव्यक्तभाव से सम्बन्ध है, अतः सामान्य मनुष्य प्रायः इसके अनधिकारी ही है। (१२।३।, १२।४।, १२।५।)।

३०-(१०१) ४-उपदेश- ईश्वराव्यय के प्रति अपने सम्पूर्ण कर्मों को समर्पित कर देना सर्वश्रेष्ठ उपासना है। (१२।६।, १२।७।, १२।८।)

३१-(१०२) ५-उपदेश- सम्पूर्ण उपासनायोगों में, सब की अपेक्षा कर्मफलत्यागलक्षण कर्तव्यकर्मानुष्ठानरूपा, बुद्धियोगलक्षण निष्कामोपासना ही श्रेष्ठ है। (।२।९ से १२।१२ पर्यन्त)

३२-(१०३) ६-उपदेश- उपासना की सिद्धि के लिए विशेष नियमों का अनुगमन आवश्यक है। (१२।१३। से १२।२० पर्यन्त)।

(द्वादश अध्याय समाप्त)

षष्ठोपदेशुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त।

३ उपनिषद्युक्ता, ३० उपदेशगर्भिता, १५१ श्लोकात्मिका
इति राजविद्या

6—आर्षविद्या

(६)–४– धर्मबुद्धियोगप्रवर्त्तिका आर्षविद्या चतुर्थी। (७–उपनिषत्)। (१३।१ से १८।५६ पर्यन्त)

(१५) १–उपनिषत् – प्रकृति–पुरुष, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, ज्ञान–ज्ञेय ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१३।१ से १३।२५ पर्यन्त)।

(१६) २–उपनिषत् – सत्त्व–रजस्तमोलक्षण गुणत्रयी ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१४।१ से १४।२७ पर्यन्त)।

(१७) ३–उपनिषत् – अश्वत्थ वृक्ष ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१५।१ से १५।२०)।

(१८) ४–उपनिषत् – देवता एवं असुर से सम्बन्ध रखने वाला भूतसर्ग ही धर्मबुद्धि योग की प्रतिष्ठा है। (१६।१ से १६।२३ पर्यन्त)।

(१९) ५–उपनिषत् – गुण एवं कर्म का प्रचय ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१७।१। से १८।४० पर्यन्त)

(२०) ६–उपनिषत् – अत्याज्य कर्म ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१८।४१ से १८।४८ पर्यन्त)।

(२१) ७–उपनिषत् – अनावरक कर्म ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (१८।४९ से १८।५६ पर्यन्त)।

१– प्रकृति–पुरुष, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, ज्ञान–ज्ञेय ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है (९ उपदेश)।

१–(१०४) १–उपदेश– धर्म के वास्तविक स्वरूपज्ञान के लिए अर्जुन की तरह प्रत्येक व्यक्ति को प्रकृति–पुरुष, क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ, ज्ञान–ज्ञेय इन छः भावों का मौलिक रहस्य जानने का प्रयास करना चाहिए। (१३।१।)।

२–(१०५) २–उपदेश– धर्मस्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में क्षेत्र–क्षेत्रज्ञ का, भूतआम–विज्ञानात्मा का, शरीर–शारीरक आत्मा का विवेकज्ञान आवश्यक है। (१३।२।, १३।३)।

३–(१०६) ३–उपदेश– धर्मस्वरूपज्ञान के लिए अध्यात्मसंस्था से सम्बन्ध रखने वाली आठ पुरियों का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१३।४। से १३।७। पर्यन्त)।

४–(१०७) ४–उपदेश– धर्म के स्वरूपज्ञान के लिए २० भागों में विभक्त ज्ञानविवर्त्त का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१३।८ से १३।१२ पर्यन्त)।

५–(१०८) ५–उपदेश– धर्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए परब्रह्मनाम से प्रसिद्ध ज्ञेय अव्ययपुरुष का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१३।१३ से १३।१९ पर्यन्त)।

६–(१०९) ६–उपदेश– धर्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए प्रकृति–पुरुष का सम्यक् ज्ञान

परम आवश्कय है। (१३।२० से १३।२४ पर्यन्त)।

७-(११०) ७-उपदेश- धर्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए मृत्युपाश से विमुक्त करने वाले पुरुषोपासनाभेदों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। (१३।२५।, १३।२६)।

८-(१११) ८-उपदेश- धर्मस्वरूपरिज्ञान के लिए सत्त्वनाम से प्रसिद्ध प्राणी की क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के संयोगरूप उपाधि का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। (१३।२७)।

९-(११२) ९-उपदेश- धर्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए परमेश्वर, ईश्वर, परमात्मा, विज्ञानात्मा इन चारों आत्मविवर्त्तों का परिज्ञान आवश्यक है। (१३।२८ से १३।३५ पर्यन्त)।

त्रयोदश अध्याय समाप्त

नवोपदेशयुक्ता १ उपनिषत् समाप्त

२- सत्व-रजस्तमोलक्षणा गुणत्रयी ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (५ उपदेश)

१०-(११३) १-उपदेश- क्षेत्रज्ञपुरुष में विशेषता उत्पन्न करने वाला, गुणत्रयमूर्त्ति महद्ब्रह्म ही सम्पूर्णभूतों की योनि है। (१४।१ से १४।४ पर्यन्त)।

११-(११४) २-उपदेश- महद्ब्रह्म के स्वरूपज्ञान के लिए उस के सत्त्व-रज-तम तीनों गुणों का मौलिक स्वरूप जानना आवश्यक है। (१४।५ से १४।२०। पर्यन्त)।

१२-(११५) ३-उपदेश- गुणत्रय के सम्यक् परिज्ञान के लिए गुणातीत आत्मा का स्वरूप जानना परम आवश्यक है। (१४।२१ से १४।२५ पर्यन्त)।

१३-(११६) ४-उपदेश- अव्ययात्मनिष्ठारूप अनन्य भक्ति से ही गुणातीत आत्मा जाना जा सकता है। (१४।२६।)।

१४-(११७) ५-उपदेश- जीवशरीर में प्रतिष्ठित क्षर-अक्षर-अव्यय-परात्पर-निर्विशेष इन पाँचों की प्रतिष्ठा ईश्वर के उक्त पाचों पर्व हैं। (१४।२७)।

(चतुर्दशअध्याय समाप्त)

पञ्चोपदेशयुक्ता २ उपनिषत् समाप्त

३- अश्वत्थवृक्ष ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (७-उपदेश)।

१५-(११८) १-उपदेश- ब्रह्मकर्म के स्वरूपज्ञान के लिए ब्रह्माश्वत्थ का स्वरूप जानना आवश्यक है। (१५।१ से १५।४ पर्यन्त)।

१६-(११९) २-उपदेश- ब्रह्माश्वत्थ का साक्षात्कार करने के लिए कतिपय विशेष उपायों का आश्रय लेना आवश्यक है। (१५।५।, १५।६।)।

१७-(१२०) ३-उपदेश- ईश्वरलक्षण विश्वव्यापक अव्यय ही योगमाया के सम्बन्ध से कर्मश्त्यलक्षण जीवसृष्टि का कारण बनता है। (१५।७।, १५।८)।

१८-(१२१) ४-उपदेश- अपने प्रभव ब्रह्माश्वत्थ (ईश्वर) से पृथक् होने के कारण ही यह कर्मफलभोक्ता बनती है। (१५।९। से १५।११ पर्यन्त)

१९-(१२२) ५-उपदेश-एक ही अश्वत्थवृक्ष त्रिगुणमहद्ब्रह्म के संसर्ग से अनेक

रूपों में परिणत हो रहा है। (१५।१२ से १५।१४ पर्यन्त)।

२०–(१२३) ६–उपदेश– वही अश्वत्थाव्यय सम्पूर्ण विश्व का एक (अभिन्न) आत्मा है। (१५।१५।)।

२१–(१२४) ७–उपदेश–एक ही अश्वत्थाव्यय क्षराक्षर के सम्बन्ध में भेदव्यवहार की मूलप्रतिष्ठा बन गया है। (१५।१६। से १५।२०।)

(पञ्चदश अध्याय समाप्त)

सप्तोपदेशयुक्ता ३ उपनिषत् समाप्त

४– देवता एवं असुर से सम्बन्ध रखने वाला भूतमर्ग ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (४–उपदेश)

२२–(१२५) १–उपदेश– जन्मसिद्ध, देवासुरभावमूलक गुण–दोष ही धर्म्माधर्मप्रवृत्ति के मुख्य अनुबन्ध है। (१६।१। से १६।५ पर्यन्त)।

२३–(१२६) २–उपदेश–असुरप्रधान भूतसर्ग में विद्या (ज्ञान) निरपेक्ष असद्गुण कर्मों की ही प्रधानता रहती है। (१६।६ से १६।१९ पर्यन्त)।

२४–(१२७) ३–उपदेश– आसुरीसम्पत्ति के आधार प्रतिष्ठित काम–क्रोध–लोभ ही पतन के मुख्य कारण हैं। (१६।२०।, १६।२१।)

२५–(१२८) ४–उपदेश– अपने आत्मकल्याण के लिए दैवीसम्पत् की आराधना आवश्यक है एवं इसके लिए शास्त्र में पूर्ण निष्ठा अपेक्षित है। (१६।२२।, १६।२३)

षोडश अध्याय समाप्त

चतुरुपदेशयुक्ता ४ उपनिषत् समाप्त

५– गुण–कर्म का प्रचय ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा है। (२० उपदेश)

२६–(१२९) १–उपदेश– गुणत्रय के भेद से मनुष्यों में तीन प्रकार के श्रद्धाभाव उत्पन्न हो जाते हैं। (१७।१ से १७।६। पर्यन्त)।

२७–(१३०) २–उपदेश– गुणत्रयभेद से मनुष्यों का आहार तीन भागों में विभक्त है। (१७।१७ से १७।१० पर्यन्त)।

२८–(१३१) ३–उपदेश– गुणत्रय के भेद से मनुष्यों का यज्ञकर्म तीन भागों में विभक्त है। (१७।११। से १७।१३। पर्यन्त)।

२९–(१३२) ४–उपदेश–शरीर वाक्–मनोभेद से आध्यात्मिक तप, कायिक–वाचिक–मानसिक भेद से तीन भागों में विभक्त है। (१७।१४। से १७।१६। पर्यन्त)

३०–(१३३) ५–उपदेश– गुणत्रय के भेद से आध्यात्मिक तप तीन भागों में विभक्त है। (१७।१७। से १७।११९ पर्यन्त)

३१–(१३४) ६–उपदेश–गुणत्रय के भेद से दानकर्म तीन भागों में विभक्त है। (१७।२०। से १७।२२ पर्यन्त)

३२-(१३५) ७-उपदेश- गुणत्रय से युक्त कर्म की प्रतिष्ठा ब्रह्म है एवं वह ब्रह्मतत्त्व ओंम्तत्-सत् भेद से तीन भागों में विभक्त है। (१७।२३। से १७।२८। पर्यन्त)

सप्तदश अध्याय समाप्त

३३-(१३६) ८-उपदेश- गुण कर्म के परिज्ञान के लिए कर्मसंन्यास एवं कर्मत्याग का भेदज्ञान आवश्यक है। (१८।१ से १८।६ पर्यन्त)

३४-(१३७) ९-उपदेश- गुणत्रयभेद से कर्मफल तीन भागों में विभक्त है। (१८।७ से १८।११)।

३५-(१३८) १०-उपदेश- गुणत्रयभेद से कर्मफल तीन भागों में विभक्त है। (१८।१२)।

३६-(१३९) ११-उपदेश- अधिष्ठान, कर्त्ता, करण, चेष्टा, दैव यह पाँच तत्त्व कर्मसिद्धि के उपोद्बलक है। (१८।१३। से १८।१७। पर्यन्त)।

३७-(१४०) १२-उपदेश-ज्ञान-कर्म की त्रिपुटी (ज्ञान-ज्ञेय-परिज्ञाता, करण-कर्म-कर्त्ता) ही कर्म का स्वरूप सम्पादन करती है। (१८।१८।)

३८-(१४१) १३-उपदेश- उपदेश गुणत्रयभेद से ज्ञान कर्म की दोनों त्रिपुटियां तीन-तीन भागों में विभक्त है। (१८।१९।)।

३९-(१४२) १४-उपदेश-गुणत्रयभेद से ज्ञान तत्त्व तीन भागों में विभक्त है। (१८।२०। से १८।२२ पर्यन्त)

४०-(१४३) १५-उपदेश- गुणत्रयभेद से कर्मतत्त्व तीन भागों में विभक्त है। (१८।२३ से १८।२५ पर्यन्त)।

४१-(१४४) १६-उपदेश-गुणत्रयभेद से कर्ता तीन भागों में विभक्त है। (१८।२६ से १८।२८। पर्यन्त)

४२-(१४५) १७-उपदेश- गुणत्रयभेद से बुद्धितत्त्व के तीन भागों में विभक्त है। (१८।२९। से १८।३२ पर्यन्त)

४३-(१४६) १८-उपदेश- गुणत्रय के भेदसे धृतितत्त्व तीन भागों में विभक्त है। (१८।३३। से १८।३५। पर्यन्त)।

४४-(१४७) १९-उपदेश- गुणत्रयभेद से सुखतत्त्व तीन भागों में विभक्त है। (१८।३६। से १८।३९। पर्यन्त)।

४५-(१४८) २०-उपदेश- सम्पूर्ण विश्व में गुणत्रय का ही साम्राज्य है। (१८।४०)।

विंशत्युपदेशयुक्ता ५ उपनिषत् समाप्त

६- अत्याज्यकर्म ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं। (२-उपदेश)

४६-(१४९) १-उपदेश- गुण कर्म अधिकार एवं संस्कार भेद से दो भागों में विभक्त है। (१८।४१। से १८।४४ पर्यन्त)।

४७-(१५०) २-उपदेश- आधिकारिक कर्मों को दोषों के रहते हुए भी नहीं छोड़ना चाहिए। (१८।४५ से १८।४८ पर्यन्त)

द्वयुपदेशयुक्ता ६ उपनिषत् समाप्त

७– अनावरक कर्म ही धर्मबुद्धियोग की प्रतिष्ठा हैं। (२–उपदेश)

४८–(१५१)–१ उपदेश– कामना परित्यागपूर्वक कर्म करने से नैष्कर्म्य सिद्धि प्राप्त हो जाती है। (१८।४९ से १८।५३ पर्यन्त)।

४९–(१५१)–२ उपदेश– नैष्कर्म्य कर्म के प्रभाव से आत्मा कर्मबन्धन से विमुक्त होता हुआ परब्रह्म (अव्ययब्रह्म) पद में लीन हो जाता है। (१८।५४ से १८।५६ पर्यन्त)

द्वयुपदेशयुक्ता ७ उपनिषत् समाप्त

इति ७ उपनिषद्युक्ता, ४९ उपदेशगर्भिता, १८९ श्लोकात्मिका

इति आर्षविद्या

(७) उपसंहार प्रकरण

(७) १–चातुर्विद्योपसंहारप्रकरण–(३–उपनिषद्)– (१८।५७ से १८।७३ पर्यन्त)।

(२२) १–उपनिषद्– सम्पूर्ण कर्म अव्ययात्मा में समर्पित कर देने चाहिए। (१८।५७ से १८।६३ पर्यन्त)।

(२३) २–उपनिषद्– आत्माश्रय ही परमोद्धार है। (१८।६४ से १८।६६ पर्यन्त)।

(२४) ३–उपनिषद्– गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट है। (१८।६७ से १८।७३ पर्यन्त)।

१. सम्पूर्णकर्म अव्ययात्मा में समर्पित कर देने चाहिए– (४–उपदेश)

१–(१५३) १ उपदेश– लोकोत्तर गुणों से युक्त असामान्य अधिकारी को राजर्षिविद्या–सिद्ध वैराग्यलक्षण बुद्धियोग का ही अनुष्ठान करना चाहिए। (१८।५७ से १८।५८ पर्यन्त)।

२–(१५४) २ उपदेश– प्रथमाधिकारी को सिद्धविद्यासिद्ध ज्ञानलक्षण बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। (१८।५९)।

३–(१५५) ३ उपदेश– मध्यमाधिकारी को राजविद्यासिद्ध ऐश्वर्यलक्षण बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। (१८।६०)।

४–(१५६) ४ उपदेश– तृतीय श्रेणी के अधिकारी को आर्षविद्यासिद्ध धर्मलक्षण बुद्धियोग का अनुष्ठान करना चाहिए। (१८।६१, १८।६२, १८।६३)

चतुरुपदेशयुक्ता १ उपनिषद् समाप्त

२. आत्माश्रय ही परमोद्धार है। (२–उपदेश)

१–(१५७) १ उपदेश– अपने सम्पूर्ण कर्मों को हृदयस्थ आत्मदेवता में समर्पित करते हुए स्वार्थबुद्धि का परित्याग कर देना पुरुष का परम पुरुषार्थ है। (१८।६४, १८।६५।, १८।६६)।

२–(१५८) २ उपदेश– साधारण मनुष्य इस ज्ञान के अधिकारी नहीं है। अतः अधिकारी की परीक्षा करके ही उसे यह रहस्य बतलाना चाहिए। (१८।६७)।

द्व्युपदेशयुक्ता २ उपनिषद् समाप्त

३. गीताज्ञान सर्वोत्कृष्ट ज्ञान है। (२–उपदेश)

१-(१५९) १ उपदेश- भगवत्गीता में प्रतिपादित अर्थों का चिरन्तन स्मरण करने से कालान्तर में अपने आप इस ज्ञान के अनुष्ठान में प्रवृत्ति हो जाती है। (१८।६८ से १८।७१ पर्यन्त)

२-(१६०) २ उपदेश- इस विज्ञानगीता का इतिहासप्रकरण में समावेश हुआ है। (१८।७२, १८।७३।)

द्व्युपदेशयुक्ता ३ उपनिषद् समाप्त

(८) १-ऐतिहासिकसन्दर्भसङ्गति (५) (१८।७४, १८।७५, १८।७६, १८।७७, १८।७८)।

(अष्टादश अध्याय समाप्त)

इस प्रकार उपर्युक्त विषय विभाग को ध्यान में रखकर हम यह विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि विद्यावाचस्पति पण्डित ओझा ने श्रीमद्भगवद्गीता पर अपनी जिस आर्षमेधा से 'गीताविज्ञानभाष्य' की रचना करने उसमें निहित वैज्ञानिक भाव का इदम्प्रथमतया विद्वज्जन के समक्ष उपस्थापन एवं प्रकाशन किया है उसके लिए विद्वज्जगत् सदा ही उनका आधमर्ण्य वहन करता रहेगा। चूँकि पण्डित ओझा के द्वारा प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावली आज सर्वजनसंवेद्य नहीं है, किन्तु उन शब्दों में छिपे रहस्य से हम वञ्चित भी नहीं रह जायें, इस बात को हृदयङ्गम पूर्वक हमारा यह कर्तव्य बनता है कि जिस प्रकार से उनके अनन्य अन्तेवासी पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने ऋषिकल्प पं. ओझा के उस चिन्तन को लगभग अस्सी हजार पृष्ठों में हिन्दी भाषा के द्वारा विद्वज्जन के समक्ष उपस्थापित किया है। उसी प्रकार उन दोनों ही के महनीय चिन्तन को आत्मसात् करके उनमें निहित विशेषताओं को समग्र समाज को अपनी सरल भाषा में लेखन, विवेचन, संवाद एवं व्याख्यान आदि के द्वारा पाथेय रूप में देने का अध्यवसाय करें। जिससे हमारी ज्ञान-विज्ञान की इस ज्योतिर्मय निधि द्वारा समस्त लोक प्रकाशमान होवे।

उपनिषत्सु वाक्तत्त्वसमीक्षणम्

डॉ. प्रमोद कुमार शर्मा
उपाचार्यः, व्याकरणविभागे,
ज.रा.राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालये,
जयपुरे

उपनिषत्सु न केवलं ज्ञानं प्रतिपादितं दृश्यते, अपितु वाचः स्वरूपमपि उपलभ्यते। तत्र हि 'यः कश्च शब्दः वागेव सा'[१] इति वचनेन एतद् ज्ञातुं शक्यते। एवं तैत्तिरीयोपनिषदि आत्मविषयकसंहिता निरूपणावसरे विलिखितम् 'अथाध्यात्मम् अधरा हनुः पूर्वरूपम्। उत्तरा हनुरुत्तररूपम्। वाक्सन्धिः। जिह्वासन्धानम्। इत्यध्यात्मम्'[२] इति। अस्य तात्पर्यमिदमस्ति यत् अथ = प्रजाविषयकसंहितानिरूपणानन्तरम्, अध्यात्मम् = आत्मनीत्यध्यात्मम्। विभक्त्यर्थेऽत्राव्ययीभावः। आत्मविषयसंहिता वर्ण्यते। अधरा हनुः निम्नस्थिता हनुः, पूर्वरूपम् = पूर्वस्य रूपम् = वर्णः, उपरिस्थिता हनुः उत्तररूपम् = अन्यं रूपम् = अन्यो वर्णः, वागित्युभयोर्मेलनेन वागुत्पद्यते, सः सन्धिः, जिह्वा सन्धानम्= जिह्वा एव वाक्सन्धेः उत्पत्तिकारणम् अस्ति। इत्येवमात्मविषयक संहिता प्रतिपादिता। अत्र रहस्यमिदं वर्तते यद् जिह्वा सन्धानम् अर्थात् वाक्सन्धेः उत्पत्तिकारणं जिह्वा अस्ति। यतोहि जिह्वां विना न कोऽपि मनुष्यः व्यक्तशब्दोच्चारणं कर्तुं शक्नोति। वाण्यां शक्तिरस्ति विलक्षणा। वाचा मनुष्यः स्वशरीरस्य पोषणं कर्तुं शक्नोति। तथा ॐकार रूपपरमेश्वरं ध्यात्वा तद्धि ब्रह्म प्राप्तुं शक्नोति। एतेनैतत् स्पष्टं संजातं यत् वाचा न केवलं शारीरिकोन्नतिरपितु आत्मविषयकोन्नश्चि कर्तुं शक्नोति। रहस्यं चेदमत्रत्यं सुविज्ञाय मानवाः यथायोग्यं यथाकालं च वाचः उपयोगं कुर्वन्ति। ते वाक्शक्तिं प्राप्य, तया अभीष्टं फलं प्राप्तुं समर्थाः अपि भवन्ति। अत्र उपनिषत्सम्बद्धेन ऋषिणा जिह्वाव्यापारेण प्राणशक्तिः मानसिकशक्तिश्च सङ्केतिता। यस्याः अत्यन्तं सूक्ष्मं विवेचनं तन्त्रग्रन्थेषु बीजरूपेण, बिन्दुरूपेण, नादरूपेण व्याकरणदर्शने च स्फोटरूपेण दृश्यते। वागेव सर्वप्रकाशिका। वाचैव धर्माधर्मज्ञानम्, सत्यानृतज्ञानम्, साध्वसाधुज्ञानं च जायते। अतो वागवश्यमुपासनीया। ऋग्यजुस्सामाथर्वैतिह्यस्य पुराणस्य च ज्ञानं वाचैव भवति। उपनिषदां श्लोकाः, सूत्राणि,

---

१ बृहदारण्यकोपनिषद्।
२ तैत्तिरीयोपनिषद् १।३।५।।

व्याख्यानमनुव्याख्यानञ्च इत्येते वाचः एव विषयाः सन्ति। इहलोकस्य परलोकस्य च ज्ञानमपि वाचा भवति। ज्ञानस्यैव मात्राकबोधिका वागेवास्ति। अतएव बृहदारण्यकोपनिषदि- **'सर्वेषां वेदानां वागेवायतनम्'**[३] इत्युक्तमस्ति। शतपथब्राह्मणग्रन्थे वागपेक्षाया मनसः प्राबल्यं मनसापेक्षाया वाचः प्राबल्यं दृश्यते— 'वाग्वै मनसः ह्रसीयसी अपरिमिततरमिव हि मनः। परिमिततरेव वाक्'[४] परन्तु ऐतरेयोपनिषदि शान्तिपाठे वाङ्मनसौरैक्यं प्रतिपादितमस्ति- 'वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्'[५] इति। उपनिषत्सु वाचो गाम्भीर्यं रहस्यमपि प्रतिपाद्यते। अत वाचः सूक्ष्मत्वेन नित्यत्वेन अनन्तत्वेन सर्वजगत्कारणत्वेन वर्णनं दृश्यते। तथा हि— 'स तया वाचा तेनात्मना इदं सर्वमसृजत्'[६] इति। सर्वजगत्कारणस्वरूपा वागित्यपि तत्र लिखितं दृश्यते। तथाहि— 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे' इति[७]।

उपनिषत्सु वाचः कलापक्षोऽपि अभिव्यक्तिं लभते। प्रभावान्विताभिव्यक्तिः कला उच्यते। यदा वाक् सत्वोद्रेकम् आह्लादकतां माधुर्यभावं वा प्रकटयित समर्था भवति तदेदं उत्कृष्टं कलात्मकं रूपं प्रतीयते। यस्याः अन्तः रसस्य बहिश्च सौन्दर्यस्यानुभूतिः जायते। छान्दोग्योपनिषदि वाचः सौन्दर्यमीमांसाविषये आगतम् यत्— ''वाच ऋग् रसः, ऋचः, साम रसः, साम्न उद्गीथो रसः'[८] इति। अत्र ऋक्पदेन काव्यमवगन्तव्यम्। एवं वाच रसः सौन्दर्यम्, ऋचः= काव्यस्य, रसः = सौन्दर्यम्, साम = लयः नादः सौन्दर्य विशेषश्चास्ति। साम्नः रसः = सौन्दर्यम् उद्गीथोऽस्ति। उद्गीथपदेनात्र प्रणवस्य ग्रहणम्। अस्यदं तात्पय यद् यदा वाक् छन्दाबद्धा भवति, तदा गेय सति प्रणवेन सहैक्यं स्थापयति। अतो वाचो विश्रान्तिः आनन्दप्रणवैक्येन भवति। उपनिषत्सु वाचः स्वरूपं यथा प्रतिपादितं तथा वेदेषु अपि दृश्यते। ऋग्वेदानुसारं देवेभ्यः वाचः प्रजायन्ते। तथा हि— 'देवीं वाचमजनयन्त देवाः'[९] इति। निरुक्ते हि— 'वाक् कस्माद् वचेरिति' विलिखितम् अस्ति। एतेन यदुच्यते सा वाक्। तद् स्फोटात्मकं ध्वन्यात्मकं वा स्यात्, सा वाग्पदवाच्या इति तात्पयम्।

वाचश्चत्वारः प्रविभागाः ऋक्संहितायामुद्धृताः सन्ति। तथा हि—

'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि, तानि विदुःब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।[१०] इति।

---

३ बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।११
४ शतपथ ब्राह्मणम्
५ ऐतरेयोपनिषद्
६ छान्दोग्योपनिषद्
७ बृहदारण्यकोपनिषद्
८ छान्दोग्योपनिषद्
९ ऋक् संहितायाम्। निरुक्तकारोऽपि ११/२९ उद्धृत।
१० ऋक् संहितायाम्। १/१६४ महाभाष्ये पस्यशाह्निके

अस्य मन्त्रस्य अर्थः महाभाष्यकारेण भगवता पतञ्जलिना पस्पशाह्निके महाभाष्ये एवं कृतः यत् चत्वारि वाक्परिमितापदानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। तानि विदुः ब्राह्मणा ये मनीषिणः = मनसः ईषिणः मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमिषन्तीत्यर्थः। तुरीयं वा एतद् वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते, चतुर्थमित्यर्थः। वेदे वाक्शब्दः आद्युदात्तः, पदपाठेऽपि पृथक् पदत्वेन पठितः। अतः इदं स्वतन्त्रं प्रथमान्तं पदम्। एवं वाक् चत्वारि पदानि परिमितानि भवतीत्यत्रान्वयः ज्ञेयः। षष्ठीतत्पुरुषसमासस्वीकारे तन्न स्यात्। 'समासस्य' इत्यनेन अन्तोदात्तत्वविधानात्। तथा च 'वाग्' इत्यस्य अन्वयः पदानीत्येतेन सह अस्ति। असामर्थ्याच्चात्र समासो नोचितः।

तथा च ऋग्वेदस्य दशममण्डलस्थं पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तं वाक्सूक्तत्वेन प्रसिद्धमस्ति। एतच्चाध्यात्मिकसूक्तेषु चागच्छति। अष्टमन्त्रात्मकस्यास्य सूक्तस्य द्रष्ट्री अम्भृणः ऋषेः पुत्री वागस्ति। अस्य सूक्तस्य देवताऽपि वाक्। सूक्तेऽस्मिन् वाचः वर्णनं ब्रह्मणः शक्तिरिव वर्तते। अस्य सूक्तस्य द्वितीयो मन्त्रः जगती छन्दसि, तथा अन्येऽवशिष्टमन्त्राः सप्त त्रिष्टुप् छन्दसि वर्तन्ते। वाक् परमेश्वरी शक्तिरस्ति। वाक्सूक्तस्य प्रथममन्त्रव्याख्यावसरे सायणाचार्येण वाचः स्वरूपं मायात्वेन प्रतिपादितम्। तथाहि— 'माया च जगदाकारेण निवर्तते।'[११] इति। तथा च वाक्सूक्तस्य पञ्चमे मन्त्रे दृश्यते यत्–

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तन्तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।।[१२] इति।

अर्थात् वागेव बलपूर्वकं ब्रह्माणम्, ऋषिं ज्ञानिनं च निर्माति। सर्वेषु लोकेषु सैव वरीवर्ति। अन्ते च वाक् कथयति स्वयमेव—

अहमेव वात इव प्रवहाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव।।[१३] इति।

अस्यार्थोऽयमस्ति यत् श्लोकेऽस्मिन् अहं पदेन वाक् परामृश्यते। अहमेव भुवनानि उत्पन्नयन् वायुरिव प्रवहामि। द्युलोकं भूर्लोकमतिक्रम्य अहमस्मि। स्वमहिम्नैवं विशालाऽहं संजाता। एतेनैतत्सिद्ध्यति यत् वाग् ब्रह्मण इव ब्रह्म वा वर्तते। अतएव वाक्तत्वप्रतिपादकस्य व्याकरणशास्त्रस्य येऽध्ययनं कुर्वन्ति ते ब्रह्मसायुज्यं प्राप्नुवन्ति। एतच्च भगवता पतञ्जलिना समर्थितमपि पस्पशाह्निके महाभाष्ये। 'महता देवेन नः साम्यं सायुज्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्' इति।

वाचः विषये इदमपि उच्यते यदियं वाक् केषाञ्चित् जनानां कृते एव स्वस्य स्वरूपं उद्घाटयति।

---

११ वाक्सूक्तस्य प्रथम मन्त्रे सायणाचार्येणोक्तं वचनम्।

१२ वाक्सूक्तम् ऋग्वेदः (१०।१२५।५)

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्य उशती सुवासा।।[१४]

मन्त्रस्यास्य पूर्वार्धभागेन अविदुषां विषयता प्रकथिता। उत्तरार्धभागेन च विदुषां वैयाकरणानां विषयता उद्घोषिता। अर्थात् कश्चिद् अवैयाकरणः एनां वाचं पश्यन्नपि न पश्यति शृण्वन्नपि न शृणोति। तात्पर्यमिदमस्ति यद् कस्यापि शब्दस्य स्वरूपावधारणं कर्तुं न शक्नोति। अत्र का प्रकृतिः? कः प्रत्ययः? कः प्रकृत्यर्थः? कश्च प्रत्ययार्थः? समुदितार्थः विशिष्टार्थो वा कः? इति। किन्तु वैयाकरणः शाब्दिको वा शब्दश्रवणानन्तरमेव ज्ञास्यति, तत्स्वरूपनिर्धारणं च करोति। तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासा स्वात्मानमुद्घाटयति। एवम्प्रकारेण वाक् वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते। एवमेव एक अन्योऽपि मन्त्रः वाग्व्यवहर्तृणां कृते समुपलभ्यते। तथाहि—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि।।[१५]**इति।**

अस्येदं तात्पर्यम् यत्-यत्र धीराः ध्यानवन्तः सन्तः तितउना सक्तुमिव ध्यानयुक्त-मनसा तत्करणज्ञानेन वाचम् अकृत-अकृषत। अर्थात् असाधुभ्यः शब्देभ्यः विविक्तां कृतवन्तस्ते तत्करणेन शुद्धचित्ताः इत्यर्थः। अत्र ब्रह्मप्रतिपादकशब्दे शब्दार्थयोरभेदबुद्ध्या सखायः = समानाख्यातयः समानज्ञानाः। अत्र तच्छब्दे ब्रह्मैकत्वज्ञानवन्तः तेनैव दृष्टान्तेन सर्वपदार्थेषु ब्रह्मनिरूपिताभेदज्ञानवन्तः सख्यानि = सायुज्यानि जानते = प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। यतोहि एतेषां वाण्यां भद्रा = कल्याणी लक्ष्मीः = सरस्वती स्थिता अस्ति। उपनिषत्सु वाग्विचारयोः परस्परसम्बन्धस्य चर्चा समायाति। वाचं विना विचाराः नोद्भाविता भवन्ति। वार्तिककारस्य **सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे**[१६] इत्यनेन वचनेन **'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'**[१७] इति कालिदासस्य वचनेन च वागर्थयोः नित्यसम्बन्धाभिव्यक्तिर्जायते।

यद्यपि वाचो महत्वमुपनिषत्सु प्रतिपादितं तथापि तत्र इदमपि प्राप्यते यत् वाचा विनाऽपि ज्ञानं भवितुमर्हति। अत एव कठोपनिषदि दृश्यते—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते।। इति।।[१८]

परब्रह्मपरमेश्वरो हि न वाचा न मनसा, न च चक्षुषा प्राप्तुं शक्यते। एतेनेदमपि स्पष्टं जातं यत् ज्ञानगाम्भीर्यं यावत् वाङ् न गच्छति।

---

१३ ऋक्संहितायाम् १०।६१।४
१५ ऋक्संहिता। पस्पशाह्निकमहाभाष्ये
१६ महाभाष्ये पस्पशाह्निके।
१७ रघुवंशे प्रथमसर्गे १, मङ्गलाचरणम्।
१८ कठोपनिषदि २।३।१२

महावैयाकरणदार्शनिकाचार्येण भर्तृहरिणाऽपि स्वग्रन्थे वाक्यपदीये विलिखितं यत् इह संसारे एतादृशं किमपि ज्ञानं नास्ति यच्छब्देन न स्यात्। अर्थात् सर्वमपि ज्ञानं शब्देन भासते। तथाहि—

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।[१९] इति।

अत्रैव भर्तृहरिणा प्रतिपादितं यत् सर्वव्यवहारकारणं वागेव। सैव चेतना शक्तिः सैव प्राणिषु संज्ञाऽपि अस्ति। वाचः व्यापकत्वं सिद्धे सति निष्कर्षोऽयमायाति यत् वागेव परमं ब्रह्मणो विवर्तरूपमिति। स्थूलं च जगत् वाचोऽपि विवर्तरूपमिति दार्शनिकाः प्रतिपादयन्ति—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।।[२०] इति।

'नामरूपे व्याकरवाणि' नामशब्देन शब्दस्य, रूपशब्देन चार्थस्य ग्रहणमत्र विद्यते। नामरूपश्चाभिन्नमेव यतः शब्दार्थयोः तादात्म्यमस्ति। अत्र नामरूपा वाक् अर्थरूपश्च ब्रह्मेति ज्ञेयम्। इतोऽपि वाक्ब्रह्मणोरभेदः सिद्ध्यति। अत एवोपनिषत्सु यत्र कुत्रापि जगत् विचाराः ब्रह्मविचाराः वा प्रतिपादिताः प्रायः तत्र सर्वत्र वाक्तत्वमपि विचारितमस्ति। लौकिकजीवने वाचः यादृशं महत्त्वम् उपनिषत्सम्बद्धा ऋषयः दर्शितवन्तस्तथा नान्यत्र दृश्यते कुत्रापि। एतेनैतत् सिद्ध्यति यत् वाङ् न केवलं जिह्वाश्रोत्रयोः विषयः अपितु पराख्यं ब्रह्म अस्ति। तथाहि— **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** इति।[२१] ब्रह्म हि सत्यस्वरूपं ज्ञानस्वरूपमनन्तश्चास्ति। यस्मात् सर्वभूतप्राणिजीवाः जायन्ते। यस्माच्च जीवन्ति। प्रलयकाले च यस्मिन् सर्वे प्राणिनः प्रविशन्ति। तदेव ब्रह्म। तस्य ज्ञानमवश्यं करणीयम्— **'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व'** इति।[२२] अतिदुर्लभेऽस्मिन् मानवजन्मनि धर्मार्थकाममोक्षेषु निःश्रेयसरूपमोक्ष एव चरमलक्ष्यत्वेन वर्तते। स च मोक्षः औपनिषद्ज्ञानेन प्राप्यते। उपनिषत्सु हि एतदात्मज्ञानप्राप्तेः त्रीणि साधनानि प्रोक्तानि, श्रवण-मनन-निदिध्यासनानि। तथाहि— श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च। इति[२३]

अधुना जगत्यस्मिन् भौतिकतायाः नास्तिकतायाश्च प्रभावः प्रत्यक्षीक्रियते। अत एव नास्ति कुत्रापि शान्तिः। सुखशान्त्यभिवर्द्धनाय अस्माभिः उपनिषदामाश्रयणं विधेयमिति दिक्।

---

१९ वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्डे श्लोक संख्या १२३

२० वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्डे, प्रथम श्लोकः ।०१।

२१ तैत्तिरीयोपनिषद्।

२२ तैत्तिरीयोपनिषद् ३।१।१।

२३ बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।५।

श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण-तत्त्व
(पं. मधुसूदन ओझा प्रतिपादित वेदविज्ञान अनुसार)

डॉ. दीपमाला
पी.डी.एफ. (यू.जी.सी.),
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

विश्व के आदि तत्त्व के रूप में एक ही सत्य तत्त्व व्याप्त है, इसका महाघोष करते हुए ऋग्वेद कहता है-

एक एवाग्निर्बहुधा समिद्ध एकः सूर्यो विश्वमनुप्रभूतः।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभात्येकं वा इदं विबभूव सर्वम्।।[1]

संसार के यच्चयावत् पदार्थों की सृष्टि सत्य से हुई है यह तैत्तिरीय ब्राह्मण का उद्घोष है-

यस्य प्रतिष्ठोर्वन्तरिक्षं यस्माद्देवा जज्ञिरे भुवनं च सर्वे।
तत्सत्यमर्चदुपयज्ञं। न आगाद् ब्रह्माऽऽहुतीरूपमोदमानम्।।[2]

मुण्डकोपनिषद् इस सत्य तत्त्व की जगत्कारणतया बतलाते हुए कहता है कि जो यह दीप्तिमान् अणु से भी अधिक अणुतर है, जिसमें ये सम्पूर्ण लोक स्थित है वह यह अक्षर ब्रह्म है। वही प्राण है, वही वाणी और मन है। यह सत्य है, अमृत है। इसे जानना चाहिए। है सौम्य! इसे जानो।

यदर्चिमद् यदगुभ्योऽणु यस्मिन् लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणतस्तदु वाङ्मनः।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्भेद्धव्यं सौम्य! विद्धि।[3]

कृष्ण मानवरूप थे, यह एकपक्षीय तथ्य है। वे अतिमानवीय अद्भूत रस के अधिष्ठाता भी थे, यह दूसरा पक्ष है। गीता में कृष्ण केवल वासुदेव के पुत्र के रूप में ही व्यक्त नहीं हैं अपितु उन्होंने स्वयं को गोलोकवासी, परमेष्ठि कृष्ण के रूप में भी पुनः पुनः अभिव्यक्त किया है।

श्रीमद्भगवाद्गीता में कृष्ण ने स्वयं को सृष्टिमूलक सत्यतत्त्व के रूप में प्रकट किया है, जो सम्पूर्ण चराचर जगत् में प्रविष्ट होकर अभिव्यक्त हो रहा है, यथा-

---

१ ऋग्वेद १।५८।२
२ तैत्तिरीयब्राह्मण ३।१।३३
३ मुण्डकोपनिषद्

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमामुपाश्रितः।[४]
अहमात्मा गुडाकेश! सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च।।[५]
मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय!।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।[६]

पं. मधुसूदन ओझा ने आचार्यकाण्ड में इसी कृष्ण तत्त्व की वैज्ञानिकता सिद्ध की है। इसी को आधार बना कर ओझा जी के मेधावी शिष्य पण्डित मोतीलाल शास्त्री ने कृष्ण के तात्त्विक पक्ष पर आठ बृहद् निबन्धों की रचना की। भिन्न-भिन्न लोकों में कृष्ण तत्त्व का अवतरण किस प्रकार हुआ इसका विशद् विवेचन प्राप्त होता है। इस जगत् में आद्यन्त व्याप्त कृष्ण तत्त्व के वैज्ञानिक[७] स्वरूप के ज्ञान से ही **'ममैवांशो जीवलोको'**, **'ब्रह्मौवास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा'**, इत्यादि वाक्यों के सिद्धान्त का अवगम हो सकता है। शास्त्रीजी ने सत्य तत्त्व के क्रमशः प्रतिष्ठा, ज्योति, ईश्वर, परमेष्ठि, चाक्षुष, वैहायस एवं मानुषोत्तम रूपों का अवतरण दर्शाया है, जो इस प्रकार है -

१. सत्य कृष्ण - 'ममैवांशो जीवलोके' यह श्रीकृष्ण का महाघोष है। उन्होंने इस सृष्टि को अपना अंश कहा है। सत्य कृष्ण ही विभिन्न रूपों में व्याप्त हैं-

(अ) नियति सत्य कृष्ण तत्त्व - संसार के प्राणीमात्र में एक प्रकार की नियति दृष्टिगोचर होती है। पानी सदा अधोगमन करता है। अग्नि सदैव ऊर्ध्वगमन करता है। वायु तिर्यक् गमन करता है। इसी को नियति, प्रकृति या नेचर कहते हैं। यह नियति सत्य स्वरूप है, क्योंकि जो पदार्थ कभी परिवर्तित नहीं होता उसी का नाम सत्य है। जो अधोगमनादि हजारों वर्ष पूर्व भी था और भविष्य में भी वैसा ही रहेगा। इस प्रकार की प्रकृति का निर्माण कार्य बुद्धिपूर्वक होता है अतः प्रकृति (नियति) सत्य एवं चेतना मिश्रित है। इस चिदानुगृहित नियति सत्य का ही कृष्ण तत्त्व से सम्बन्ध है। वह एक ही विश्व-व्यापक नियन्ता प्रति पदार्थ में नियति रूप से प्रतिष्ठित हो कर उन-उन पदार्थों की शक्ति के अनुसार उनका नियन्त्रण करता है। यह नियति इसलिए भी सत्य है, क्योंकि वह सत्य के यच्चयावत् पदार्थों का नियमन करता है - पदार्थों के स्वरूप का जिस शक्ति द्वारा सञ्चर-प्रतिसञ्चर किया जाता है, अर्थात् उत्पत्ति एवं विनाश किया करता है- उसी शक्ति का नाम 'नियति' है। इसी को प्रकृति कहते हैं।''[८]

सृष्ट, प्रविष्ट एवं प्रविविक्त ब्रह्म - सृष्टि प्रक्रिया में यह कृष्ण तत्त्व या ब्रह्म किस

---

४ श्रीमद्भगवद्गीता ७/२५
५ श्रीमद्भगवद्गीता १०/२०
६ श्रीमद्भगवद्गीता ७/७
७ एको ज्ञानम्, विविधम् ज्ञानम् विज्ञानम्, सबसमें एक तत्त्व का बोध ज्ञान है एवं एक तत्त्व के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान विज्ञान है।
८ गीता में कृष्ण तत्त्व (प्रथम खण्ड) राजस्थान पत्रिका प्रकाशन, जयपुर पृष्ठ सं.

प्रकार प्रविष्ट हुआ इसको स्पष्ट करने हुए पं. मोतीलाल शास्त्री कहते हैं कि प्रारम्भ में क्षोभ रहित शान्त असीम रस था जिसमें सभी बल[९] लीन अवस्था में थे। तब सर्व प्रथम माया बल ने उत्पन्न होकर इस असीम रस को ससीम बनाया। उस ससीम रस में केन्द्र (हृ-द्-य) उत्पन्न हुआ। इस हृत्[१०] बल से अशनाया बल उत्पन्न हुआ। इस प्रकार कई बलों के उत्तरोत्तर संसृष्ट होने से इस जगत् का स्वरूप बना। इस असीम अमृत सत्य रस का जितना अंश बल के ग्रन्थि बन्धन से आवृत्त होता है वही सृष्ट ब्रह्म कहलाता हैं

ब्रह्म का दूसरा स्वरूप है- "प्रविष्ट"। श्रुति कहती है - "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" अर्थात् वह ब्रह्म, वह सत्य, जगत्, को उत्पन्न कर स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गया। यही प्रविष्ट ब्रह्म है। तात्पर्य यह है कि जो बल, पर्वत, नदी, चन्द्र, सूर्य इत्यादि शरीर अर्थात् पिण्ड-स्वरूपों में परिणत हो गये हैं, उन शरीरावस्थापन्न मृत्युओं में वह अमृत अधिष्टातृत्वेन उन शरीरों का आत्मा बन कर उन में प्रविष्ट हो जाता है। यहाँ जो शरीर (हाड-माँस-मज्जादि) है वह सृष्ट बह्म है एवं जो चेतनांश है वह "प्रविष्ट ब्रह्म" है। इसी प्रविष्ट ब्रह्म का निर्देश श्रुति इस प्रकार करती है-

प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमाना बहुधा विजायते।
तस्ययोनिं परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्हतस्थुर्भुवनानि विश्वा।।[११]

गीता भी प्रविष्ट ब्रह्म का उपदेश करते हुए कहती है-

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढ़ानि मायया।।[१२]

यह विश्व परिमित है, यह ब्रह्म अपरिमित, असीम है। इस अपरिमित अमृत स्वरूप सत्य ब्रह्म का इस परिमित विश्व से अतिरिक्त जो भाग बच जाता है वही "प्रविविक्त" ब्रह्म है। इसी प्रविविक्त ब्रह्म के लिए कहा जाता है-

नाहं मन्ये सुवेदेति नोनवेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेदत्तद्वेद, नो न वेदेति वेद च।।[१३]

इस प्रकार इस ब्रह्म या सत्य तत्त्व से भिन्न सृष्टि और सृष्टि से परे कुछ भी नहीं है।

सत्य तत्त्व और विश्व - सामान्य मनुष्य सम्पूर्ण प्रपञ्च को सत्य और विश्व इन दो भागों में विभक्त समझते हैं। उनकी दृष्टि में सत्य चेतन है और विश्व जड़ है। इस प्रकार वे द्वैत

---

९ पं. ओझा के अनुसार वस्तुतः बल अनन्त है किन्तु उनको प्राप्ति स्थान के आधार पर विभाजित करने पर षोडश बलकोश प्राप्त होते हैं - १. विद्या, २. माया, ३. जाया, ४. धारा, ५. आप, ६. भूति, ७. हृदय, ८. यज्ञ, ९. सत्य, १० यक्ष, ११. अध्व, १२. वय, १३. मोह, १४. वय, १५. वयोनाध, १६. वयुन्। गीता में कृष्ण तत्त्व, प्रथम भाग, पृ. १८

१० हत बात- बाहर की वस्तु का आहरण, प्राप्त वस्तु का उत्सर्ग एवं आई वस्तु संयमन करना ये तीन बल हरति, यच्छति इति हृदय कहते हैं।

११ शुक्र यजुर्वेद २१/१५

१२ श्रीमद्भगवद्गीता १८/६१

१३ केनोपनिषद् २।१

की उपासना करते हैं। वस्तुत: ये दोनों एक ही वस्तु हैं कारण रूप प्राग्भाव सत्य है तो कार्य रूप उत्तर भाव विश्व है। यह कार्य कारण भाव मिट्टी से घट के समान अभिन्नसत्तात्मक है। इसीलिए कहा गया है – **''अर्द्धम् प्रजापतेरात्मोमर्त्यमासीदर्द्धममृतम्''**। अर्थात् इस सत्य ब्रह्म के अमृत और मृत्यु ये दो स्वरूप हैं। इस ब्रह्म-कर्म समष्टि का नाम ही प्रजापति है। जिस विश्व प्रपञ्च को आचार्य शङ्कर माया कहकर मिथ्या बतलाते हैं उसी को ओझाजी सर्वथा सत्य मानते हैं। शास्त्री जी के शब्दों में – ''अमृत भी नित्य तत्त्व है और मृत्यु भी अमृतालम्बन होने के कारण नित्य है। जब अमुत में मृत्यु सहचर भाव से रहता है तो उस अवस्था को विश्वातीत शब्द से व्यवहृत किया जाता है एवं अमृत में मृत्यु चिति सम्बन्ध से रहता है तो उस अवस्था को विश्व कहा जाता है। भेद-मृत्यु-निबन्धन है, अभेद अमृत-निबन्धन है''।[१४]

इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है –

अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्।
मृत्युर्विवस्वन्तन्बस्ते मृत्योरात्मा विवस्वति।।[१५]

इसका समर्थन श्रीकृष्ण भी करते हैं–

कर्मण्यकर्म य: पश्येदकर्मणि च कर्म य:।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्त: कृत्स्नकर्मकृत्।।[१६]

प्रतिष्ठा कृष्ण – 'ब्रह्मेवास्य सर्वस्य प्रतिष्ठा ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्।' सांसारिक पदार्थों में जो एक ठहराव है उसी का नाम प्रतिष्ठा है। सम्पूर्ण विश्व की प्रतिष्ठा क्या है? इसका उत्तर है— असीम रस को परात्पर कहते हैं। उसमें महामायावच्छिन्न निष्कल अव्यय पुरुष उत्पन्न होता है। योग माया के कारण वह अव्यय आनन्द-विज्ञान-मन-प्राण-वाक् इन पाँचों कलाओं से युक्त हो जाता है। फिर उसमें ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम पञ्चकलोपेत अक्षर उत्पन्न होता है। जिसमें प्राण-आप-वाक्-अन्नाद्-अन्न कलाओं वाला क्षर उत्पन्न हो जाता है। परात्पर शुद्ध रस होने से किसी का कारण नहीं है। अत: पञ्चकलोपेत अव्यय पुरुष ही सबका अधिष्ठान या प्रतिष्ठा है। यह अव्यय पुरुष श्री कृष्ण स्वयं हैं यही प्रतिपादन गीता का मुख्य प्रतिपाद्य है कहा भी है –

यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम:।।[१७]
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्य: परमव्ययम्।।[१८]

ज्योति: कृष्ण – सर्ववित् व्यापक कृष्ण का पहला अवतार प्रतिष्ठा अवतार है। इस प्रतिष्ठा अवतार से दूसरा ज्योतिरवतार होता है। ज्योति अर्थात् नाम रूप है जिसका निर्वचन

---

१४ गीता में कृष्ण तत्त्व (प्रथम खण्ड) पृ.सं. ३०३
१५ शतपथब्राह्मण १०।३।५
१६ श्रीमद्भगवद्गीता ४।१८
१७ श्रीमद्भगवद्गीता १५।१२
१८ श्रीमद्भगवद्गीता ७।१३

श्रुति इस प्रकार करती है -

यः सर्वज्ञः सर्ववित्-यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नामरूपमन्नं च जायते।।[१९]

प्रतिष्ठा से ही ज्योतिरवतार होता है क्योंकि नाम-रूप वाचक है जो किसी वाच्य की अपेक्षा रखते हैं। ज्योति दो प्रकार की होती है-ज्ञान ज्योति और भूतज्योति।

''न तत्र सूर्य्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।''[२०]

यह श्रुति भी ज्ञानज्योति एवं भूतज्योति की ओर ही सङ्केत कर रही है। ज्ञान ज्योति को ही आत्म ज्योति भी कहते हैं। शास्त्री जी भी कहते हैं- सूर्य, चन्द्र, तारक(अग्नि), विद्युत् (वाक्) ये चार भूत ज्योति हैं एवं पाँचवी ज्ञान ज्योति है इसी को आत्म ज्योति भी कहते हैं।[२१]

ज्योतिः कृष्ण का आधार वही सत्य कृष्ण है इसी अभिप्राय से शास्त्री जी ने कहा- ''तमासीत् तमसागूढमग्रे'' तम, तम से आवृत था। इसमें जो तम, तम से आवृत्त था। इसमें जो तम आवृत्त था वह निरुपाख्य-कृष्ण है। जिसने इसे आवृत्त किया है वह यही अनिरुक्त कृष्ण है। यहाँ विश्व ज्योति का सर्वथा अभाव है, अतएव हम इस निरुपाख्य कृष्ण ज्योति को ब्रह्म-लक्षण शुद्ध ज्ञान-ज्योति कहने के लिए तैयार हैं। यही हमारे पूर्व प्रपञ्चित 'सत्य कृष्ण' हैं।[२२]

४. ईश्वर कृष्ण - प्रजापति ही ईश्वर है। ब्रह्म सृष्ट, प्रविष्ट एवं प्रविविक्त रूपों में सर्वत्र ओतप्रोत है। इसमें से जो प्रविविक्त रूप है वह सर्वथा अविज्ञेय है। किन्तु प्रविष्ट एवं सृष्ट ब्रह्म ज्ञेय है। ईश्वर सर्वधर्मोपपन्न हैं, विश्वान्तर्भूत हैं, महामाया से परिछिन्न है, कार्य सत्ताक्रान्त हैं। ईश्वर जगदीश्वर कहलाते हैं। वह इस विश्व का अध्यक्ष हैं। **'योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन्'**[२३] से इसे ही चराचर का स्वामी बतलाया गया हैं।

इस प्रजापति (ईश्वर) के लिए वेद में पुनः-पुनः संवत्सरः प्रजापतिः कहा गया है। यह प्रजापति षट्संस्थ है। जिसका उल्लेख करते हुए शास्त्री जी कहते हैं[२४] -

वेद में इन छहों का भिन्न-भिन्न रूप में एवं समष्टि रूप में वर्णन आता है। शास्त्री जी ने इनका विशद् वर्णन 'ईश्वर कृष्ण' नामक निबन्ध में किया है।

५. परमेष्ठि कृष्ण - ईश्वर के पश्चात् परमेश्वर या परमेष्ठि कृष्ण का स्वरूप बतलाया है। सूर्य से भी परे स्थिति यह परमेष्ठि भगवान ऋत् सत्य भेद से स्वरूप धारण करता है। शास्त्री

---

१९ मुण्डकोपनिषद् १।१।९
२० मुण्डकोपनिषद् २।२।१०
२१ गीता में कृष्ण तत्त्व (प्रथम खण्ड), पृ. २७०
२२ तदेव, पृष्ठ ३५६
२३ ऋग्वेद १०।१२।७
२४ गीता में कृष्ण तत्त्व (प्रथम खण्ड) पृ. ३६

जी के अनुसार— ''परमेष्ठि कृष्ण सूर्य और स्वयंभू के बीच में, अन्तरिक्ष में है जो कि आन्तरिक समूह नाम से व्यवहृत कहलाता है। परमेष्ठि कहाँ पर है? कैसा स्वरूप है? इसका उत्तर यही है कि वह सूर्य और स्वयम्भू के बीच में है एवं अप-वायु-सोमात्मक उसका स्वरूप है। यह विष्णु अपोमय होने के कारण परमेष्ठि सत् कहलाता है। जैसाकि श्रुति कहती है— **'आपोऽभवत्। आपो वा इदं सर्वम्। ता यत् परमेस्थाने तिष्ठन्ति तस्मात् परमेष्ठि नाम।'** इस परमेष्ठि कृष्ण विष्णु का वृहद् स्वरूप शास्त्रीजी ने परमेष्ठि कृष्ण नामक निबन्ध में उद्घाटित किया है।

६. चाक्षुष कृष्ण– सत्यकृष्ण क्रमशः अवतरित होता हुआ सौर कृष्ण रूप धारण करता है। इसी सूर्य से हमारे नेत्र निर्मित है –

'आदित्यश्चक्षुर्भवत्वाक्षिणी प्राविशत्'

चाक्षुष कृष्ण से सूर्य का अभेद यह श्रुति भी बतलाती है–

'यश्चायमशरीरप्रज्ञात्मा यश्चासावादित्य एकमेतदिति विद्यात् तस्मात् पुरुषं प्रत्यादित्यो भवति।'[२५]

यह चाक्षुषपुरुष तीन प्रकार का है –

(१) भौतिक (प्रतिबिम्बित) चाक्षुष पुरुष

(२) प्रज्ञानिक चाक्षुष पुरुष

(३) वैज्ञानिक चाक्षुष पुरुष।

प्रथम चाक्षुष पुरुष दोनों नेत्रों में रहता है यह प्रतिबिम्बित वस्तु का ग्रहण करने वाला है। उस प्रतिबिम्ब का अभिज्ञान करने वाला दोनों नेत्रों में प्रज्ञा नाम का मन रहता है, यही द्वितीय प्रज्ञानिक चाक्षुष पुरुष है। तृतीय वैज्ञानिक चाक्षुष पुरुष केवल दाहिनी आँख में ही रहता है इसी पर पर-प्रज्ञानसमर्पित वस्तु की वासना रूप में स्थिति होती है श्रुतियों में इसी तृतीय वैज्ञानिक पुरुष को ही चाक्षुष कहा जाता है।

वैहायस कृष्ण – यह स्वयम्भू सत्य कृष्ण, परमेष्ठि सूर्य में अवतरित होता हुआ चन्द्रमा में आता है। चन्द्रमा चूँकि आकाश में रहता है और अन्तरिक्ष को विहायस कहते हैं अतः एवं इस कृष्ण को ''वैहायस'' नाम से कहा जाता है। चन्द्रकृष्ण के लिए ही याज्ञवल्क्य कहते हैं – **''चन्द्रमा वै ब्रह्माकृष्णः''**।[२६]

इस वैहायस कृष्ण चन्द्र के दिव्य (आधिदैविक) रास[२७] से ही पृथ्वीलोक के मनुष्यों के मनोभाव प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। इस सोममय चन्द्रमा से ही श्रीकृष्ण के मानुषावतार का सम्बन्ध है अतः कृष्ण को सोमवंशी कहा गया है।

मानुषोत्तम कृष्ण – जिस प्रकार माता-पिता से हम आप उत्पन्न होते हैं वासुदेव कृष्ण

---

२५ ऐतरेयोरण्यक ३।३।९

२६ शतपथ ब्राह्मण १३।२।७।७

२७ पं. मोतीलाल शास्त्री द्वारा रास-लीला का वैज्ञानिक स्वरूप 'वैधयसकृष्ण' में विस्तार से विरेचित है।

भी वैसे ही उत्पन्न हुए थे। किन्तु वे मानुषोत्तम कहलायें क्योंकि सोम तत्त्व चन्द्रमा से पृथ्वी में प्रवेश कर फिर सामान्य मनुष्य में प्रविष्ट होता है किन्तु श्रीकृष्ण में यह सोमतत्त्व साक्षात् चन्द्रमा से ही प्रविष्ट हुआ। वस्तुतः यह सत्य तत्त्व सर्वत्र व्यापक है। परन्तु जैसे सौर रश्मियाँ बिना काँच या पानी के अवभासित नहीं होती उसी प्रकार चिद्ग्राहक वस्तु के अभाव में चेतना प्रादुर्भूत नहीं होती। यहाँ वह महान् सोम चित् में प्रविष्ट हुआ वहाँ यह सत्य कृष्ण अवभासित हो गया। अतः श्रीकृष्ण को अवतार कहा जाता है। श्रीकृष्ण के मानुषोत्तमत्व भाव की सिद्धि में शास्त्री जी ने कृष्ण के साथ धर्मो का विस्तृत विवेचन किया है जिनका उल्लेख इस प्रकार है[२८]—

१. **गीता सम्मत त्रिरूपत्व** – १. स्वयम्भू सत्यरूप अव्यय २. पारमेष्ठ्य ईश्वर ३. जीवात्मा गीता में भगवान् ने अपने इन तीन रूपों को बतलाया है।
२. नवरूपत्व ओझाजी ने कृष्ण में इन नौ रूपों का समावेश बतलाया है– १. सत्य २. प्रतिष्ठा ३. पारमेष्ठ्य ४. मानुष ५. चाक्षुष ६. वैहायस ७. पार्थिव ८. ज्योति ९. यज्ञ।
३. सत्यावतारत्न
४. **लोकचतुष्ट्यसाक्षित्व** – श्रीकृष्ण परमेष्ठि (आपः), सूर्य (द्यौ), चन्द्रमा (अन्तरिक्ष), पृथिवी इन चारों लोकों के साक्षी थे।
५. ईश्वर साधर्म्य
६. जगद्गुरुत्व
७. उपास्यत्व

इस प्रकार सच्चिदानन्दघन अखिलविश्व प्रभव एवं सर्वजगन्नियन्ता जो एक अमूर्त सत्य तत्त्व हैं वह कृष्ण नाम से अभिधेय हैं, वही सर्वत्र ओत प्रोत है। श्रुति भी कहती है कि यह चिदात्मा पूर्ण है एवं यह विश्व भी पूर्ण है। उसी पूर्ण से पूर्ण उत्पन्न होता है एवं उस विश्व पूर्ण की पूर्णता को जब पूर्ण में मिला दिया जाता है तो पूर्णेश्वर ही शेष रहता है –

पूर्णमदः पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

।।पञ्चकोश समीक्षणम्।।

---

२८ गीता में कृष्ण तत्त्व (प्रथम खण्ड) पृ.सं. ३८

नैषधीयचरितम् में वेदान्त तत्त्व

डॉ.स्मिता सारस्वत
बी-२९/३०, रूपरजत टाउन शिप,
पाल रोड, जोधपुर

श्रीहर्ष का नैषधीयचरित महाकाव्य बृहत्त्रयी में परिगणित होता है। यह महाकाव्य न केवल नल दमयन्ती के जीवन वृत्तान्त को वरन् भारतीय संस्कृति, नैतिक मूल्यों, षड्दर्शन एवं विभिन्न शास्त्रों की विवेचना भी करता है। यही कारण है कि नैषध महाकाव्य को **'नैषधं विद्वदौषधं, नैषधे पदलालित्यम्'** जैसी उपाधियों से विभूषित किया गया। वेदों की चरम परिणति अथवा वेदों के अन्तिम भाग उपनिषद् कहलाते हैं क्योंकि वेदों का अन्तिम ध्येय ब्रह्म का निरूपण है। इसी का अन्य नाम है -वेदान्त।

वैदिकवाक्य पूर्णतः प्रामाणिक होते हैं। वेद के दो भाग हैं - १. कर्मकाण्ड, २. ज्ञान- काण्ड। कर्मकाण्ड की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ को पूर्व मीमांसा और ज्ञान काण्ड अर्थात् ब्रह्म तत्त्व की व्याख्या करने वाले ग्रन्थों को उत्तरमीमांसा अथवा वेदान्त की सञ्ज्ञा दी गई है।

उपनिषद् पद उप और नि उपसर्गपूर्वक 'षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु' धातु से क्विप् प्रत्यय का संयोग होने पर निष्पन्न होता है विशरण अर्थात् नष्ट होना, गति अर्थात् जानना एवं अवसादन अर्थात् शिथिल होना। इसका तात्पर्य है कि उपनिषदों के अध्ययन से संसारी जन को माया रूप अविद्या का नाश होकर ब्रह्म की प्राप्ति होती है एवं गर्भादिक समस्त दुःख सर्वथा शिथिल हो जाते हैं अर्थात् उपनिषद् वह साहित्य है जिसमें ब्रह्म के स्वरूप और उसकी प्राप्ति के उपाय, जीव और जगत् का रहस्योद्घाटन तथा आत्मादि गम्भीर विषयों का विस्तृत विवेचन है।

श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य में वेदान्त की विषय वस्तु को सरस्वती के रूप वर्णन प्रसङ्ग में ब्रह्मकाण्ड के रूप में प्रस्तुत किया हैं-

ब्रह्मार्थकर्मार्थकवेदभेदात् द्विधा विधाय स्थितयाऽऽत्मदेहम्।
चक्रे पराच्छादनचारु यस्या मीमांसया मांसलमूरुयुग्मम्।।[1]

चूंकि श्रीहर्ष अद्वैत वेदान्त के समर्थक थे और नैषध में उन्होंने अद्वैत सिद्धान्त के

१ नैषधीयचरितम् १०/८१

प्रतिपादक श्री विष्णु के दत्तात्रेय स्वरूप का भी वर्णन किया है।[२] इनका खण्डनखण्डखाद्य नव्यन्याय की शास्त्रीय शैली में लिखा गया है और यह अद्वैत वेदान्त का चूड़ान्त ग्रन्थ है।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र एवं श्रीमद्भगवद्गीता वेदान्त के मूल ग्रन्थ हैं। इसमें भी उपनिषद् प्रमुख हैं। शेष दो इन्हीं पर आधारित हैं। उपनिषदों में जहाँ साङ्ख्यादि द्वैत परक दर्शनों के बीज सूक्ष्म रूप से विद्यमान हैं, वहीं वेदान्त दर्शन के बीज भी उपनिषद् में प्राप्त होते हैं। अत: शङ्कराचार्य जी ने अनेक स्थानों पर इसे औपनिषद्दर्शन की संज्ञा दी है, जिसमें वेदान्त शब्द सर्वप्राचीन माना जाता हैं।[३]

उपनिषद् एकात्मवाद के पोषक हैं। महर्षि बादरायण ने उपनिषदों के सिद्धान्त को सूत्रबद्ध करके जिस ग्रन्थ की रचना की वह उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त दर्शन कहलाता है। इसमें उपनिषद् प्रतिपाद्य जीव और ब्रह्म के स्वरूप का विवेचन, जगत् की स्थिति तथा मोक्ष आदि पर सूक्ष्म रूप से दृष्टि डाली गई हैं। नैषधकार ने उपनिषदों में वर्णित विषय सामग्री का विवरण स्वयंवर सभा में राजकुमारों के मध्य आई दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन प्रसङ्ग में दमयन्ती की उपनिषद् की उपमा देकर किया है –

साऽनन्तानाप्य तेज:सखनिखिलमरुत्पार्थिवान् दिष्टभाज:,
चित्तेनाशापुषस्तान् सममसमगुणान् मुञ्चती गूढ़भावा।
पारेवाग्वर्तिरूपं पुरुषमनु चिदम्भोधिमेकं शुभाङ्गी,
नि:सीमानन्दमासीदुपनिषदुपमातत्परीभूय भूय:।।[४]

अर्थात् जिस प्रकार परमगोपनीय और शुभाङ्गो से युक्त उपनिषद् विद्या, पृथ्वी, जल, तेज, आकाश, वायु, काल, दिक्, मन, एवं नित्य पदार्थ, सामान्य, विशेष और समवाय तथा पञ्च सङ्ख्या युक्तकर्म और गुणों का निषेध करके चैतन्य, धन, असीम,आनन्दमय परब्रह्म रूप एक मात्र अद्वैत तत्त्व को लक्ष्य करके उसका प्रतिपादन करती है, उसी प्रकार नल में अथाह प्रेम रखने वाली शुभाङ्गी उस दमयन्ती ने भी चित्त में विवाह की आशा से स्वयंवर में उपस्थित हुये तेजस्वी, अनुपम, गुणशील, असङ्ख्य नरेशों और देवों का त्याग करके अवर्णनीय रूप वाले ज्ञान सागर और उत्साह सम्पन्न एकमात्र नल को ही अपना लक्ष्य बनाया।

छान्दोग्योपनिषद् में आत्मा के वास्तविक स्वरूप के निरूपण में सनत्कुमार भी नारद जी से कहते हैं कि यह आत्मा सारे पदार्थों तथा मानसिक क्रियाकलापों से परे है। वाक्, मन, सङ्कल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, आप, तेज, आकाश, स्मृति, आशा,

---

२ सन्तमद्वयमेऽध्वनि दत्तात्रेयमर्जुनयशोऽर्जुनवीरम्।
नौमि योगजनितानघसञ्चं त्वामलर्क भवमोहमोऽर्कम्।। नैषधीयचरितम् २१/९३

३ वेदान्त विज्ञानसुनिश्चितार्था – मुण्डकोपनिषद ३/२/५
वेदान्त परमं गुह्यम् – श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/२२

४ नैषधीयचरितम् ११/१२९

प्राण आदि में आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट है। यही कारण रहा होगा कि श्रीहर्ष ने इस सन्दर्भ में अन्य तत्त्वों का तो निराकरण किया किन्तु आत्मतत्त्व का नहीं। इस प्रकार यहाँ श्रीहर्ष ने नल को ब्रह्म रूप में और दमयन्ती को जीव रूप में चित्रित करते हुये ब्रह्म की सभी विशेषताओं को नल में आरोपित किया है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।[५]

ब्रह्म सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है। वह हृदय की गुहा में छिपा है, परन्तु साथ ही परम व्योम में दृश्यमान है। इसी प्रकार राजा नल का भी चतुर्दिग्व्यापी कीर्तिमण्डल अनन्त तक प्रसारित है।

रसैः कथा यस्य सुधावधीरणी नलस्य भूजानिरभूद् गुणाद्भुतः।
सुवर्णदण्डैकसितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलि कीर्तिमण्डलः।।[६]

स्वयं नल चौदह विद्याओं के ज्ञाता, अध्यक्ष, आचरण कर्त्ता और प्रचारक होने से वे अथाह ज्ञान के सागर हैं।

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः।
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतस्स्वयं न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्।।[७]

जहाँ से वाणी और मन लौट जाते हैं, वहाँ से ब्रह्म का ज्ञान प्रारम्भ होता है अर्थात् ब्रह्म अनिर्वचनीय है।[८] इसी प्रकार राजा नल के यश और सौन्दर्य दोनों की वाणी से परे हैं। इनका वर्णन नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि देवता भी नल कथा का पुनः-पुनः आस्वादन करते हैं।

निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथां तथाद्रियन्ते न बुधास्सुधामपि।
नलस्सितच्छत्रित कीर्तिमण्डलस्स राशिरासीन्महसां महोज्ज्वलः।।[९]

जिस प्रकार सम्पूर्ण उपनिषदों में तत्त्वमसि[१०] अहं ब्रह्मास्मि[११], सदैव सोम्येदमग्र आसीदमेवाद्वितीयम्[१२] एष ह्येव सर्वे देवाः[१३], अयमात्मा ब्रह्म[१४] इत्यादि वाक्यों में ब्रह्म और आत्मा के एकात्म का प्रतिपादन मिलता है, उसी प्रकार जीव रूप दमयन्ती की अन्य राजाओं और देवताओं को छोड़ कर ब्रह्म रूप राजा नल को वरण करने की अभिलाषा

५ तैत्तिरेयोपनिषद् २/१/१
६ नैषधीयचरितम् १/२
७ नैषधीयचरितम् १/४
८ यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह। तैत्तिरेयोपनिषद् २/४/१
९ नैषधीयचरितम् १/१
१० छान्दोग्योपनिषद् ६/८/७
११ बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०
१२ छान्दोग्योपनिषद् ६/२/१
१३ बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/६
१४ माण्डूक्योपनिषद् २

सम्यक् प्रतीत होती है, क्योंकि जीव का ब्रह्म से ही एक्य सम्भव है, अन्य से नहीं। दमयन्ती की मधुर वाणी के वर्णन और नल के कथन में भी नैषधकार ने उपनिषद् विद्या को अद्वैत का प्रतिपादनकर्त्ता बताया है।

प्रसूनबाणाद्वयवादिनी सा कापि द्विजेनेपनिषत्पिकेन।
अस्याः किमास्यद्विजराजतो वा नाधीयेते भैक्षभुजा तरुभ्यः।।[१५]

इतना ही नहीं श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य में अद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन करने वाले महावाक्यों यथा तत्त्वमसि और स वा एष महाजन आत्मा[१६], एकमेवा द्वितीयं ब्रह्म और नेह नानास्ति किञ्चन[१७] का प्रतिपादन भी कलिवर्णन प्रसङ्ग में दिया है।[१८] जहाँ कलि प्रतिनिधि अपने सिद्धान्त के औचित्य में इन महावाक्यों का खण्डन करता है। नल के देवार्चना प्रसङ्ग में की गई शिवाराधना और विष्णु वन्दना में **सर्वं खलु इदं ब्रह्म** की अवधारणा का उल्लेख करते हुय महाकवि का कथन है कि-

वस्तु वास्तु घटते न भिदानां यौक्तनैकविधबाधविरोधैः।
तत्त्वदीहितविजृम्भिततत्तद्भेदमेतदिति तत्त्वनिरुक्तिः।।
वस्तुविश्वमुदरे तव दृष्ट्वा बाह्यवत् किल मृकण्डतनूजः।
स्वं विमिश्रमुभयं न विविञ्चन् निर्ययौ स कतरस्त्वमवैषि।।[१९]

युक्तियुक्त अनेक प्रकार की बाधाओं तथा विरोध से पदार्थ भेदाश्रित नहीं होते किन्तु तुम्हारी (विष्णु) चेष्टा के विजृम्भक से वस्तु भेदाश्रित होते हैं। यही तात्त्विक सिद्धान्त है अथवा दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि 'तत्त्वमसि, सर्वं विष्णुमयं जगत् अथवा सर्व खलु इदं ब्रह्म आदि श्रुति वचनों के अनुसार घट पटादि पदार्थों में वास्तविक विचार से कोई भेद प्रतीत होता किन्तु संसार में आपकी (विष्णु) इच्छा (माया) के विलास से एक चन्द्रमा होते हुये भी अविद्यावश दो चन्द्रमा के समान भेद प्रतीति होती है। इतः एवं श्रवण मननादि क्रम से आपका साक्षात्कार होने पर एक मात्र आप ही सम्पूर्ण जगत् स्वरूप में दिखाई देते हैं। प्रसङ्गतः तो यहाँ श्रीहर्ष के अवतार का वर्णन करते हैं।

महाकवि ने मोक्ष का उल्लेख भी अनेक स्थानों पर किया है। दमयन्ती के उपवन में उनकी सखियों द्वारा हंस को ब्रह्म रूप में देखने के वर्णन में महाकवि कहते हैं -

नेत्राणि वैदर्भसुतासखीनां विमुक्ततत्तद्विष ग्रहाणि।
प्रापुस्तमकं निरुपाख्यरूपं ब्रह्मेव चेतांसि यतव्रतानाम्।।[२०]

---

१५ नैषधीयचरितम् २१/१०२
१६ बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२५
१७ बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/१६
१८ नैषधीयचरितम् १७/५४, ५६
१९ नैषधीयचरितम् २१/१०७, १०८
२० नैषधीयचरितम् ३/३

अर्थात् विभिन्न विषयाग्राही नेत्रों वाली सखियों ने अनिर्वचनीय स्वरूप वाले हंस को देखकर वैसा ही आनन्द प्राप्त किया जैसा योगियों के चित्त सांसारिक विषयों को छोड़कर अनिर्वचनीय रूप वाले ब्रह्म को प्राप्त करके अनुभव करते हैं।

हंस तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम्।
ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे।।[२१]

यहाँ भी दमयन्ती ने हंस को पकड़ने की अभिलाषा से अपने शरीर को उसी निश्चलता को प्राप्त करवाया जैसे मन्वादि निरन्तर ध्यान से परमात्मा को आदरपूर्वक ग्रहण करने के लिए योगी की मनोवृत्ति निश्चल होती है। नारद द्वारा इन्द्रपुरी पहुँचने के वर्णन में श्रीहर्ष लिखते हैं–

स व्यतीत्य वियदन्तरगाधं नाक नायकनिकेतनमाप।
सम्प्रतीर्य भवसिन्धुमनादि ब्रह्म शर्मभर चारु यतीव।।[२२]

अर्थात् नारद जी ने अपरिमिताकाश को पारकर इन्द्रभवन को वैसे ही प्राप्त किया जैसे परमहंस अनादि प्रवाह युक्त संसार सागर को पार करके आनन्दातिशय रमणीय ब्रह्म को प्राप्त करता है। यहाँ महाकवि ने 'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं'[२३] की सङ्गति की है और मल्लिनाथ जी उपर्युक्त प्रसङ्ग में श्रीहर्ष के वेदान्त सम्मन्वित तथ्य की पुष्टि करते हैं।[२४]

आत्मज्ञान होने पर योगी आत्मा और प्रकृति को अपने विवेक से जान लेता है।[२५] इस तथ्य को भी श्रीहर्ष ने दौत्य प्रसङ्ग में राजा नल में आरोपित किया। जहाँ दमयन्ती के कारण विलाप को सुनकर नल भावोद्रेक में स्वयं को प्रकट कर देते हैं। मुनि आत्मज्ञान प्राप्त करके अपने प्रकाश स्वरूप परमात्मा और प्रकृति को भिन्न-भिन्न जान लेता है, उसी प्रकार नल भी तत्क्षण वास्तविकता का बोध होने पर पुनः देवदूत रूप में प्रकट होकर दूतोचित कथन करने लगते हैं।[२६]

तात्पर्य है कि साधन चतुष्टय सम्पन्न साधक योग आदि के द्वारा संसार के आवागमन को दूर करने में समर्थ ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, तदनन्तर स्वयं को 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, ऐसा जान लेता है। तथापि पूर्व संस्कार अथवा प्राप्त ब्रह्म ज्ञान से सत्त्व, रजस् और तम गुणत्रय एवं अविद्या को पृथक् जानकर पहले 'मैं मनुष्य था' इत्यादि

---

२१ नैषधीयचरितम् ३/४
२२ नैषधीयचरितम् ५/८
२३ तैत्तिरियोपनिषद् २/४
२४ नैषधीयचरितम् जीवातु टीका – ५/८
२५ अहमनुरूपवं सूर्यश्चाहं कक्षीवानृषिरस्मि विप्रः।
अहं कृत्समार्जुनेयं सृजेऽहं कविरुशना पश्यतामा।। बृहदारण्य. १/४/१०, २/४/५
२६ मुनेर्यथात्मानमथ प्रबोधवान् प्रकाशयन्तं स्वमसावबुध्यत।
अपि प्रपन्नां प्रकृतिं विलोक्य तामवाप्त संस्कारतयाऽसृजद्विरः। नैषध ६/१२१

भी जानता है। इस प्रकार वह आत्मा और प्रकृति के भेद को विवेक से जान लेता है।

परमात्माज्ञानान्तर मोक्ष के प्रदाता ईश्वर ही हैं। श्री विष्णु को संसार के रचयिता रूप में मानते हुए[२७] तथा उन्हीं के ध्यानानन्तर कर्मक्षयपूर्वक मुक्ति प्राप्त होने में ईश्वर को मोक्ष का कारण मानते हुये महाकवि कथन करते हैं-

प्राग्भवैरुदगुदग्भवगुम्फान्मुक्तियुक्तिविहताविह तावत्।
नापरः स्फुरति कस्यचनापि त्वत्समाधिमवधूय समाधिः।।[२८]

नल द्वारा दमयन्ती के सौन्दर्य वर्णन प्रसङ्ग में कवि यह तथ्य भी प्रस्तुत करते हैं कि ईश्वर ही पापकर्म से मुक्त रखता है।[२९] यही कारण है कि विषयोन्मुख दमयन्ती का चित्त नल के अभाव में भी तद्रूप नल में ही प्रवृत्त होने पर भी भगवद् कृपा से नल में ही अनुरक्त हुआ और उसके पातिव्रत्य धर्म की लेशमात्र भी क्षति नहीं हुई। परमात्मा का ज्ञान हो जाने पर अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नहीं रह जाती।[३०]

ब्रह्म साक्षात्कार से उत्पन्न ब्रह्मानन्द की अनुभूति के विषय में श्रीहर्ष का कथन है कि-

ब्रह्माद्वयस्यान्वभवत्प्रमाद रोमाग्र एवाग्र निरीक्षितेऽस्याः।
यथौचितीत्थं तदशेषदृष्टावथ स्मराद्वैतमुदं तथासौ।।[३१]

नल ने दमयन्ती के प्रथम दर्शन में मात्र रोमाग्र दर्शन से अद्वैत ब्रह्मानन्द सम्यक् आनन्द को प्राप्त किया। ब्रह्म साक्षात्कारोपरान्त व्यक्ति जीवन्मुक्त रूप से विचरण कर सकता है[३२] किन्तु व्यावहारिक विषयों में उसकी अनुरक्ति नहीं होती है। श्रीहर्ष ने दमयन्ती के अन्तःपुर में उपर्युक्त तथ्य को प्रस्तुत किया है -

तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिर्वचनीयमोहा।
अमुक्तसंसारि दशारसाभ्यां द्विस्वादमुल्लासमभुङ्क्त मृष्टम्।।[३३]

यहाँ कवि अभिहित करते हैं कि नल को देखने के समय उसके अलभ्य दर्शन लाभ से आनन्द स्वरूपा और अतिशय सुरक्षित अन्तःपुर में नल कैसे आए? अथवा यह नल है या नहीं। इस भ्रम के कारण मोह से किंकर्त्तव्यविमूढ़ हुई दमयन्ती ने ब्रह्मतुल्य नल के दर्शन

---

२७ धर्मबीजसलिला सरिदङ्घ्रावर्थमूलमुरसि स्फुरति श्रीः।
कामदैवतमपि प्रसवस्ते ब्रह्ममुक्तिदमसि स्वयमेव।। नैषध. २१/१००

२८ नैषधीयचरितं २१/०३

२९ पुण्ये मनः कस्यमनेरपि स्यात्प्रमाणमास्ते यदधोऽपि धावत्।
तच्चिन्ति चितं परमेश्वरस्तु भक्तस्य हृष्यत्करुणो रुणाद्धि।। नैषधीयचरितं ८/१७

३० मुधार्पितं मूर्द्धसु रत्नमेतन्नाम तानि स्वयमेत एव।
स्वतः प्रकाशे परमात्मबोधे बोधान्तरं न स्फुरणार्थमर्थ्यम्।। नैषध. १०/६३

३१ नैषधीयचरितम् ७/३

३२ अशरीरं वाव सन्त न प्रियाप्रिये स्पृशतः। छान्दोग्योपनिषद् ८/१२/१
अथायम् अशरीरोऽमृतः ब्रह्मैव। वृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/७

३३ नैषधीयचरितम् ८/१५

जन्य आनन्द से मुक्त और संसारी दोनों अवस्थाओं को प्राप्त किया। यहाँ नैषधकार ने संसारी और मुक्त दोनों की अवस्थाओं का चित्रण करके यह मन्तव्य प्रस्तुत किया है कि मुक्त व्यक्ति संसारी नहीं हो सकता और संसारी व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता, किन्तु दमयन्ती ने दोनों अवस्थाओं को प्राप्त किया, जो कि विलक्षण है।

जीवन्मुक्त व्यक्ति का विवरण चन्द्र वर्णन प्रसङ्ग में करते हुये कवि नल से कहलाते हैं कि परमात्मा प्रकाश वाले और आत्मवादी ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त लोगों को जैसे धर्माधर्ममूलक कार्य के प्रति कोई बन्धन नहीं होता, उसी प्रकार गुरुपत्नी का अभिगमन कर्त्ता चन्द्र भी पतित नहीं हुआ।

नास्य द्विजेन्द्रस्य बभूव पश्य दारान् गुरोर्यातवतोऽपि पातः।
प्रवृत्तयोऽप्यात्ममयप्रकाशान् नह्यन्ति न ह्यन्तिमदेहमाप्तान्।।[३४]

विदेह मुक्ति का उदाहरण कलि प्रतिनिधि द्वारा वेदान्तियों के मान्य मोक्ष की अवधारणा के खण्डन में प्राप्त होता है–

स्वश्च ब्रह्म च संसारे मुक्तौ तु ब्रह्म केवलम्।
इति स्वोच्छित्तिमुक्तयुक्ति वैदग्धी वेदवादिनाम्।[३५]

अर्थात् कवि कहता है कि मनुष्य को संसार में रहने मात्र तक ही जीवरूप और ब्रह्म की भावनाओं का पृथक्–पृथक् बोध होता है किन्तु विदेह मुक्ति पर्यन्त एकमात्र ब्रह्म ही शेष रह जाता है।

वेदान्त में पञ्चीकरण सिद्धान्त के प्रसङ्ग में स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर का वर्णन प्राप्त होता है। सूक्ष्म शरीर पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, पञ्च कर्मेन्द्रियों, पञ्च प्राण, मन और बुद्धि के संयोग से बनता है। सूक्ष्म शरीर में विज्ञानमय कोश, मनोमय कोश और प्राणमय कोश अन्तर्निहित हैं। बुद्धि और ज्ञानेन्द्रिय मिलकर विज्ञानमय कोश, मन और ज्ञानेन्द्रिय मिलकर मनोमय कोश एवं पञ्च वायु कर्मेन्द्रिय के साथ मिलकर प्राणमय कोश बनाती हैं। विज्ञानमय कोश ज्ञानशक्ति सम्पन्न होने से कर्त्ता, मनोमय कोश इच्छाशक्ति सम्पन्न होने से करण और प्राणमय कोश क्रियाशक्ति सम्पन्न होने से कार्य रूप हैं। इन सभी का विवरण नैषध महाकाव्य में विरह व्यथिता दमयन्ती के करुण रोदन में देखने को मिलता है।

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणः कियत् सहिष्ये न ही मृत्युरस्ति मे।
स मां न कान्तः स्फुटमन्तरुज्झिता न त मनस्तच्च न कायवायवः।।[३६]

दमयन्ती देवदूत नल द्वारा पुनः पुनः देववरण पर बाध्य करने पर कहती है कि ये क्षण नहीं वरन् क्षण रूप युग बीत रहे हैं। कब तक यह वेदना सहन करूँ? मृत्यु भी नहीं आती

३४ नैषधीयचरितम् २२/११८
३५ नैषधीयचरितम् १७/७३
३६ नैषधीयचरितम् ९/९४

क्योंकि यह स्पष्ट है कि नल दमयन्ती के हृदयस्थ (विज्ञानमय कोश) हैं। दमयन्ती का हृदय नल को नहीं छोड़ता। यह परम्परा सर्वदा रहने से मृत्यु दुर्लभ है।

बृहदारण्यकोपनिषद् में वर्णन मिलता है कि मृत्यु के समय सर्वप्रथम आत्मा शरीर से पृथक् होता है। तदनन्तर प्राण और समस्त इन्द्रियों के त्याग पर ही शरीर मृत होता है।[३७]

चूंकि दमयन्ती ने चारणों द्वारा नल की प्रशंसा मात्र का श्रवण किया था, प्रत्यक्ष दर्शन नहीं। तथापि वह नल को पति रूप में प्रत्येक रात्रि में देखती थी।

मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुस्निर्जनदर्शनातिथिम्।।[३८]

स्वप्न अदृष्ट अवस्था को भी भाग्य से दर्शन करवा ही देता है। दमयन्ती के नेत्रों से स्वप्नावस्था में बन्द नेत्रों से और बाह्येन्द्रियों के विषय ग्रहण न करने के कारण अशक्त हुये मन से भी छिपाकर कभी न देखे गये नल कों बड़े रहस्य की भाँति उसे दर्शन कराया। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी वर्णन मिलता है कि जाग्रतावस्था में आत्मा अदृष्ट सुख-दुखादि का भोग करके पुनः स्थूल शरीर में प्रविष्ट हो जाता है।

इस प्रकार नैषधकार की यह महान् कृति साहित्य के क्षेत्र में किसी शास्त्र से अस्पृष्ट नहीं है। यहाँ नैषधकार की प्रौढ़ता और महाकाव्य की विलक्षणता स्पष्टतः परिलक्षित होती है।

---

३७ तमुत्क्रान्तं प्राणोनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं, सर्वे प्राणा अनुत्क्रामन्ति।। बृह. ४/४/२

३८ नैषधीय चरितं १/३९

उपनिषदों में आत्म तत्त्व : कठोपनिषद् के विशेष सन्दर्भ में

डॉ. शैलेन्द्र स्वामी
व्याख्याता, दरबार आचार्य संस्कृत
महाविद्यालय, जोधपुर

There is no important form of Hindu thought heterodox Budhism included which is not rooted in the upnisads. अर्थात् नास्तिक बौद्धमत सहित हिन्दू विचारकों का कोई महत्त्वपूर्ण अङ्ग ऐसा नहीं है, जिसका मूल उपनिषदों में न हो।[1] ब्लूमफील्ड के ये शब्द उपनिषदों की महत्ता को उद्घाटित करते हैं। महात्मा गांधी, श्री अरविन्द, विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, डॉ. राधाकृष्णन आदि भारतीय मनीषियों को उपनिषदों ने प्रेरित किया है। पाश्चात्य विचारक शोपनहावर ने भी उपनिषदों से प्रकाश पाया है। शोपनहावर ने उपनिषदों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए कहा है— In the whole world there is no study so beneficial and so elevating as that of the Upnishad. It has been the solace of my life, it will be the solace of my death.[2] वास्तव में उपनिषदें विश्व ग्रन्थ हैं। उपनिषदों का दर्शन के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का स्रोत उपनिषदें हैं।

प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा के अनुसार, ''बौद्ध दर्शन के अनात्मवाद का मूल रूप कठोपनिषद् में मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि मनुष्य के मर जाने पर यह सन्देह है कि वह रहता है अथवा नहीं रहता है। बुद्ध के दुःखवाद का आधार 'सर्वं दुःखम्' तथा क्षणिकवाद का 'सर्वं क्षणिकं क्षणिकं', जो उपनिषदों के वाक्य हैं, में मिल सकता है। सांख्य दर्शन के त्रिगुणमयी प्रकृति का वर्णन श्वेताश्वतर उपनिषद् में मिलता है। उपनिषद् मे मायावाद का सिद्धान्त भी यत्र-तत्र मिल जाता है। शङ्कर की तरह रामानुज का दर्शन भी

उपनिषद् पर आधारित है। अतः सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का बीज उपनिषदों के अन्तर्गत है। इससे उपनिषद् की महत्ता प्रदर्शित होती है। उपनिषदों से भारतीय दार्शनिकों को मार्गदर्शन मिलता रहता है।''[३] प्रो. रानाडे का यह कथन भी सत्य प्रतीत होता है कि उपनिषद् हमें एक ऐसी दृष्टि दे सकते हैं, जो मानव की दार्शनिक, वैज्ञानिक और धार्मिक माङ्गों की एक ही साथ पूर्ति कर सके— "Upanisads are Capalale of giving us a view of reality which would satisfy the Scientific, the Philosophic as well as relegious aspirations of man."[4]

साधारणतः उपनिषदों की संख्या १०८ मानी जाती है, जिनमें से लगभग १० उपनिषदें प्रधान हैं और इन्हीं पर शङ्कर ने भाष्य किया है। ये ही सबसे प्राचीन और अत्यन्त प्रामाणिक हैं।[५] उपनिषदों का लक्ष्य सत्य की खोज करना है। उपनिषदों के रचयिता ऋषिगण असत् से सत् की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर तथा मृत्यु से अमरत्व की ओर ले जाने की प्रार्थना करते हैं—**असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृतं गमय।**[६]

विद्वद्वर डॉ. पारसनाथ द्विवेदी उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं— **उपनिषदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'आत्मविद्या' है।....** 'आत्मा' और 'परमात्मा' (ब्रह्म) का ऐक्य प्रतिपादन करना ही उपनिषदों का प्रमुख सिद्धान्त है। छान्दोग्योपनिषद् का 'तत्त्वमसि' यह वाक्य भी 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' का ऐक्य प्रतिपादनपरक है। इस प्रकार 'आत्मा' और 'ब्रह्म' का स्वरूप और उनका सम्बन्ध, ब्रह्म एवं जगत् और उनका सम्बन्ध, ब्रह्म और माया का स्वरूप तथा उनका सम्बन्ध आदि विषय उपनिषदों में प्रतिपादित किये गय हैं। इसके साथ-साथ ही ये उपनिषद् आचार एवं व्यवहार दर्शन, कर्त्तव्यमार्ग, नैतिक आदर्श, पुनर्जन्म सिद्धान्त, परा एवं अपरा विद्या आदि विषयों का प्रतिपादन करती है।[७]

उपनिषदों में सबसे विशेष महत्त्व 'आत्मा' को ही दिया गया है। **'अहं ब्रह्मास्मि', तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म'** तथा **'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** आदि महावाक्य उपनिषदों में ही प्राप्त होते हैं। इन महावाक्यों से यह बात पुष्ट होती है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही सत्ता है। हमारी आत्मा ही ब्रह्म है।[८] इस बात को छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक आरुणि ऋषि अपने पुत्र श्वेतकेतु को समझाते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार एक छोटे से बीज में

वटवृक्ष समाया हुआ है उसी प्रकार सूक्ष्म तत्त्व आत्मा (ब्रह्म) में स्थूल जगत् समाहित है।

उपनिषदों के अनुसार आत्मा मूल चैतन्य है। वह ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं। मूल चेतना के आधार को ही आत्मा कहा गया है। वह नित्य और सर्वव्यापी है। जीव और आत्मा एक ही शरीर में अन्धकार और प्रकाश की तरह निवास करते हैं। जीव, कर्म के फलों को भोगता है और सुख-दुःख का अनुभव करता है। आत्मा इससे विपरीत कूटस्थ है। जीव अज्ञानी है। अज्ञान के फलस्वरूप उसे बन्धन और दुःख का सामना करना पड़ता है। आत्मा ज्ञानी है। आत्मा का ज्ञान हो जाने से जीव दुःख और बन्धन से छुटकारा पा जाता है। जीवात्मा कर्म के द्वारा, पाप-पुण्य का अर्जन करता है और उनके फल भोगता है। आत्मा जीवात्मा के भोगों का उदासनी साक्षी है।

माण्डूक्योपनिषद् में आत्मा की चार अवस्थाएँ बताई गयी है—

१. **जाग्रत अवस्था :** जाग्रत अवस्था में जीवात्मा विश्व कहलाता है। यह बाह्य इन्द्रियों द्वारा सांसारिक विषयों का भोग करता है। ज्ञान की दृष्टि से यह आत्मा की निम्नतम अवस्था है।

२. **स्वप्न अवस्था :** स्वप्न की अवस्था में जीवात्मा 'विश्व' कहलाता है। इस अवस्था में स्थूल शरीर सोता रहता है और कारण शरीर जागत रहता है। जीवात्मा सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा भोग करता है।

३. **सुषुप्त अवस्था :** सुषुप्त की अवस्था में जीवात्मा 'प्रज्ञा' कहलाता है, जो शुद्ध चित्त के रूप में विद्यमान रहता है। इन्द्रियाँ व मन शान्त रहते हैं। वह आन्तरिक व बाह्य वस्तुओं से उदासीन रहता है।

४. **तुरीय अवस्था :** तुरीय की अवस्था में जीवात्मा को आत्मा कहा जाता है। वह शुद्ध चैतन्य है। तुरीयावस्था की आत्मा ही ब्रह्म है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में जीव के पाँच कोशों का भी वर्णन मिलता है— १. अन्नमय कोश (अन्न पर आश्रित), २. प्राणमय कोश (प्राणशक्ति पर आश्रित), ३. मनोमय कोश (मन पर आधारित), ४. विज्ञानमय कोश (बुद्धि पर आश्रित), ५. आनन्दमय कोश (शुद्ध चैतन्य पर आश्रित) इसमें आनन्द का निवास है। यह पारमार्थिक और पूर्ण है।

आत्मा का वास्तविक स्वरूप आनन्दमय है। इसलिए आत्मा को सच्चिदानन्द भी

कहा है। आत्मा सत्, चित्त और आनन्द से परिपूर्ण है। जीव अज्ञान के कारण बन्धन में रहता है। सद्ज्ञान (विद्या) से जीव अपने यथार्थ स्वरूप को पहचान लेता है तथा ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। जीव का ब्रह्म से एकाकार होना ही 'मोक्ष' है। ब्रह्म आनन्दमय है, अतः मोक्षावस्था भी आनन्दमय है।

'कठोपनिषद्' में आत्मस्वरूप का निरूपण बहुत ही स्पष्ट रूप से हुआ है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो, न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।
हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते।।

अर्थात् आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, यह न तो किसी अन्य कारण से ही उत्पन्न हुआ है और न स्वतः ही कुछ बना है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरता। शरीर के नाश किये जाने पर भी इसका नाश नहीं किया जा सकता है।[६]

जो लोग इसको (आत्मा को) मारने वाला या मरने वाला मानते हैं, वे वस्तुतः आत्मा के स्वरूप को जानते ही नहीं, वे सर्वथा भ्रान्त हैं। उनकी बातों पर ध्यान नहीं देना चाहिए। वस्तुतः आत्मा न तो किसी को मारती है और न ही इसे कोई मार सकता है।[१०]

आत्मा शरीर-रहित है। त्रिकाल में इसका बाध नहीं होता। यह नित्य, चेतन है। विवेकी पुरुष अनित्य शरीरों में, शरीर-रहित, अवस्थित (अविचाली भाव से स्थित) महान् सर्वव्यापक आत्मा को जानकर शोक नहीं करता है—

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।।

कठोपनिषद् में यम का नचिकेता को उपदेश है। इसमें आत्मा को व्यावहारिक रूप में सरलता से समझाया गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।।

अर्थात् आत्मा को रथी जानो, शरीर को ही रथ समझो। बुद्धि को सारथी एवं मन को (रथ में योजित अश्वों की) लगाम समझो।[१२] विद्वान् इन्द्रियों को रथ को खींचने वाले घोड़े कहते हैं और उनके विषयों को भोगने के मार्ग कहते हैं। इन्द्रिय और मन से युक्त आत्मा भोक्ता है, इस प्रकार कहते हैं।[१३]

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्।।

अर्थात् जो नर (पुरुष) विवेकयुक्त बुद्धिरूपी सारथिवाला और मन रूपी लगाम को अपने वश में रखने में समर्थ है, वह संसाररूपी मार्ग के पार पहुँचकर सर्वव्यापक परमात्मा के उस सर्वोपरि परमपद (मोक्षधाम) को प्राप्त कर लेता है।[१४]

'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत' का श्रेष्ठ सन्देश कठोपनिषद् से ही प्राप्त होता है। सत्कर्म का मधुमय सन्देश भी प्राप्त होता है। जिस प्रकार बोए गऐ बीज के अनुरूप ही फल प्राप्त होता है, उसी प्रकार अपने कर्म एवं ज्ञान के अनुसार ही मनुष्य विभिन्न योनियों में जन्म लेता है—[१५]

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।।

लेकिन जो आत्मदर्शी है वह नित्य सुखी है। वह परम शान्ति को प्राप्त करता है—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा स्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।।

सूर्यनगरी जोधपुर के एक वरिष्ठ कवि ने सम्पूर्ण कठोपनिषद् का हिन्दी काव्यान्तर किया है। उनका उपर्युक्त मन्त्र का हिन्दी काव्यान्तर इस प्रकार है—

यम बोला— नचिकेता सुनो, वही एक मात्र विद्वान् सुखी है, मुदित प्रसन्न है, जिसे अनुक्षण यह सम्बोध हो कि वही नियन्ता एक मात्र है। इस सकल सृष्टि का वही सृष्टि में एक रूप हो बहुरूप बना हुआ है सर्वान्तर्यामी है— वह केवल वही, वही केवल है सर्वत्र वह आत्मा।[१६]

इस प्रकार उपनिषद् परमतत्त्व (ब्रह्म) तक पहुँचाने वाले ज्ञानप्रद ग्रन्थ हैं।[१७] उपनिषदों में मुख्यतः ब्रह्म, आत्मा, पुनर्जन्म, मुक्ति की चर्चा की गई है।[१८] श्री मेकडोनल मानते हैं कि उपनिषदों में मानव विचारधारा का पहला प्रसङ्ग मिलता है, जहाँ ब्रह्म का स्वरूप बताया गया है।[१९]

सन्दर्भ ग्रन्थ—

१. Bloomfield, The Religion of Vedas, Page 51
२. Dr. Das Gupta - History of Indian Philsophy, Vol. I, Page 40
३. प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, पृ. ४४, ४५
४. Prof. Ranade, Constructive Survey of Upishadic Philosophy, Page 1-2
५. डॉ. एस. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन (प्रथम खण्ड), पृ. ११४
६. श्री शङ्कर, उपनिषद् भाष्य, खण्ड २ (बृहदारण्यक उपनिषद् १:३, २७)
७. डॉ. पारसनाथ द्विवेदी, भारतीय दर्शन, पृ. ४२
८. डॉ. सन्तोष आचार्य, उपनिषद् सार, पृ. ५६
९. हरिकृष्ण दास गोयन्दका, ईशादि नौ उपनिषद् (कठोपनिषद्), पृ. ९६
१०. डॉ. राजेन्द्र प्रसाद शर्मा, कठोपनिषद् (काशिनीव्याख्यलङ्कृता), पृ. ८८
११. डॉ. बैजनाथ पाण्डेय, कठोपनिषद्, (वन्दना व्याख्या) पृ. ८९
१२. डॉ. देवेन्द्रनाथ पाण्डेय, कठोपनिषद् (प्रथम अध्याय, तृतीय वल्ली), पृ. १०२
१३. डॉ. विजेन्द्र कुमार शर्मा, कठोपनिषद् (शाङ्कर भाष्य सहित), पृ. ३९
१४. डॉ. सुरेन्द्र देव शास्त्री, कठोपनिषद् (व्याख्या सहित), पृ. १२१
१६. डॉ. रामप्रसाद दाधीच 'प्रसाद' कठोपनिषद् (हिन्दी काव्यान्तर), पृ. ५५
१७. जे.सी. भारतीय, संस्कृत साहित्य का सरल सुबोध इतिहास, पृ. १९
१८. राहुल सांकृत्यायन, दर्शन-दिग्दर्शन (भारतीय दर्शन खण्ड), पृ. ३९३
१९. A.A. Macdonell, A History of Sanskrit Literature, Paga 203

मन्त्र/श्लोक/उद्धरणानुक्रमिका

श्लोक	पृष्ठ सं.	श्लोक	पृष्ठ सं.
(अ)		अनुपश्य यथा	२०४
अशरीरं शरीर	०५२	अनया सदृशी	१५६
अग्निर्यलैको	२०८	अन्तरं मृत्योरमृत	२७५
अजपा नाम	१५६	अन्तरिक्षश्शान्ति	०२८
अजीर्यताममृताना	२११	अन्धन्तमः	११६, २०३
अतः स्थूलबुद्धिः	०३३	अन्नाद् वै प्रजाः	१३४
अत्रैतदेकशतं	१४६	अन्नमयं हि	१५५
अत्रैष देव स्वप्ने	१४१	अन्नं वै प्रजापति	०७४
अथ खल्वियं	०३५	अन्नमशितं त्रेधा	१५५
अथ खलु क्रतुमये	०५४	अन्यच्छ्रेयोऽन्य	००५,११३
अथ हैनं	०५६	अन्ये त्वाचक्षते	२३७
असद्वा इदमग्रे	०६०	अणोरणीयान्	१४८
अथ यत्र यो	१६८	अभयं सत्त्व	१५६
अथ यत्तन्मनः	०५२	अभयं सर्वभूतेभ्यः	०७८
अथातः सं हिताया	०३१	अभवन् वस्तुसम्बन्ध	१४६
अथातः सम्प्रव	१६१	अमूनि गच्छन्ति	२८५
अथादेश उपनिषदाम्	०३१	अमृतत्त्वस्य तु	०५५
अथाधिविद्याम्	०४१	अरण्यभियान्न	०३१
अथो अयं वा	११४	अर्थस्वरूपविज्ञानात्	१६०
अथो खल्वाहु	१६६	अरा इव रथनाभौ	१३०
अदिभर्गात्राणि	१२६	अवाङ्मुखपीड्यमानो	०५२
अदृष्टमव्यवहार्य	१२१	अविद्यायां बहुधा	१२८
अधीतिबोधाचरण	२८१	अविद्यायामन्तरे	११६,१२८
अनादिनिधनं	१६५	अशरीरो वायुरभ्रं	०५२

अशरीरं शरीरेषु ८९,२०७
अशरीरं सशरीष्वेव २९०
असतो मा ०५३
असद् वा इदमग्र ०५९
असुर्यानाम ११९
अस्मादद्वैतमेवास्ति १६२
अस्य महतो १६५
अष्टादशपुराणेषु ०१२
अहमनुरभवं सूर्य्य २८३
अहमात्मा गुडाकेश: १५९
अहमेव स्वयमिदं २६८
अहं वृक्षस्य १०७
अहिंसा सत्यम् १५९

(अं)

अंगुष्ठमात्र: पुरुषो २०४

(आ)

आख्यायिका तु विद्या १२३
आत्तौ वै ०५२
आत्मन एष प्राणो ०६६
आत्मानं रथिनं विद्धि ८९,२०५,०७
आत्मा यक्ष्मस्य १७१
आत्मा व अरे द्रष्टव्य १६४,६७,७४
आत्मा नैवनिहन्यते २४४,४१
आत्मेव परम प्रेमास्पद १७२
आदित्यो ह वै प्राणो ६७
आदित्यो ह वै ६४,६७
आप्यायान्तु ममाङ्गानि १५३
आमायान्तु ०७२
आयुर्दा अग्ने ०४९
आरभ्य कर्माणि ०१३
आशाप्रतीक्षे सङ्गतं १४२
आहारविविधा ०५०
आहारशुद्धौ २७,१०९,५३

(इ)

इच्छाद्वेषप्रयत्न ०४७
इन्द्रस्य युज्य:सखा ०४९
इन्द्रियाणि हि सर्वेषां १४९
इन्द्रियाणि हयानाहु २०५
इमा रामा: सरथा: २०३
इष्टापूर्तं मन्यमाना १२९,१६२
इन्द्रियेण ते ०२१

(ई)

ईशावास्यमिदं सर्व ७४, ११३
ईश्वर: सर्वभूतानां २७४

(ऋ)

ऋतं च स्वाध्याय ०१७
ऋतं पिबन्तौ २०४
ऋषयो वै ११७
ऋषिभ्य एते ०६१
ऋषिभ्य: पितरो ०६२

(उ)

उच्यतेऽज्ञैर्बला २४१
उत त्व: पश्यन्न २६८
उते अस्मा २०१

उत्तिष्ठत जाग्रत २०६
उत्पन्नेऽप्यात्म २३८
उपनिषत्सु जीवप्रजा ०३५
उपनिषत्सु व्यापकाखण्डा ०३५
उपनिषदिति विद्यो ०३१
उपनिषत्सुस्वर्गस्य ०८१
उपनिषद: स्वतन्त्रे ०३१
उपनिद्यते प्राप्यते ११८
उपनिषादयति सर्वानर्थ ०३,०९
उप ब्रह्मसामीप्यं १०५
उभयोरप्यनयो: सदसतो २४२
उपादानं प्रपचस्य २३९
उपाधितन्त्रो हि जीव ०३१
उपाधितादात्म्य विहीन २४०

(ऊ)

ऊर्ध्वरेतं १६०

(ए)

एक एवाग्नि २७२
एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा १२१
एको हँसो भुवनस्य १८२
एको ज्ञानं २७३
एतत्तुल्यं यदि ८८
एतमेव प्रव्राजिनो १९६
एतदात्म्यमिदं १२२
एवमेव सम्प्रसादो ०५२
एवमभ्यासतस्तस्य १६०
एव यथा ०६३
एवं वा अरे ०४८
एष मे आत्माऽन्तर्हृदय एतद् ५७,१७५
एष हि द्रष्टा ०४७
एषा विशाका नाम ०४६
एषोऽणुरात्मा चेतसा १३०
एषो नित्यो महिमा १९७

(ऐ)

ऐतदात्म्यमिदं सर्व ०४८
ऐश्वर्यस्य २४४

(क)

कतमे रुद्रा ०५३
कर्मजन्मान्तरीयं २३९
कश्चिंद्रङ्क : कश्चिद्राढ्या ०४८
कश्मलं यत्र पार्थस्य २३३
कृष्णकर्मकलाप २४४
कर्मण्यकर्म य: पश्येद २७५
कामान्य: कामयते १३०
कुर्वन्नेवेह कर्माणि ११३,१४६,२२८
कुर्वन्त्येव २४४
कूटस्थनित्येषु ०४५
कृतार्थ प्रति नष्टमप्य ०४५
क्रोधाद्भवति १०८
कैवल्यं प्राप्तिस्तर्हि ०४५
क्लैब्यं मा स्म गम २१८

(क्ष)

क्षण प्रतियोगी ०४५
क्षीणऽज्ञाने महाप्राज्ञ १६०

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि २४१

(ग)

गता: कला:.पञ्चदश: १३२
गृहस्थस्तु यथा पश्येद्वली ०७६
गीताशास्त्र २४३
गीताकापिल २४३
गीतासुगीता २४४
गीताज्ञानमयी २४५

(च)

चित्तम् ह्येवैषामेकायनं ०५५
चत्वारि वाक् परिमिता २६८
चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षो १८८

(ज)

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् २०१
जाति विषयोपरागायामेव ०४०
जीवात्मा अणुस्वरूप: ०४५
जीवात्मा नानात्वं तावत् ०४८

(ज्ञ)

ज्ञानोदयात् पुरारब्ध २३६
ज्ञानेनज्ञानकार्यस्य २४१
ज्ञाननिष्ठो विरक्तो १५६
ज्ञानविहीनं सर्वमतेन २३

(त)

तच्चक्षुर्देवहितं ०४८
ततोऽऽयोवायुमा ०७६
तत्कालमानन्दमयी २८४
तत्तत्कर्मफला ०३३
तत्त्वज्ञानोदया २४०
तत्रात्मत्वसामा ०४७
तत्रापरा ऋग्वेदो ०४०
तथापि प्रसङ्गवशा ०३५
तथाभ्रान्तैर्द्विध १६२
तदेजति तन्नैजति २०७
तदेतदक्षरं ब्रह्म ०५२
तदेतदिति २०३
तदुणसारत्वात्तु २१३
तद्भावात्संयोगो ०४५
तद्य इह रमणीय ५५,१०७
तद्यथाऽहिर्निर्वचनी ०५५
तद् यद्ब्रवीत् १८८
तद्ययब्राह्मण: ११६
तप: श्रद्धये ७९,१३०,१६२
तप: सन्तोषं तपसोनिषत्त्याग: १५८
तमथर्वणामृषिमभ्य १८७
तमब्रवीत प्रीयमाणो ०८८
तं दुर्दर्शनंगूढ १४८
तमात्मस्थरूपं ००८
तमेतं वेदानुवचेनेन ०५६
तयोरन्य: पिप्पलं ०४९
तस्माच्छूद्रो ११७
तस्मात्पादावने ११६
तस्माद् ऋग्वि १८६
तस्माद्वा एतस्मात्प्राण १३६

तस्माद्वा एतस्मादन्न १३५
तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमया १३७
तस्माद्वा एतस्मान्मनो १३६
तस्माद्विराडजायत् १८८
तस्मै विद्वानुपसन्नाय १३०
तस्य वा एतस्य २०१
तस्यै तपो दमः ०१७
तस्योपदिशन्त्येका ०७६
तँ ह्यङ्गिरा ०५२
ताभिर्वहैनु ०१७६
तावानस्य महिमा ०८५
तिस्रो नासत्यारथ्या १७१
तेजः क्षमा धृतिः १५६
तेन त्यक्तेन ०१६
ते ध्यानयोगा ०६३
तेन पापापहानिः १६०
तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणि १८७
तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रयोवेदाः १८६
तेभ्यस्त्रीन् देवान् १८६
तेभ्यस्त्रीन वेदान् १८७
तेषां हयानां यो २२८

(त्र)

त्रय प्राजापत्य १६७
त्रयो वेदा एत एव ०४८
त्रैगुण्यविषया ००५

(द)

दुर्लभ त्रयमेवै २२४
दूरमेते विपरीते ०७,८६
देवा पितरो मनुष्याः च १८८
देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल ०८८
देवैरत्रापि विचिकित्सिंत पुरा ०८८
देहस्यापि प्रपच २४१
द्रष्टृदृश्ययोः ०४५
द्वासुपर्णा ८०,८३,१२८

(ध)

धनुर्गृत्वौपनिषदं १३०
धनुर्गृहीत्वा १४०
धर्मबीजसलिला २८४

(न)

न कंचन वसतौ ७४
न चक्षुषा गृह्यते १३०
न जायते म्रियते १,८६,१७७,२०६
न तत्र सूर्य्यो २०७,२७६
नवद्वारे पुरे देही ०४६
न वा अरे ०५६
न वा उ एत ०४८
न वित्तेन १४३
न सोऽस्ति २७१
न साम्परायः १५३
न हि तत्साध्या २३८
नाना मार्गेण १६३
नाना तु विद्या च ०३१
नाभ्या आसीदन्त १८८
नायमात्मा प्रवचनेन १२८,१४८

नायमात्मा बलहीनेन १३१
नाविरतो दुश्चरिता ११४
नास्याब्रह्मवित् १३१
नास्ति बुद्धि १५३
नास्य द्विजेन्द्रस्य २८५
नाहं प्रकाश २७३
नाहं मन्ये २७४
न्याय्यं युद्धमिदं २४४
निगीर्याध्यवसानन्तु २०५
नित्यः शाश्वत २४५
नित्य सर्वगतो १६२
निपीय यस्य २८१
निगुणस्याप्रमेयस्य ०८६
निष्कलं निष्क्रिय ०८२
नेत्राणि वैदर्भसुता २८,१२२
नैनं छिन्दन्ति ०५१
नैव वाचा २६६

(प)

परमेवाक्षरं प्रति १२१
परांचि खानि १४६,२०७
परा ये यन्ति ०४६
परित्राणाय साधूनां २३१
परीक्ष्यलोकान् १२६
पश्येम शरदः ११३
पीतोदका जग्धतृणा ८६, २०६
पुनः ब्रह्मादि १६०
पुनर्मनः ०४६
पुण्ये मनः २८४
पुरिदेहे शेते १२६
पुरुष एवेदं १२६
पुरुष वाव ०५३
पुरुषो वा ५४
पूर्वायोरधि ५२
प्रजा कामो वै ६७
प्रजापतिश्चरति २७४
प्रतीयमान पुनरन्यदेव २०६
प्र ते ब्रवीमि ८८,२०५
प्रणवो धनुःशरो ८१,८२,२२६
प्रसूनबाणद्वय २८२
प्राणाननिमेषोन्जीवन ०४८
प्राणान् प्रपीड्येह १५६
प्राणश्चद्विविधा ०६१
प्राणिनां देह १६३
प्राणे ह्येषु यः सर्व १३२
प्राग्भवैरुद्गु २८४
प्रारब्धसिध्द्यति २४०
प्रियां वाचमभि १४
प्लवा ह्येते ७,१२,१२७,१८३

(फ)

फलाधिकरणे फलमत १०८

(ब)

बालाग्रशतभाग ०५७
बीजान्यग्न्युपदग्धानि २३०
ब्रह्मार्थकर्मार्थ २७६

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं १६९
ब्रह्मेवेदममृत पुरस्ताद् ०११
ब्राह्म तं परादाद्यो ०५६
ब्राह्मणोऽस्य मुख ०१८

(भ)

भद्रं कर्णेभि: ०२८
भिद्यते हृदयग्रन्थि २३९,२३७
भुवरिति यजुर्भ्यो ०५२
भूतं च यत्र १४९
भूरिति वा ऋच: ०५४

(म)

मघवन् मर्त्य वा ०५१
मत्त: परतरं नान्यत्किञ्च ०५३
मन एव मनुष्याणां २१,२२८
मनो ब्रह्मेति १५०
मनोमय: प्राण शरीर ८२,१३२
मनोमय वेदात्मोक्त: १३८
मनोरथेन स्वपतीकृत २८६
मन्त्रयोगो लयश्चैव १५५
मलनिर्मोचनं २४४
मा न आयु: प्रमोषी ०४९
मा न स्तोके तनये १०६
मृतश्चाहं पुनर्जातो ०५०
मुक्ताभिमानी मुक्तो २४२
मुधार्पितं मूर्द्धसु २८४
मुनेर्यथात्मानमथ २८३
मैत्रीकरुणा ११४
मोक्षस्य नहि २४२

(य)

य इहात्मानम् १९९
य:सर्वज्ञ २७६
यं लब्ध्वा चापरं १५४
यं यं लोकं ०८०
यच्चाप्नोति १४७
यच्छेद्वाङ्मनसी १४९,२०७
यजुर्विदमेवा ०५०
यजुषां वायुर्दैवतं ०५३
यज्ञशिष्टाशिन: २२५
यतोऽभ्युदयनि:श्रेयस् ०५२
यत्किञ्चेदं १२२
यत्तु कृत्स्न २४२
यत्परं ब्रह्म १२२
यत्तन्मनश्च ०५३
यत्ते यमं १७५
यत्पुरुषेण हविषा १८८
यत्रनान्यत् पश्यति १८८
यत्रादित्याश्च ०८३
यत्रार्थ शब्दो वा २०९
यत्रायं पुरुषो ०५४
यथाकारी यथाचारी ५४,१८०
यथा दीपो १६१
यथा नद्य: २२,८०
यथा पुरस्ताद् ०८७
यथैधांसि २३९

यथैव बिम्बं १५४
यदर्चिमद १३०
यदा पश्यः १४,१९७
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते ४,५६,११३,२२६
यदासर्वे प्रभिद्यन्ते ००४
यदा यदा हि २३१
यद्वाचानभ्युदितं १२१
यशोऽहं भवामि ५३
यश्चायमशरीर २७७
यस्तु विज्ञानवान् भवहि मनसा ०१०
यस्तु विज्ञानवान् युक्तो ०९०
यस्तु विज्ञानवान् सदा ०९०
यस्तु सर्वाणि २८,१२१,२६१
यस्मात्क्षर २७५
यस्मिन्निदं ८९,२७२
यस्मिन् द्यौ ८१,८२
यस्मिन्न पञ्च १२२
यस्मिन्न सर्वाणि २०३
यस्य प्रतिष्ठो २७२
यान्यनवद्यानि १०७
ये मनुष्याः भक्त्या १९४
ये यं प्रेते ८८,१४६
ये ये कामा दुर्लभा २११
यो वै राजा ब्राह्म ११६
योऽकामो निष्काम ०५६
योग आद्य तृतीय २०७
योगात्परं पुण्यं १६३
योऽन्तः सुखोऽन्तः २२१
योनिमन्ये प्रपद्यन्ते २९१
यो यो यां यां २६

(र)

रथः शरीरभूतानां २२८
रसभावौ २१०
रसैकथा २८१
रे रे पार्थ २४४

(ल)

लघुत्वमारोग्य १५७
लोकादिमग्निं ८८

(व)

वागार्थाविव १००
वाग्वै मनसो १००
वाङ्म मनसि १००
वाच ऋक् रसः १००
वाचं देवा १०२
वानप्रस्थे वैखानस ०७६
वायुर्मेप्राणे ०५३
वायुरसि अन्तरिक्ष ०५५
वायुरनिलममृत ०५२
वायुर्वान्तरिक्ष ०४८
वायुर्वै प्राण ०४९
वासांसि जीर्णानि ५१, १७९
विद्यां चा विद्यां च २०३
विविधा ०५९

विवेकख्यातिरविप्लवा ०४५
विज्ञानसारथिर्यस्तु २२७
वेदमनूच्यानाचार्यो १३६
वेदस्योपनिषत् सत्यं ०५२
वेदान्तविज्ञान २,१३२

(श)

शक्तयः सर्वभावा ०८८
शतानि षट् दिवा २११
शतायुषः पुत्रपौत्रान् २६६
शब्दस्य परिणामोऽयं २५४
शब्दादिविषयविज्ञानं १५६
शान्तसङ्कल्पःसुमना ८७,१४२
श्रवणं तु गुरोः ००६
श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु २६१
श्रुतिसम्मतान् ००६
शृंगारहास्य २०६
श्रेयश्च प्रेयश्च ०५,१८३,१६२
श्वोभावा मर्त्यस्य ६,२११

(ष)

षोडशकलः सोम्य पुरुषः ५५

(स)

स आत्मन एव १८७
सक्तुमिव २७०
संघातपरार्थ ०४८
संप्राप्यैनमृषयो ०४६
संसारसागरं घोरं २२३
स तेभ्यस्त्रीन् १२१
सत्यकामोऽहं १६८
सत्येन लभ्य ११५,१३०
सत्यमेव जयते १०६,११५,१३०
सत्त्वपुरुषान् ०४६
सदा साक्षी १६२
सदेर्धातो २००
सदृशं त्रिषु १६१
सपर्यगाच्छु २०७
स प्राणमसृजत ६८
समान उ एवाय ६७
समाधातुं २४१
समाने वृक्षे १३१
सम्प्राप्यै न मनुष्यो १३२
स यथा ५२,१६४,१३२
स यश्चायं १२२
स यो ह वै १३१
स विश्वकृद्विश्व ८५
सर्वकार्य १६०
सर्वं खल्विदं ५५
सर्वान् वेदान १४८
सर्वे वेदा यत्पद १८५
सर्वोपनिषदो गावो ३०,२२१
स वा अयमात्मा ५५,१७५
स वेदैतत्परमं ब्रह्म १३२
स व्यतीत्य २८३
स होवाच पितरं ८७
स होवाच ८७

सा होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य ८३
सानन्तानाप्य २८०
सामविदमेवो १८७
सांकृत शृणु १५६
सिने चर्चा २५
सुकृत् वृत्ति २०५
सैन्धव घनवत् १२०
स्फोटस्याभिन्नकालस्य १६६
स्तेना हिरण्यस्य १९८
स्व च ब्रह्म च २८५
स्वर्गे लोके न भयं २०८
स्वस्तिकं गोमुखं १५९

(ह)

हकारेण बहि १५६
हंस तनौ २८३
हंस एव परं १६३
हन्ता चेन्मन्यते ०८९
हिरण्यये परे कोशे १२१

महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोध केन्द्र की स्थापना 2 जनवरी सन् 1805 में हुई थी, जिसका प्रमुख उद्देश्य जोधपुर के राजभवन में रखी हुई पुरातात्त्विक सामग्री को सुचारु ढङ्ग से संरक्षित करना था।

मेहरानगढ़ म्यूजियम ट्रस्ट के प्रबन्ध न्यासी महाराजा श्री गजसिंह जी द्वितीय के मन में साहित्य के प्रति आन्तरिक अभिरुचि तथा अपनी सांस्कृतिक विरासत के प्रति असीम निष्ठा है। अत: उन्होंने इसका सुव्यवस्थित ढङ्ग से प्रबन्धन करने की पहल करते हुए सन् 1977 में अपनी समग्र पुरातात्त्विक सामग्री को मेहरानगढ़ दुर्ग के जयपोल के निकटवर्ती एक पृथक् भवन में स्थानान्तरित करते हुए उसे **महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोधकेन्द्र** नाम दिया।

पुस्तकप्रकाश शोधकेन्द्र में पाँच हजार से भी अधिक संख्या में प्राचीन पाण्डुलिपियाँ, विभिन्न विषयों पर संस्कृत में लिखित तीन हजार ग्रन्थ एवं हिन्दी और राजस्थानी भाषा में दो हजार पुस्तकें उपलब्ध हैं।

यह शोधकेन्द्र विगत दो शताब्दियों से अपने द्वारा निर्धारित कार्यक्रमों, विचार-सङ्गोष्ठियों, व्याख्यान-मालाओं तथा संस्कृत पाण्डुलिपियों के प्रकाशन एवं **'मानप्रकाश:'** संस्कृत शोध पत्रिका के माध्यम से अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा का पूर्ण रूप से निर्वहण कर रहा है।
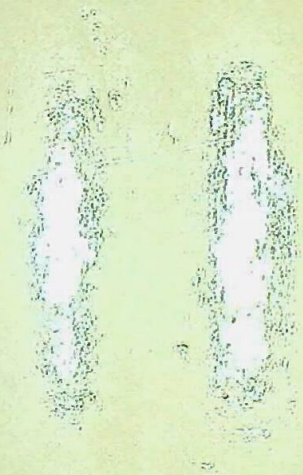
हमारा विश्वास है कि जिन पुनीत उद्देश्यों से प्रेरित होकर महाराजा मानसिंह पुस्तक प्रकाश शोधकेन्द्र की स्थापना की गई है, वे सभी इन शैक्षणिक गतिविधियों से निरन्तर नए आयामों को प्राप्त कर अपने लक्ष्य तक अवश्य पहुँच सकेङ्गे।